स्मृति और विचार

स्व. श्री. जवाहरलाल आर्य

की पुण्य स्मृति में

ओ३म्

सुश्री नन्दिता शास्त्री (व्याकरणाचार्य)

वाराणसी

सप्रेम भेंट

द्वारा -

सुभाष आर्य

सिलीगुड़ी

१९२३ **श्री जवाहरलाल आर्य** १९८
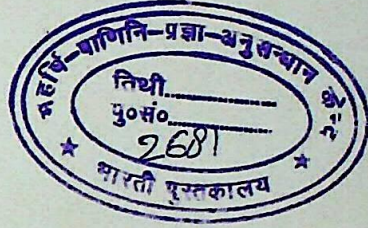
स्मृति और विचार

सम्पादक

डॉ० प्रशान्त वेदालंकार

७/२ रूपनगर, दिल्ली-११०००७

स्व० श्री जवाहरलाल जी आर्य
के सुपुत्रों द्वारा अपने
पिता की पुण्य-स्मृति में
प्रकाशित
(२२ फरवरी १९८७)

ॐ भूर्भुवः स्वः तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो

ओ३म्

देवस्य धीमहि धियो यो नः प्रचोदयात्

गायत्री मंत्र—दयानन्द

दिव्य ऋषि दयानन्द : जिसने ऋग्वेद के 'कृण्वन्तोविश्वमार्यम्' का शंखनाद किया, जिनके सिद्धान्त मानवमात्र की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करते हैं। श्री जवाहरलाल आर्य ने इनकी ज्योति से ही अपने को आलोकित किया था। गायन्त्रीमन्त्र से उनको शक्ति प्राप्त हुई थी।

वैदिक राष्ट्र-गीत

ओ३म् आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योति व्याधिः महारथो जायतां दोग्ध्री धेनुर्वोढाऽनड्वानाशुः सप्तिः पुरन्धिर्योषाजिष्णुरथेष्ठा, सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे-निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योग क्षेमो नः कल्पमाम्। (यजुर्वेद २२।२१)

वैदिक-गीतञ्जलि

ब्रह्मन स्वराष्ट्र में हों द्विज ब्रह्म तेजधारी
क्षत्रिय महारथी हों अरिदल विनाशकारी
होवें दुधारु गोवें पशु अश्व आशु वाही
आधार राष्ट्र की हों नारी सुभग सदा ही
बलवान् सभ्य योद्धा यजमान पुत्र होवें
इच्छानुसार बरसें पर्जन्य ताप धोवें
फल फूल से लदी हों औषध्र अमोघ सारी
हो योग क्षेमकारी स्वाधीनता हमारी ॥

मित्र भाव

दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे ॥
(यजु० ३६।१८)

हे सब दुःखों के नाश करने वाले परमेश्वर ! आप हम पर ऐसी कृपा कीजिए जिससे हम लोग आपस में वैर को छोड़कर एक दूसरे के साथ प्रेम से बर्ते और सब प्राणी मुझको अपना मित्र जान के बन्धु के समान बर्ते। ऐसी इच्छा से युक्त हम लोगों को सत्य, सुख और शुभ गुणों से सदा बढ़ाइये। इसीप्रकार से मैं भी सब मनुष्यादि प्राणियों को अपने मित्र जानूं और हानि, लाभ, सुख और दुःख में अपने आत्मा के समतुल्य ही सब जीवों को मानूं। हम सब लोग आपस में मिल के सदा मित्र भाव रखें और सत्य धर्म के आचरण से सत्य सुखों को नित्य बढ़ावें। जो ईश्वर का कहा धर्म है, यही एक सब मनुष्यों को मानने के योग्य है।

—महर्षि दयानन्द सरस्वती

स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ।
(हितोपदेश, नीतिशतक)

जिसके उत्पन्न होने से वंश उन्नति को प्राप्त होता है वही वस्तुतः जात (उत्पन्न) है।

ओ३म् ईशावास्यमिदꣳ सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥
(यजु० ४०।१)

जगत् में जो कुछ स्थावर-जंगम संसार है, वह सब ईश्वर के द्वारा आच्छादनीय है (अर्थात् उसे भगवत्स्वरुप अनुभव करना चाहिए) उसके त्याग-भाव से तू अपना पालन कर, किसी के धन की इच्छा न कर।

(यह मन्त्र स्व० जवाहरलाल जी को दान की प्रेरणा देता था। इसी मन्त्र ने उन्हें दानवीर बनाया।)

हम वैदिकधर्मी श्राद्ध की पौराणिक व्याख्या को अस्वीकार करते हैं। हम यह नहीं मानते कि किन्हीं विशेष दिनों में ब्राह्मणों को भोजन कराने से वह स्वर्ग में हमारे पितरों को पहुंच जाता है।

हमारा श्राद्ध अपने दिवंगत पिता को उनका श्रद्धापूर्वक स्मरण करने, उनके कर्मठ व आकर्षक व्यक्तित्व से प्रेरणा प्राप्त करने, उनके गुणों को अपने जीवन में अपनाने व उनके अधूरे कार्यों को पूरा करके सम्पन्न होता है। उन्होंने जिस मार्ग का हमारे लिए निर्माण किया है, उसी पर चलकर हम उनको अपने पास अनुभव करने का एक विनम्र प्रयास करते हैं।

महान् व्यक्ति वही नहीं हैं जो केवल समाचार पत्रों में प्रकाशित होते हैं। उनकी तुलना में अपने व्यक्तित्व का निर्माण कर अपने परिवार, समाज, राष्ट्र व मानवता की बिना किसी यशः कामना के चुपचाप सेवा करने वाला व्यक्ति उनसे भी अधिक महान् है।

—हम इस ग्रन्थ के विचार-अंश के उन महान् लेखकों के हृदय से आभारी हैं जिन्होंने अपने विद्वत्तापूर्ण लेख हमें प्रदान किये हैं।

—हम उन लेखकों के भी कृतज्ञ हैं जिन्होंने श्री आर्य जी की स्मृति का दीप इस ग्रन्थ में प्रज्वलित किया है।

—इन सब लेखों के द्वारा वस्तुतः हम स्व०. श्री जवाहरलाल जी आर्य के कार्य को करने का विनम्र यत्न कर रहे हैं। वस्तुतः यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि है।

स्व० जवाहरलाल जी आर्य के सुपुत्रों ने अपने पिता का इस स्मृति-ग्रन्थ के द्वारा वैदिक-श्राद्ध किया है। उनका सश्रद्ध स्मरण किया है। उनमें अपने पिता द्वारा प्रज्वलित दीप की ज्योति को जलाए रखने का दृढ़ संकल्प है।

-प्रशान्त वेदालंकार

क्रम

मृत्यु अवश्यंभावी है। मृत्यु काल भी है और अकाल भी। जब संसार में किसी की अकाल मृत्यु हो जाती है तब मृत्यु पर दार्शनिक चिन्तन आरम्भ हो जाता है। हमारे ऋषियों ने कहा है—

न जायते म्रियते वा विपश्चित्
नायं कुतश्चित् न बभूव कश्चित्
अजो नित्यः शाश्वतोयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे।

(कठोपदिषद्, द्वितीय वल्ली)

आत्मा तो नित्य है, शाश्वत है। शरीर मरता है, आत्मा अमर है। शरीर आत्मा नहीं है। अर्थात् मृत्यु आत्मा की नहीं होती, केवल शरीर की होती है। स्व० जवाहरलाली आर्य की आत्मा भी अमर है। वह जीवित है। यही विचार हमें शोक का अनुभव नहीं होने देगा।

प्रयाण

यद्यपि श्री जवाहरलाल जी आर्य की मृत्यु असमय हम लोगों से छीन कर चली गई, पर उनकी मृत्यु महान् थी। स्वस्थ सुन्दर शरीर में कैंसर जैसे भयंकर रोग का होना तथा मृत्यु से पूर्व ही यह पता चल जाना कि मृत्यु सिर पर आ गई है, श्री जवाहरलाल जी के चेहरे पर शिकन भी नहीं आई। वही ईश्वर विश्वास, वही मुस्कराहट, वही चिंतन, वही परिवार, समाज, राष्ट्र व धर्म की चिन्ता !

अकस्मात् उनके मित्र मृत्यु शय्या पर पड़े श्री जवाहरलाल जी से पूछ बैठे—कैसा है तुम्हारा ईश्वर, तुम जैसे सच्चरित्र व सदाचारी व्यक्ति को कैंसर जैसा रोग दे दिया, और दुराचारी तथा असंयमी रोगमुक्त होकर मौज मना रहे हैं। उन्होंने मुस्कराते हुए सहजभाव से उत्तर दिया—यह ईश्वर विश्वास की ही शक्ति है कि मैं इस कष्ट में भी मुस्करा रहा हूं। भगवान् की मुझ पर बहुत अनुकम्पा है, जिसने मुझे इस अवस्था में भी अस्थिर नहीं होने दिया।

स्व० श्री जवाहरलाल जी आर्य के अन्तिम क्षण : एक संस्मरण

(डॉ० आर० के० अग्रवाल, आरोग्य निकेतन, नर्सिंग होम, सिलीगुड़ी)

धीर, गम्भीर एवं असीम वेदना को भी पर्वत जैसे लपेटे हुए स्व० जवाहरलाल जी आर्य के मुखमण्डल पर इस तरह की मुस्कराहट एवं चमक समायी थी, मृत्यु को हँसकर उन्होंने स्वीकार कर लिया कि मानो मृत्यु इस विशाल ओजस्वी लोह पुरुष के निकट आने से डर रही थी। उनकी घातक बीमारी की पहली पहचान एवं अन्तिम अवसान दोनों ही समय मुझे एक चिकित्सक के रूप में उनसे मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। शंका नहीं, उनसे कुछ छिपा नहीं था, परन्तु इस बहुमूल्य जीवन को हर सम्भव काल तक जीने का मोह हर व्यक्ति में होता है, इसीलिए वे चिकित्सा के लिए घर छोड़ कर दूर स्थानों तक गये एवं जब यह मालूम हुआ कि अब समय निकट आ गया है तब सूर्यास्त को उन्होंने सूर्योदय का उपहार मान लिया। दुःख, चिन्ता मोह, माया एवं भय का जो वातावरण प्रायः आम व्यक्तियों में इस समय समा जाता है, इन सबका उनमें नामोनिशान न था। परिवार, आत्मीय-व्यक्तियों, सहजनों एवं चिकित्सकों से वे इस समय नम्रता पूर्वक मिले। उनकी आँखें मानो यह कह रहीं थी कि "तुम लोग मर्माहत क्यों हो? मृत्यु तो जीवन का उपहार है, राह का पड़ाव है एवं कल के लिए आज का विश्राम है। संसार तो एक मोह माया का झूठा जाल है। आज मैं जा रहा हूं। कल तुमने भी जाना है। साथ सिर्फ अच्छी करनी, वचन, धर्म एवं ईमानदारी को ले जाना है।

मृत्यु शय्या पर लेटे इस सन्त के मुखारविन्द की वाणी ने मेरी आँखों में नमी लाकर मुझे इस तरह झकझोर दिया कि मैं सिर्फ यही याददास्त बचा पाया हूं कि मैंने चाहे उन्हें कुछ नहीं दिया पर उन्होंने मुझे न चाहते हुए भी बहुत कुछ दे दिया। भगवान् उनकी आत्मा को चिर शान्ति दें।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥ (गीता २।१२)

अर्थात् ऐसा कभी नहीं था जब मैं नहीं था, ऐसा भी नहीं था जब तू नहीं था । ऐसा कभी नहीं होगा जब तू, मैं या ये नहीं रहेंगे।

महान् व्यक्ति की महान् मृत्यु !

(रत्तीराम, प्रधान आर्यसमाज, सिलीगुड़ी)

मृत्यु से दो दिन पूर्व भाई जी ने कहा था कि रत्तीराम ! सच्ची बात बताऊँ, अब मैं बच नहीं सकता । मैं अवाक् और आहत हो उठा था । अपने को नियंत्रित कर कहा था कि—भाई जी, डाक्टर ने कहा है—ठीक हो जाओगे। एक व्यंग्यात्मक मुस्कान के साथ उनका जवाब था—रत्तीराम, झूठे नारों से काम नहीं चलता और मैं खामोश हो गया था। भविष्य के कटु सत्य को उद्भासित कर दिया था भाई जी ने।

मैंने संयमित हो पुनः प्रश्न किया था, भैया! मैं तो अकेला हो जाऊंगा। विद्यालय का काम, आर्यसमाज का काम कैसे होगा ? कुछ सोचते हुए सहज भाव से उन्होंने जवाब दिया था, रत्तीराम! बहुत इच्छा थी कुछ करने की। ईश्वर ने साधन भी दिया था। किन्तु……और "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" का मन्त्रपाठ करने लगे।

मृत्यु के अन्तिम क्षण तक चेहरे की मुस्कान से ऐसा लगता था कि अब मृत्यु हार गयी है। लेकिन विधि के विधान को कौन टाल सकता है ?

मैंने अपने जीवन में अनेक व्यक्तियों को मृत्यु को गोद में सोते हुए देखा है। लेकिन भाई जी की मृत्यु ने एक अमिट छाप छोड़ी है मेरे मस्तिष्क पर।

१४ दिसम्बर १९८५ की वह काल रात्रि! मैं भाई जी के पास बैठा हूं। उनके इर्द-गिर्द परिवार के प्रायः सभी सदस्य खामोश, शब्दहीन और चुप हैं। उनकी प्रत्येक गतिविधि का निरीक्षण कर रहा हूँ। शान्त और गम्भीर चेहरे पर मुस्कान की एक गम्भीर रेखा है। अचानक शरीर में कुछ हरकत आती है। चेहरे की माँस पेशियाँ कड़ी हो जाती हैं, फिर एक हिचकी और गर्दन लटक जाती है। सब कुछ स्पष्ट हो जाता है । अपने शरीर को छोड़ वह हुतात्मा जिनका मन जलवत् निर्मल, भावना जिनकी शक्ति, दान जिनका ज्ञान, सर्मपण जिनका व्यक्तित्व और सरलता जिनका तेज था । मैं सजग होकर वेद-मंत्र पाठ करता हूं और परिवार के सदस्यों की सहायता से पार्थिव शरीर को खाट से नीचे उतार जमीन पर स्थापित कर देता हूं।
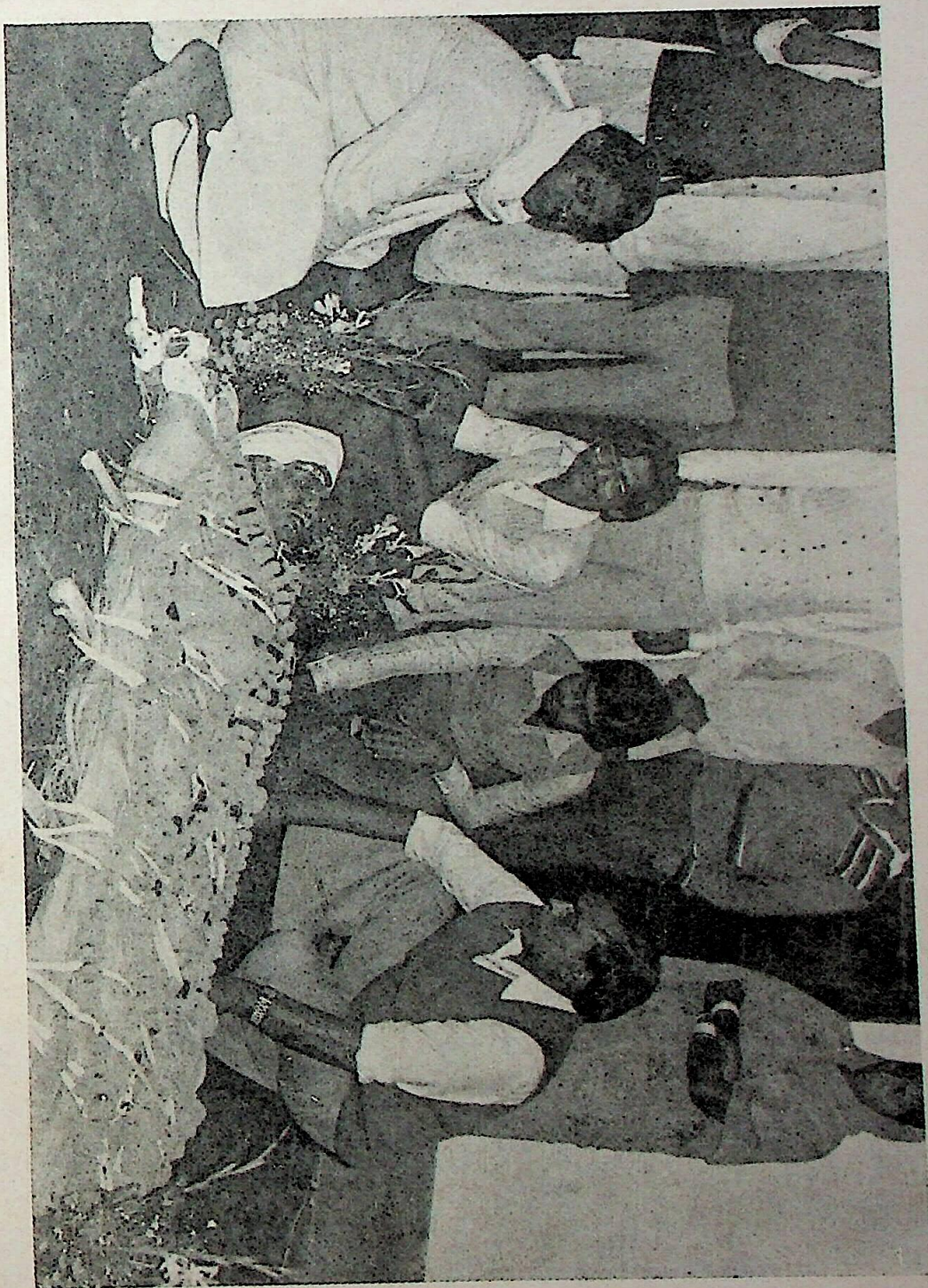
प्राण पखेरु उड़ गये, श्री आनन्द (पुत्र), सुभाष (पुत्र) कृष्ण (पौत्र) व श्री सत्यदेव (भतीजा)—
यह क्या हो गया ? की मुद्रा में

श्री रवीन्द्र ग्रौर श्री ग्रशोक (दोनों पुत्र) पिता के शरीर को कन्धा देते हुए ।

मृत्यु का हृदयद्रावक दृश्य

(सर्वेश्वर झा, मन्त्री आर्यसमाज, सिलीगुड़ी,)

वे अपने दृढ़ संकल्प और जिजीविषा के बल पर निरन्तर पाँच महीनों तक मृत्यु से संघर्ष करते रहे। इस अन्तराल में उनके चेहरे पर कभी भी पीड़ा, वेदना, क्लेश या दर्द नहीं मिला। चलचित्र की तरह आंखों के सामने घूम जाता है उनके महाप्रयाण का दृश्य। सजी हुई अर्थी। उस पर लेटा हुआ उनका पार्थिव शरीर। हम चल रहे थे उनकी अर्थी को लेकर। पीछे-पीछे शहर के संभ्रान्त व्यक्तियों का जलूस। सबके चेहरों पर गम और उदासी। रामघाट पर सूखी लकड़ियों से सजी हुई चिता। चिता पर उनके परिवार के सदस्यों द्वारा शव का स्थापन। ज्येष्ठ पुत्र श्री आनन्द के द्वारा वेद-मन्त्रों के साथ अग्निदाहन। चन्दन काष्ठकी सामिधा, घृत, कपूर नारियल केसर, कस्तूरी एवं अन्य सुगन्धित सामग्रियों से आहुति। हम निरन्तर मन्त्रोच्चार कर रहे थे–

ओ३म् प्राणेभ्यः साधिपतिकेभ्यः स्वाहा।
ओ३म् अग्नये स्वाहा
ओ३म् वायवे स्वाहा
ओ३म् पृथिव्यै स्वाह
ओ३म् अन्तरिक्षाय स्वाहा
ओ३म् दिवे स्वाहा..............आदि।

चिता को जलते हुए देखकर मैं विचलित हो उठा। मन के भीतर भी धू-धू करके जल उठी एक आग। एक अजीब शून्यता से भर गया मेरा मन और कुछ घण्टे बाद उन्हें जलाकर हारे हुए, लुटे हुए, खाली हाथ लौट आये हम!

वायुरनिलमृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम्।
ओ३म क्रतो स्मर क्लिबे स्मर कृतꣳ स्मर॥ (यजुर्वेद ४०।१५)

अब मेरा प्राण सर्वात्मक वायुरूप सूत्रात्मा को प्राप्त हो और यह शरीर भस्मशेष हो जाय। हे मेरे संकल्पात्मक मन! अब तू स्मरण कर, अपने किये हुए को स्मरण कर, अब तू अपने किये हुए को (परलोक के) सामर्थ्य केलिए स्मरण कर और अपने परमात्मा को स्मरण कर।

स्व० जवाहरलाल आर्य के प्रति !

(भीखी प्रसाद 'वीरेन्द्र', आरोग्य मन्दिर, डालमिया धर्मशाला रोड, सिलीगुड़ी)

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्यु'
जो जनमा है मरेगा
यही है सृष्टि का नियम
लेकिन मरता है केवल पार्थिव शरीर, आत्मा नहीं मरती
आत्मा तो अजर है, अमर है
वह केवल चोला बदलती है।
पुराने चोले को त्याग
धारण करती है नया चोला
इस तत्त्व को जिस तरह तुम समझे थे
बहुत कम लोग समझ पाते हैं वैसा
इसीलिए मृत्यु के पूर्व तुम थे निर्विकार
मानो मृत्यु हो सहज एक व्यापार
इस तरह स्वागत किया था तुमने मृत्यु का !
हे निष्काम कर्मयोगी !
आजीवन तुम करते रहे कर्म पूजा भाव से
फल की इच्छा त्याग।
इसीलिए
सुख दुःख से तटस्थ
निरुद्विग्न जीवन था तुम्हारा ।
इसीलिए पायी थी तुमने दिव्य कान्ति
इसीलिए दिया था तुम्हे दिव्य शरीर
इसीलिए हास्य का एवं प्रभामण्डल
सदा व्याप्त रहता था तुम्हारे आनन पर
कभी मैंने तुम्हें उत्तजित होते हुए नहीं देखा
कभी मैंने तुम्हें क्षुब्ध होते नहीं देखा
एक आश्चर्यजनक व्यक्तित्व था तुम्हारा
और एक बार भी जो तुम्हारे इस व्यक्तित्व के सम्पर्क में आया,
आर्कषित हुए बिना नहीं रहा
आज जब कि तुम नहीं हो
तुम्हारे बारे में जब भी सोचता हूं
तुम्हारे अस्तित्व का अहसास करता हूं।
ठीक उसी तरह
जिस तरह अनुभव करता हूं
हवा का अस्तित्व,
अपने चारों ओर ।

हम मृत्यु को दूर भगायें

यद्यपि मृत्यु अवश्यम्भावी है, पर हमारा लक्ष्य मृत्यु को दूर भगाना है। हमने शतपथ ब्राह्मण में 'मृत्योर्माऽमृतं गमय' का पाठ पढ़ा है। अकाल मृत्यु से हमें घबराने की आवश्यकता नहीं है। अथर्ववेद के ५।३०।१७, ७।५३।२-६ तथा ८।१।२१ मन्त्रों से मृत्यु को दूर भगाने के लिए दृढ़ संकल्प व मनोबल को ऊंचा रखने का आदेश है। आओ, हम उनसे प्रेरणा प्राप्त कर मृत्यु को दूर भगाने का संकल्प करें

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ॥
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १ ॥

यह लोक देवताओं का प्यारा है। यहां पराजय का क्या काम? तुम जिस मौत के प्रति (पराजित) संकल्पों से जा चुके हो, हम उसे (अपने वश में करके) तुम्हें वापिस बुलाते हैं। बुढ़ापे से पहले (अब) तुम मरने के नहीं।

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ सयुजाविह स्ताम्।
शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥२॥

तुम्हारे प्राण और अपान (फिर से) चलने लग जाएं (तुम्हारे) शरीर को छोड़ मत जाए। यह इसके अन्दर मिले हुए (अपना-अपना कार्य करने वाले) हों। तुम बढ़े चलो! तुम सौ वर्ष पर्यन्त जीते रहो! स्वयं (प्राणस्वरूप) अग्निदेव तुम्हारा रक्षक और सर्वोत्तम अधिपति है।

आयुर्यत्ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुरातवितम्।
अग्निष्टदाहार्निऋतेरुपस्थात् तथात्मनि पुनरावेशयामि ते ॥३॥

जो तुम्हारा जीवन निकल दूर जा पहुंचा था, मेरे द्वारा किये जा रहे उपाय से तुम्हारे प्राण और आपान पुनः तुम्हारे अन्दर लौट कर आ रहे हैं। अग्निदेव! तुम्हारे जीवन को मौत के घर लौटा आया है। अब उसे मैं तुम्हारे अन्दर भरे देता हूं।

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात्।
सप्तर्षिभ्य एनं परिददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥४॥

न इसे प्राण छोड़ें और न ही इसे आपान छोड़ कर भाग निकलें। मैं इसे सनातन सप्त-ऋषियों के सामने स्थापित कर रहा हूं ताकि वे इसे सुखपूर्वक बड़ी आयु (प्रदान करने के लिए) बढ़ाते रहें।

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम्।
अयं जरिम्णः शेवाधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥५॥

हे प्राण ! हे आपान ! आओ इस शरीर में प्रवेश करो। जैसे बैल (सूने) बाड़े में प्रवेश करके उसे आबाद कर देते हैं, ऐसे ही तुम इसमें जीवन का संचार कर दो। यह पक्की आयु भोगने वाला बने। यह नीरोग रहे। यह बढ़ता रहें।

आ ते प्राण सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते।
आयुर्नो विश्वतो दधद् अयमग्निर्वरेण्यः ॥३॥

हम तेरे अन्दर प्राण-शक्ति को लाकर भर देते हैं। हम तेरे क्षय-रोग को दूर भगा देते हैं। यह परम सनातन अग्नि देव हमें सब ओर से जीवन प्रदान करता रहे।

व्यवात् ते ज्योतिरूभदप त्वत्तमो अक्रमीत्।
अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥७॥

ले देख ! तेरा सांस चल पड़ा है। तेरी आँख की ज्योति जग पड़ी है। तेरा अंधेरा दूर भाग गया है। यह लो मौत को, दु:ख-दर्द को, रोग-शोक को तुझसे दूर ले जाकर भूमि के अन्दर हम गहरा दबाए देते हैं। (स्व० डा० प्रह्लादकुमार की वैदिक उदात्तभावनाएं से)

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित् कर्तुमर्हति ॥
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्मात् युध्यस्व भारत॥
य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते॥ (गीता २।१७-१९)

जिस आत्मा से हमारा शरीर व्याप्त है वह अविनाशी है। इस अविनाशी आत्मा का कोई नाश नहीं कर सकता। यह जो दीख रहा है वह शरीर है, उसी का अन्त होता है, आत्मा का अन्त नहीं होता। जो समझता है कि आत्मा मरता है, या यह कि मैं आत्मा को मार रहा हूं—दोनों ही अज्ञानी हैं।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः॥
अच्छेद्योऽयं अदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥ (गीता २।२३-२४)

आत्मा को कोई शस्त्र छेद नहीं सकता, कोई आग जला नहीं सकती, जल से यह गीला नहीं होता, वायु इसे सुखा नहीं सकती, यह नित्य है, सनातन है। आत्मा के लिए मृत्यु अयथार्थ है। यह शरीर है जो चला गया है।

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम् ॥
(भर्तृहरि, नीतिशतक)

इस परिवर्तन शील संसार में कौन नहीं मरता तथा कौन नहीं जन्म लेता है, किन्तु वास्तव में पैदा वही होता है जिसके जन्म लेने से कुल की उन्नति होती है। यों तो,
इस अस्थिर विश्व में हमेशा जीवों का जन्म और मरण होता ही रहता है, पर उसी का जन्म सफल है जिससे वंश की वृद्धि व उन्नति होती है।

श्रद्धांजलियां !
बस केवल श्रद्धांजलियां !

श्री जवाहरलाल जी आर्य के आकस्मिक निधन का समचार जिसने भी सुना वही स्तब्ध रह गया। वे पश्चिमी बंगाल विशेषतः सिलीगुड़ी, दार्जिलिंग, उत्तर-पूर्वी राज्यों व नेपाल के क्षेत्र में आर्यसमाज के प्रचार और प्रसार के कार्य में गतिशील थे। उनका व्यक्तिगत जीवन महान् था। उनकी अकाल मृत्यु के समाचार से उस क्षेत्र की संस्थाओं व उनके सम्पर्क में आए व्यक्तियों के पास उनके प्रति श्रद्धांजलि ही शेष थी .... ।

श्री जवाहरलाल जी आर्य भूतपूर्व प्रधान आर्यसमाज सिलीगुड़ी के साथ मेरा वर्षों का घनिष्ठ सम्बन्ध था। वे बड़े ही मृदुभाषी व आर्यत्व के धनी थे। उनकी कथनी व करनी एक थी। ऐसे व्यक्ति से मिलकर श्रद्धा से सत्यमेव ही मैं नतमस्तक हो जाया करता था। उनके निधन से उत्तर बंगाल में संगठन की अपूरणीय क्षति हुई है।

बटकृष्ण बर्मन
प्रधान
आर्यप्रतिनिधिसभा, बंगाल

आर्यप्रतिनिधिसभा बंगाल की षष्ठ अंतरग सभा आर्यसमाज सिलीगुड़ी के प्रधान श्री जवाहरलाल आर्य के निधन पर शोक प्रकट करती है तथा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करती है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति तथा सद्गति प्रदान करे एवं परिवारजन को यह आघात सहन करने की क्षमता प्रदान करे।

जगदीश प्रसाद शुक्ल
आर्यप्रतिनिधिसभा, बंगाल

आज रविवार दिनाँक १५ दिसम्बर १९८५ को आर्यसमाज बड़ाबाजार के सप्ताहिक सत्संग पर उपस्थित आर्यजन आर्यसमाज सिलीगुड़ी के प्रधान, कर्तव्यनिष्ठ आर्य श्री जवाहरलाल जी आर्य के आकस्मिक अवसान पर हार्दिक समवेदनाएं प्रकट करते हैं, साथ ही परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि दिवंगतात्मा को शान्ति एवं सद्गति दें तथा शोक संतप्त परिवार एवं आर्यजन को धैर्य धारण करने को शक्ति दें।

ओ३म् शान्तिः ओ३म् शान्तिः ओ३म् शान्तिः

खुशहालचन्द्र आर्य
मंत्री, आर्यसमाज बड़ाबाजार,
१, मुंशी नसरुद्दीन लेन, कलकत्ता-७

आर्यसमाज कलकत्ता के साप्ताहिक सत्संग के अवसर पर एकत्रित समस्त आर्यजन सिलीगुड़ी आर्यसमाज के प्रधान श्री जवाहरलाल जी आर्य का निधन, जो १४ दिसम्बर को हो गया है, शोक प्रकट करते हैं एवं परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह उनकी आत्मा को सद्गति एवं शोक विह्वल परिजन तथा आर्यजन को इस दारुण दुःख को सहन करने की शक्ति दे।

पूनमचन्द्र आर्य
मंत्री, आर्यसमाज, कलकत्ता

सत्यं तातान सूर्यः (ऋ० १।१०५।१२)
सूर्य सत्य को ही विस्तृत करता है।

गत दिनांक २२-१२-८५ रविवारीय साप्ताहिक सत्संग के अवसर आर्यसमाज दार्जिलिंग में सिलीगुड़ी आर्यसमाज के प्रधान श्री जवाहरलाल जी आर्य के आकस्मिक निधन पर शोक सभा हुई जिसमें एक मिनिट का मौन रखकर परमपिता परमेश्मर से प्रार्थना की गई कि वह दिवंगतात्मा को शान्ति एवं शोक संतप्त परिवार को दुःख सहने व धैर्य धारण करने को शक्ति प्रदान करें।

स्व० श्री जवाहरलाल जी केवल सिलीगुड़ी आर्यससाज के ही स्तम्भ न थे वरन् आर्यसमाज दार्जिलिंग के भी एक वरिष्ठ शुभचिंतक थे। उनके निधन से अपूरणीय क्षति हुई है अतः हम दार्जिलिंग आर्यसमाज के सदस्यगण उनके निधन से अति दुःखी है। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति दें।

त्रिरत्न तुला
मंत्री, आर्यसमाज, दार्जिलिंग

यह जानकर कि श्री जवाहरलाल जी आर्य का स्वर्गवास हो गया है, विद्यालय परिवार दुःखी एवं मर्माहत है।

विद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों की एक शोक सभा आज दिनाँक १६-१२-८५ को हुई जिसमें निम्नलिचिख प्रस्ताव पारित हुआ—

"आर्यविद्यालय के छात्रों एवं अध्यापकों की यह सभा श्री जवाहरलाल जी आर्य के स्वर्गवास से दुःखी एवं मर्माहत हैं। यह सभा ईश्वर से प्रार्थना करती है कि वह स्वर्गीय जवाहरलाल जी आर्य के दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे एवं उनके वियोग से दुःखी परिवार एवं समाज को धैर्य धारण करने की शक्ति प्रदान करे।"

शिवशंकर तिवारी
प्रधानाध्यापक, आर्यविद्यालय
सलकिया, हवड़ा

कल ६-१-८६ कन्या गुरुकुल पंचगांव की कार्यकारिणी की बैठक हुई जिसमें सेठ श्री जवाहरलाल जी की आकस्मिक मृत्यु पर शोक प्रकट किया गया। शोक-सभा के बाद एक शोकप्रस्ताव पारित किया गया।

श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए मन्त्री जी ने कहा कि सेठ जी एक दृढ़ आर्यसमाजी थे जो नित्ययज्ञ से दैनिक कार्य प्रारम्भ करते थे। वाणिज्य करते हुए सत्य का अवलम्बन नहीं छोड़ते थे। उनके जाने से एक पूर्ण न होने वाली कमी हो गई है। जहां आपके परिवार की हानि हुई हैं वहाँ समाज को भी एक अनन्य सेवक से वंचित होना पड़ा है। उनके जाने से हमें भी हार्दिक दुःख हुआ है।

भगवान् से प्रार्थना है कि वे आपके परिवार को दुःख को सहने की शक्ति प्रदान करे और दिवंगत आत्मा को शान्ति दें।

आपके दुःख में दुःखी
हरिसिंह
मंत्री, कन्या गुरुकुल, पञ्चगाँव, हरियाणा

सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० १०।८५।१)
सत्य से भूमि प्रतिष्ठित है।

मातृमन्दिर परिवार की सम्मिलित बैठक में सिलीगुड़ी निवासी श्री जवाहरलाल जी के आकस्मिक निधन पर हार्दिक शोक व्यक्त किया गया। आचार्या डा० पुष्पवती जी ने स्वर्गीय भाई जी के गुणों का वर्णन करते हुए कहा कि वे अति सरल, मृदु एवं जनसेवी भावना के महानुभाव थे। बहन दुर्गादेवी जी का निस्पृह स्नेह सदा मातृमन्दिर को मिला है। रुद्ध कण्ठ से उन्होंने बहन जी के दु.ख का वर्णन किया। मातृमन्दिर परिवार बहुत अधिक दुःखी है।

अन्त में सबने दो मिनिट मौन रह कर दिवंगत आत्मा को श्रद्धाजलि दी तथा विरह संतप्त परिजनों के लिए कष्ट-सहन सामर्थ्य की प्रार्थना की।

शान्ति पाठ के पश्चात् बैठक समाप्त हुई।

पुष्पावती

अध्यक्षा, मातृमन्दिर, कन्या गुरुकुल, वाराणसी

आर्यसमाज के प्रधान हमारे आर्य जी, श्री गोविन्दराम जी आर्य (देवराला) के अनुज थे। आर्यसमाज सिलीगुड़ी की संस्थापना और संचालन में देवराला की ही दूसरी विभूति श्री पं० रतीराम जी शर्मा का आपने आजीवन कन्धेसे कन्धा मिलाकर सहयोग दिया। सदा हंसमुख रहना उनका स्वभाव था। वे बड़े उदारमना भी थे। यज्ञादि नित्यकर्म के श्रद्धालु आर्य जी ने प्रिय आनन्द जी, अशोक जी, पुत्री राजरानी, सुधा जी जैसे रत्न भी हमें दिये। मात्र ६२ वर्ष की आयु में इस ऋषिभक्त की चिर-विदाई निश्चय ही कष्टकर है। प्रभु हम सभी परिजनों को सामर्थ्य सहन करने और उनके पद-चिह्नों पर चलने की क्षमता दें।

तपोभूमि (मासिक)

नजीबाबाद

आर्यसमाज सिलीगुड़ी के प्रधान श्री जवाहरलाल आर्य का निधन १४ दिसम्बर १९८५ को रात्रि १२। बजे हो गया। उनकी आयु ६२ वर्ष की थी। पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार वैदिक रीति से वैदिक विद्वान् के पौरोहित्य में शहर के सम्भ्रान्त व्यक्तियों की उपस्थिति में सम्पन्न हुआ। उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री आनन्ददेव आर्य ने अश्रुपूरित नेत्रों से चिता में आग लगायी। वैदिक मन्त्रों की ध्वनि से वातावरण मुखरित हो उठा। संस्कार के पश्चात् उपस्थित जन-समूह ने एक सभा का रूप लेकर दिवंगत आत्मा की शान्ति केलिए ईश्वर से प्रार्थना की। तीसरे दिन अस्थि-संचय के पश्चात् चौथे दिन, दिनाँक १६-१२-८५ को प्रातः १० बजे उनके निवास स्थान पर विधिवत् बृहद् हवन-मंत्र के बाद शान्ति-प्रार्थना के रूप में उपस्थित व्यक्तियों ने भावभीनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित की।

मंत्री, आर्यसमाज सिलीगुड़ी

(जनपद समाचार में प्रकाशित)

आपके पूज्य पिता जी के स्वर्गवास का समाचार पढ़कर मन को काफी आघात पहुंचा। भगवान् से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे एवं शोक संतप्त परिवार को सहन-शक्ति प्रदान करे।

प्रभु से प्रार्थना करते हैं कि आपको अधिक धैर्य एवं शक्ति दें।

वी० पी० अग्रवाल

न्यू बैंक आफ इण्डिया (हांसी)

अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति (शत० ब्रा० २।१।२।१०)
अपवित्र है वह मनुष्य जो असत्य भाषण करता है।

आर्यसमाज सिलीगुड़ी के प्रधान श्री जवाहरलाल आर्य का निधन १४ दिसम्बर १९८५ को रात्रि के १२-१५ पर हो गया। मृत्यु के समय उनकी आयु ६२ वर्ष की थीं। उनका अन्तिम संस्कार वैदिक-रीति से किया गया।

श्री जवाहरलाल आर्य 'नया आकाश' के आजीवन सदस्य थे। 'नया आकाश' परिवार की ओर से हम उनकी मृत्यु पर गहरा शोक व्यक्त करते हुए उनकी आत्मा की शांति के लिए ईश्वर से प्रार्थना करते हैं।

सम्पादक
'नया आकाश' (सिलीगुड़ी)

आर्यप्रतिनिधिसभा बंगाल की अन्तरग सभा दिनांक २२-३-८६ को अपनी षष्ठ बैठक में श्री जवाहरलाल जी आर्य (पूज्य पिता श्री आनन्ददेव जी आर्यसभा) के निधन पर शोक व्यक्त करती है तथा परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करती है कि वह दिवंगत आत्मा को सद्गति प्रदान करे एवं शोक संतप्त परिवार को शक्ति प्रदान करे कि वह स्वर्गीय श्री जवाहरलाल जी के आदर्शों पर चलता रहे।

दशरथ गुप्त
कार्यालय सचिव
आर्यप्रतिनिधि सभा, बंगाल
४२ शंकर घोष लेन, कलकत्ता-७

मुझको यह जानकर बहुत दुःख हुआ कि श्री जवाहरलाल जी आर्य का देहावसान हो गया। हमनें जीवन में केवल एक दिन उनसे बातचीत की। हमने जान लिया कि के बहुत श्रेष्ठ पुरुष हैं। ऐसे आर्यसज्जन का निधन सच में दुःखदाई है।

परमेश्वर दुःखी परिवार को दुःख के सहन करने की शक्ति दें, धैर्य प्रदान करें और सारे परिवार को सुखी और प्रसन्न रखें।

अमर स्वामी सरस्वती

हमें यह जानकर हार्दिक दुःख हुआ कि साहसी श्री जवाहरलाल जी का स्वर्गवास १४-१२-८५ को हो गया है। हम उनकी आत्मा की शान्ति के लिए परमपिता परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि उन्हें शान्ति देवें। परमात्मा की ऐसी ही मरजी थी, वहां जोर किसी का चलता नहीं।

मैं २२-१०-८५ को सिलीगुड़ी ऐयरपोर्ट में रहते हुए भी उन्हें नहीं मिल सका, सिर्फ दूर से ही उनके दर्शन कर पाया। जबकि उनसे मिलने की मेरी बहुत इच्छा थी, खैर ये सब तकदीर की बातें हैं।

मैं परमात्मा से प्रार्थना करता हूं कि उन्हें शांति बख्शें।

छोटेलाल अग्रवाल

'तपोभूमि' मासिक पत्रिका से श्री जवाहर लाल जी के स्वर्गवास का दुःखद समाचार मिला उनकी आर्यसमाज के लिए सेवाएं महान् हैं।

शरीर अनित्य है, मरणधर्मा है। आत्मा नित्य है जो शरीर का स्वामी है। स्वामी इस कष्ट को सहन करने के लिए पूरे परिवार को शक्ति एवं धैर्य-बुद्धि प्रदान करें।

सब बच्चे उनके पवित्र आर्यसमाज की सेवा के कार्य को आगे ले चलें।

वैदिक प्रवक्ता आर्य नरेश
४६, ज्ञानसदन, माडल बस्ती, दिल्ली

स्व० भाई जवाहरलाल जी आर्य से मेरा परिचय कई साल से है। जब भी वे कलकत्ता आते थे बराबर बातें होती थीं। मैं सिलीगुड़ी गया इनके घर पर ठहरा था। हवन, संध्या एक साथ बैठ कर किया करता था। कई बार वे मेरे साथ सुबह विक्टोरिया घूमने जाते थे। ट्राम में राधाकृष्ण व जय सियाराम बोलने वाले होते थे। उनको वे बड़े प्यार से समझाते थे। भाई, नमस्ते! किया करो। यही अभिनन्दन का सही शब्द है जो अर्थयुक्त भी है। अगर जपना ही है तो गायत्री मंत्र व ओ३म् का जप किया करे। उनके समझाने का ढंग बड़ा सरल होता था जिससे सुनने वाला प्रभावित हो जाता था।

अमीलाल आर्य
अमीलाल आर्य एण्ड सन्स, २०५, रवीन्द्रसरणी
(फूलकटरा) ३ तल्ला, कलकत्ता-७

मैं कैसे भूल सकूँगा मेरे अपने प्रिय पुत्रवत् भाई जवाहरलाल को जिसको मैंने अपने हाथों से पाला, पढ़ाया और सामर्थ्यवान् किया। मेरे लिये यह शोक असहनीय है।

गोविन्दराम आर्य
देवराला

श्री जवाहरलाल जी आर्य के आकस्मिक निधन का समाचार सुनकर मैं स्तब्ध रह गया। श्री जवाहर जी का एक समर्पित व्यक्तित्व था और वे स्थानीय आर्यसमाज के प्रतिबद्ध नेता थे। वे सिलीगुड़ी आर्यसमाज के एक संस्थापक सदस्य थे। उनका जीवन सिद्धान्तों व संस्था के विचार व मूल्यों पर आधारित था। उनके जाने से आर्यसमाज के क्षेत्र में रिक्तता उत्पन्न हो गयी है।

मैं उनके आत्मा की शान्ति केलिए प्रार्थना करता हूँ।

डॉ आलोककुमार पाल देशबन्धु गुप्ता
सिलीगुड़ी

ऋतस्य शुङ्गमुर्विया वि पप्रथे (ऋ० ८।८६।५)
ऋत के सींग संपूर्ण पृथ्वी पर फैले हुए हैं।

आज दिनांक १५-१२-८५ दिन रविवार को साप्ताहिक सत्संग के पश्चात् एक शोक सभा श्री सत्यनारायण जी अग्रवाल की अध्यक्षता में हुई जिसमें निम्नलिखित शोक प्रस्ताव पारित हुआ।

आज की यह शोक-सभा प्रसिद्ध आर्यसमाजी कार्यकर्त्ता, समाजसेवी व आर्यसमाज सिलीगुड़ी के प्रधान श्री जवाहरलाल जी आर्य के आकस्मिक निधन पर गहरा शोक व दुःख प्रकट करती है एवं परमपिता परमात्मा से प्रार्थना करती है कि दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करे व शोक संतप्त परिवार को धैर्य्य धारण करने की क्षमता दे। परमपिता परमात्मा उनके सुपुत्रों को उनके द्वारा बताए गये मार्ग पर चलने की प्रेरणा दें व उनके अधूरे कार्यों को पूर्ण करने की क्षमता दें।

पुरुषोत्तम लाल सर्राफ
उपमंत्री, आर्यसमाज, हवड़ा
३८, क्षेत्र मिल लेन, सलकिया, हवड़ा

श्री जवाहरलाल जी आर्यसमाज के एक कर्मठ कार्यकर्त्ता, सिद्धान्तों के मर्मज्ञ तथा उदारचेता मानव थे। उनका सम्पूर्ण जीवन पवित्र था। उनके मन में आर्यसमाज के प्रति अटुट-विश्वास एवं उसके संस्थापक महर्षि दयानन्द के प्रति अगाध श्रद्धा थी। वह सिलीगुड़ी आर्यसमाज के तो प्राण ही थे। वह नगर के अति निकट पास के क्षेत्रों में वैदिकधर्म का प्रचार करने और कराने में सदा लगे रहते थे। सच कहा जाय तो वह सफेद वस्त्रों में एक आदर्श कर्मयोगी थे। उनका जीवन स्तुत्य एवं अनुकरणीय था।

आर्यभिक्षु
५०, आर्य वानप्रस्थआश्रम
ज्वालापुर (हरिद्वार) उ० प्र०

यह जानकर मुझे अति कष्ट हुआ कि आदरणीय जवाहरलाल जी हमारे बीच नहीं रहे और उनकी अब हम कभी नहीं देख सकेंगे। प्रधान जी से मेरा आध्यात्मिक सम्बन्ध था। जब मैं सिलीगुड़ी प्रथम बार गया तो उनके साथ एक सप्ताह रहने का मुझे अवसर मिला। प्रातः ४ बजे से रात्रि दस बजे तक वे निरन्तर मेरे साथ रहे। स्वाध्याय, सत्संग एवं साधना में उनकी विशेष रुचि थी। हर समय प्रसन्नचित्त रहते थे। सिलीगुड़ी में आर्यसमाज निर्माण में उनको विशेष भूमिका रही। जवाहरलाल जी को आर्यसमाज की विचारधारा विरासत में मिली थी। देवराला (भिवानी) हरियाणा में आपके अग्रज श्री गोविन्दरामजी प्रसिद्ध आर्यसमाजी हैं। जवाहरलाल जी सदैव याद रहेंगे।

स्वामी इन्द्रदेश
आर्यसमाज मन्दिर
शक्ति नगर, दिल्ली

ऋतस्य पथि वेधा अपायि (ऋ० ६।४४।८)
सत्य के पथ में परमात्मा रक्षा करते हैं।

आर्यसमाज सिलीगुड़ी का महान् योद्धा

जवाहरलाल जी आर्य के स्वर्गवास का दुःखद समाचार जानकर मन को कष्ट हुआ। अधिक देर तक मन यह मानने को तैयार नहीं था कि यह मृत्यु हमारे प्रधान जी को निगल गई होगी। उनका स्वास्थ्य, उनका रहन-सहन व उनके विचारों को देखकर मैं क्या कोई भी शीघ्र इस घटना को मानने केलिए तैयार नहीं होगा। आज जब मैं यह लिख रहा हूँ उनका वह प्रसन्नचित्त मुख उनका कहकहे लगाकर हँसना, आर्यसमाज की किसी योजना को गम्भीरता से विचार करके बताना, मेरी आँखों के सामने प्रत्यक्ष हो रहा है। ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे वे यहीं कहीं उपस्थित हों। मगर इसे सत्य न जानकर मन दुःखी हो रहा है। आर्यसमाज सिलीगुड़ी का एक महान् योद्धा अब हमारे बीच नहीं रहा, यह कमी हम सब को बराबर खलती रहेगी। पर मुझे सन्तोष है कि उनकी सन्तानें आदर्श पिता के सिद्धान्तों का पूर्ण पालन कर रही हैं। हम सब में से किसी ने नहीं सोचा होगा कि इतनी जल्दी श्री जवाहर जी हमको छोड़कर चले जायेंगे। परमपिता परमेश्वर से मेरी प्रार्थना है कि वह दिवंगत आत्मा को शान्ति प्रदान करें।

सूबेदार वेंकटेश आर्य
३६-१६, वीरनिवास, डिफेंस कालोनी
पो० सैनिकपुरी, सिकन्द्राबाद
(आन्ध्र प्रदेश) फोन० : ५००५६४

सदैव प्रसन्नचित्त रहना तथा हँसते हुए बातें करना, आर्यजी की विशेषता थी, जो प्रायः सबके दिलों पर एक गहरी छाप छोड़ गयी है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वे हँसी की प्रतिमूर्ति थे। इसके अतिरिक्त आप सत्यनिष्ठ, धर्मप्रेमी, प्रियाचरण वाले, ईश्वरभक्त व आर्यसमाज के परमदीवाने थे। आर्यसमाज के सिद्वान्त उनके रग-रग में समाए हुए थे।

स्व० जवाहरलाल जी बड़े ही गम्भीर एवं विचारशील व्यक्ति थे। वे अपनी किसी बात को दूसरों पर बलात् थोपते नहीं थे, वल्कि उनके समझाने की शैली इतनी सरल एवं प्रभावोत्पादक थी कि लोग सहज ही उनकी बातों को मान लेते थे।

क्या ही उच्च विचार थे उनके ! यदि दुनियां उनके इस विचार पर चल पड़े तो मेरा विचार है कि दुःख-दरिद्रता को दुनिया में ठौर न मिलेगा। उनके इस सुविचार से मैं पूर्ण-प्रभावित हूं। उनके आदर्शों को अपने जीवन में उतारने का सत्प्रयत्न करूँगा, यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धान्जलि होगी।

सन्तप्रसाद आर्य
उपमन्त्री, आर्यसमाज, बड़ाबाजार
कलकत्ता-७

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कतः (ऋ० ९।७३।६)
सत्य के मार्ग को दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।

हाम्रा पूज्य एवं मान्यवर ऋषि दयानन्द का महान पथप्रदर्शक समाजर धर्म का सच्चा प्रहरी राष्ट्र (हिन्दुस्थान) का वरिष्ठ व्यक्तित्व श्री जवाहरलाल ज्यू की असामयिक निधनले हामी समस्त नेपाल स्थित आर्यसमाज का सवै वर्गमा अतुलनीय शोकविह्वल भएकोछ। वहाँ को निधव वाट समाजले निकै ठूलो व्यक्तित्व को अभावर खांचो महशूश गरेकोछ। समाज का प्रधान मात्र...............वैदिक शक्तिलाई संसार सम्म आर्यसमाज को माध्यम वाट प्रज्ज्वलीत गराउन मा वहाँको जे जति सक्रयता प्रदर्शित थियो त्यो अपार शक्ति अम्मे पनि समस्त व्यक्तिमा स्पष्ट रहिरहोस अम्मे हामी चाहान्छौं। यस प्रकार का हाम्रा होनाहार धर्मप्रेमी स्व० जवाहरलाल जी लै आफू आत्म शान्ति लिएर अमर रहन ईश्वरोय शक्तिर शान्ति मिलोस मिलोस मन्दै श्रद्धाञ्जली का अपार फूल का गूच्छा अर्पण गर्न चाहान्छौ। साथै वहाँ का धर्मपत्नी एवं शोकाकूल परिवार का सम्पूर्ण सदस्यमा शहन गर्न धैर्यता को लागि ईश्वरले शक्ति प्रादन गरून मन्दै पारिवारिक संवेदनाका अतिरिक्त स्वर्गीय आत्मालाई चीर शान्ति मिलोस.......... कामना..............।

श्रीमती गंगादेवी पाठक
श्री विष्णु शिवाकोरी, मदन पाठक
(सम्पूर्ण आर्य परिवार), नेपाल

आज नवीन भाई से सुनकर बड़ा दु:ख हुआ कि श्री जवाहरलाल जी नहीं रहे। भगवान् की लीला के आगे किसी का जोर नहीं है। ताऊजी का हमारे ऊपर काफी स्नेह था। आज हमारे दु:ख का पार नहीं, एवं उन्हें प्रकट करने आज शब्द नहीं है, पर ऊपर वाले के सामने किसी का जोर नहीं है।

आप सभी इस मौका पर धीरज रखें। एवं ताईजी एवं अन्य सभी को धैर्य बनाये रखे।

हमारी तरफ से भी ताईजी को समवेदना प्रकट करें। अब सभी पर जिम्मेवारियां काफी ज्यादा आ गई है।

बाबुलाल श्रीमाल
८९, नेताजी सुभाष रोड
कलकत्ता-१

सत्यमेव देवा: (शत:० ब्रा० १।१।४)
सत्य ही देवता है।

यूयं वयं वयं यूयमित्यासीन्मतिरावयोः ।
किं जातमधुना मित्र ! यूयं यूयं वयं वयम् ॥

कभी तुम हम थे और हम तुम थे—दोनों में कोई भेद नहीं था। परन्तु हे मित्र ! अब क्या हो गया कि तुम तुम बन गए और हम हम रह गये।

संस्मरण और स्मृतियां !

श्री जवाहरलाल जी आर्य के दिवंगत होने पर उनके सम्पर्क में आए आर्यसमाज के पण्डित व विद्वान् उनके अभाव में एक रिक्तता का अनुभव करने लगे। उनके साथ व्यतीत किये क्षणों को लिपिबद्ध करके वे मानो उनसे सान्निध्य का अनुभव कर रहे हैं.........।

श्री जवाहरलाल आर्य : संक्षिप्त जीवन परिचय

(अशोक आर्य, दुर्गा एण्टरप्राइजेज, गोहाटी)

भारत देश के जिस भूभाग को जवाहरलालजी जैसे मनस्वी एवं स्वाधीन-चेता पुरुष को जन्म देने का गौरव प्राप्त हुआ, वह हरियाणा का एक ग्राम है जो देवराला के नाम से प्रसिद्ध है। उनका जन्म पौष बदी विक्रम सम्वत् १९८१ में हुआ था। वे अपने माता-पिता की सबसे छोटी सन्तान थे। गाँव के उन्मुक्त वातावरण में आर्थिक रूप से निश्चिन्त परिवार के सबसे लाडले इस पुत्र ने सं० १९९१ तक की अपनी प्राथमिक शिक्षा-दीक्षा गाँव में ही पूर्ण की। पढ़ने में शुरु से ही तेज इस छात्र को आगे की पढ़ाई केलिए भिवानी भेजा गया, जहाँ वह सं० १९९५ तक रहा। इस बीच उनके पिताश्री का साया उनके सर से उठ गया; लेकिन सबसे बड़े भाई ने अत्यन्त स्नेह के साथ उनके ऊपर पिता-तुल्य वरदहस्त बनाये रखा। अपने भाइयों के अभिभावकत्व में उन्होंने सं० १९९७ तक पिलानी में पढ़ाई की। उनके मेधावी होने के कारण सरकार ने उन्हें दसवीं की पढ़ाई के लिए छात्रवृत्ति प्रदान की थी। गाँव के ही नहीं, गाँव के आस-पास के क्षेत्र से भी लोग इस पढ़े-लिखे होनहार नवयुवक से तार आदि पढ़वाकर लाभान्वित होते थे।

सं० १९९७ में १६ वर्ष की अल्पायु में वे विवाह के बन्धन में बँध गये व श्रीमती दुर्गादेवी ने जीवन-साथी के रूप में उनके जीवन में पदार्पण किया। तब तक उन्होंने आपसी सहमति से अपने आर्थिक अस्तित्व का अलगाव स्वीकार कर लिया था, लेकिन यह बँटवारा तीनों भाइयों के आपसी प्रेम में कोई कमी न ला पाया। धनोपार्जन का प्रथम चरण उन्होंने सं० १९९८ के ४ महीने दिल्ली में पूर्ण किया। लेकिन उस उन्मुक्त व्यक्तित्व को नौकरी का बन्धन रास नहीं आया। और २००६ तक क्लाथ मिल में नौकरी तक उन्होंने अपने गाँव में ही व्यापार किया।

इस दौरान गाँव में उन्हें ताश आदि व्यसनों की भी आदतें पड़ गई, परन्तु बहुत जल्द ही बड़े भाई गोविन्दरामजी की आर्यसमाजी विचारधारा से प्रभावित हुए व इन व्यसनों के कुपरिणामों से अवगत होकर उनको आमूल त्याग किया। फिर वे आजीवन इन व्यसनों का डटकर विरोध करते रहे। उनकी विचार-धारा जब बदली तो उनके कुछ साथी भी उनके सहयोगी के रूप में सामने आये। जब उनके इन क्रान्तिकारी विचारों से उद्वेलित होकर अन्य ग्रामवासी उद्विग्न हुए तो एक बार वे उन्हें ललकारने लगे कि अगर वे इस प्रकार स्वामी दयानन्द की विचारधारा से प्रभावित हैं, तो एक चमार के हाथों जल पीकर दिखावें। उन नवयुवकों ने बड़ी शान्ति से यह कर दिखाया। इससे ग्रामवासियों में उनके प्रति रोष के कारण एक तूफानी हलचल का वातावरण तैयार हुआ; परन्तु वे अपने सिद्धान्त पर अडिग रहे।

यद्यपि गाँव के व्यापार से साधारण व्यक्ति की सन्तुष्टि हो सकती थी, लेकिन जवाहरलालजी के भविष्य का अन्यतम निखार होना था। हमेशा एक नई मंजिल की चाह उन्हें सिलीगुड़ी तक ले आई और सं० २००७ में उन्होंने यहाँ अपना व्यापार एक दूकानदारी से शुरू किया।

य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः (अथर्व० ९।१०।१)
जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं वे मोक्षपद पाते हैं।

परन्तु दुर्भाग्यवश अगले ही साल सं० २००८ में वह दूकान एक अग्निकाण्ड में जलकर स्वाहा हो गई। कहते हैं, सफलता अपने से पहले अपनी बहन असफलता को व्यक्ति के धैर्य की जाँच केलिये भेजती है ताकि उसे धैर्यवान् व्यक्ति ही मिले; यह अग्निकाण्ड भी जवाहरलालजी की कठिन परीक्षा सिद्ध हुई। उनके परिवार के अन्य सदस्य व शुभचिन्तकों ने इस घटना के बाद अब और सिलीगुड़ी में न रहने की सलाह दी। यह सलाह उनकी इस धारणा पर अवलम्बित थी कि उनके ही परिवार को इसीप्रकार का अशुभ अनुभव सिलीगुड़ी में ही हुआ था। लेकिन उन्होंने इस अवधारणा का डट कर विरोध किया व सिलीगुड़ी में ही नये सिरे से व्यवसाय शुरु किया। जवाहरलाल जी के धैर्यपूर्ण उदात्त व्यक्तित्व के कारण ही आगे हर क्षेत्र में उन्हें सफलता वरण करती चली गई।

व्यावसायिक सफलता से वे भौतिक उन्नति के कई आयाम पूर्ण करते रहे, लेकिन साथ-साथ आध्यात्मिकता के प्रति उनका अनुराग उन्हें समाज में एक रचनात्मक आन्दोलन करने की प्रेरणा देता रहा। वे अपने अन्यतम मित्र श्री रतिराम शर्मा के साथ प्रायः इस सम्बन्ध में चर्चा करते रहते थे। और परिणामतः सन् १९६५ में आर्यसमाज की स्थापना के रूप में आपकी परिकल्पना साकार हुई। श्री रतिराम शर्मा ने उपमंत्रित्व का व जवाहरलालजी ने कोषाध्यक्ष व उपप्रधान का कार्यभार लेकर अपने रचनात्मक कार्यक्रम को आगे बढ़ाया।

आपने आर्यसमाज की स्थापना के बाद १९७३ तक समय-समय पर धार्मिक गोष्ठियों, भजनोपदेशों आदि का आयोजन कर धीरे-धीरे एक लहर पैदा की जो आर्यसमाज के प्रति सामाजिक सहयोग बढ़ाने में बड़ी सहायक रही। सन् १९७३ में पहली बार आर्यसमाज के वार्षिक समारोह का आयोजन किया गया जिसमें स्थानीय व बाहर के विद्वद्गण ने अपने मधुर वचनों से इस रचनात्मक आन्दोलन की सार्थकता को प्रोत्साहित किया। वार्षिक जलसों का कार्यक्रम जहाँ स्थानीय लोगों में एक चेतना जगाने में सहायक रहा; आसपास के लोग भी आर्यसमाज के प्रति आकृष्ट होने से नहीं रुक पाये। इससे समय-समय पर जवाहरलालजी की अध्यक्षता में आस-पास के क्षेत्रों में भी आर्यसमाज की स्थापना की गई। वे स्वयं प्रतिवर्ष आस-पास के क्षेत्रों में वेद सप्ताह का आयोजन कर धर्म प्रचार करते थे। आर्यसमाज में उनकी अहम् भूमिका व उनके उदात्त व्यक्तित्व के कारण वे १९७७ से १९८० तक प्रधान, १९८० से १९८३ तक संरक्षक और फिर १९८३ से मृत्युपर्यन्त संरक्षक व प्रधान के रूप में मनोनीत रहे। वे केवल सिलीगुड़ी आर्यसमाज के कार्यक्रमों में ही दिलचस्पी नहीं रखते थे बल्कि बाहर की शाखाओं से भी उनका बड़ा अच्छा सम्बन्ध था। आर्यसमाज के रचनात्मक कार्य में संलग्न कई महान् विद्वानों जैसे पं० प्रियदर्शनजी, प्रेमभिक्षुजी, स्वामी इन्द्रवेशजी, आर्यभिक्षुजी व पं० उमाकान्त उपाध्याय से उनके बड़े मधुर सम्बन्ध थे। अखिल भारतीय स्तर के आर्यसमाज के महासम्मेलनों में उन्होंने मथुरा, अलवर, दिल्ली एवं शताब्दी-समारोह पर अजमेर जाकर तन-मन-धन से अपना सहयोग दिया।

सिलीगुड़ी में स्थानीय अग्रसेन भवन में प्रारम्भिक काल में एक कमरे का निर्माण करना उनके सामाजिक सहयोग की भावना का द्योतक है। आर्यसमाज के माध्यम से गरीब छात्रों को छात्रवृत्ति उनकी गरीबों के प्रति उदारता दर्शाती है। अन्य प्रत्येक विवेकशील सामाजिक उद्यमों—

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्कायदेयाम् (ऋ० ८।१।५)
हे ईश्वर ! मैं तुझे किसी कीमत पर भी न छोड़ूं।

जैसे स्थानीय स्कूल, गौशाला आदि में आप तन-मन-धन से हमेशा सहयोगी रहते थे। अपनी सामाजिक सक्रियता के कारण वे स्थानीय समाज में बड़े प्रसिद्ध हुए परन्तु वे इसका सम्पूर्ण श्रेय आर्यसमाज को देते थे। स्वामी दयानन्द के प्रति उनकी आस्था बड़ी गहरी थी व उनके द्वारा प्रतिपादित दिनचर्या से ही वे अपना जीवन-यापन करते थे । इसी दिनचर्या के परिप्रेक्ष्य में जब वे यज्ञ करते थे तो अपनी गौएं न होने से बड़े दुःख का अनुभव करते थे ; उन्हें एक कमी का अहसास होता था। लेकिन पिछले तीन-चार सालों से वे अपनी गउएं रखने लगे थे। दैनिक यज्ञ के समय प्रातःकाल जब उनके मंत्रोच्चार की ध्वनि पर गउएं रम्भाती थीं तो उनके चेहरे पर एक संतुष्टि का भाव नजर आता था। वास्तव में स्वामी दयानन्द द्वारा निर्देशित जीवन-यापन करने में इन गउओं से उन्हें पूर्णता का आभास होता था। गउओं के प्रति उनकी आस्था इतनी थी कि वे अन्य किसी पर निर्भर न रहकर चारा आदि खिलाने का कार्य अपने निर्देशन में करवाते थे। गउओं के दूध के प्रति भी उनका बड़ा लगाव था; एक आस्था थी । प्रातःकालीन वेला में गऊ के शुद्ध दूध का पान कर वे भगवान् को कोटिशः धन्यवाद देते थे कि उन्हें यह अमृततुल्य द्रव्य उपलब्ध हुआ। इस प्रकार दैनिक यज्ञ एवं गोसेवा कर वे अपने जीवन की पूर्णता समझते थे।

वे जीवन में मनुष्य के विवेक को बड़ा महत्त्व देते थे । अपने प्रत्येक कार्य में विवेकशिलता का परिचय दिया करते । सुबुद्धि व दृढ़संकल्प का सम्मिश्रण उन्हें अपने जीवन की ऊँचाइयों तक पहुँचाने में सफल रहा । अप्राकृतिक व गलत बातों को वे किसी भी स्थिति में स्वीकार तो करते ही नहीं थे, उनका प्रतिकार करने से भी नहीं चूकते थे। एक विशेष घटना इस सम्बन्ध में याद आती है। घटना के उस अनुभव का यहाँ उल्लेख करना अनुचित न होगा। एक बिक्रीकर इन्स्पेकटर एक दिन अपनी सामान्य निरीक्षण की प्रक्रिया के दौरान जवाहर लाल जी की दूकान पर आया था। वह अपनी बातों के साथ सिगरेट के धूएँ का प्रयोग कर रहा था, जो जवाहरलाल जी यह वहुत अखरा। उन्होनें विभिन्न दृष्टिकोणों से उस अधिकारी को उस व्यसन के कुपरिणामों से अवगत करवाया। निरीक्षक महोदय वास्तव में उनके वचनामृत से बहुत प्रभावित हुए, लेकिन उस दिन अन्यमनस्कता के साथ लौट गये और अचानक एक दिन वह जवाहरलाल जी के पास आये। कृतज्ञता के अश्रुकणों से सराबोर आखों एवं गद्गद् मन से वह धन्यवाद देने लगे कि उनके प्रभाव के कारण ही वह उस दिन तक सिगरेट के धुएं के बिना अर्थात् प्राकृतिक जीवन जीना सीख गये थे। इसप्रकार के उदाहरण उनके जीवन में अनेक आते हैं।

अपने जन्मस्थान के प्रति उनका अनुराग वहाँ कई शुभ-कार्यों में उनका आर्थिक व आध्यात्मिक सहयोग द्वारा सिद्ध होता है। वहाँ के एक छात्रावास के निर्माण व धर्मशाला के नवीकरण में उन्होंनें आर्थिक सहयोग देकर अपनी उदारता का परिचय दिया। गाँव में पीने के जल की बड़ी असुविधा थी जिसके निस्तारण केलिए गांव में अपने ही कुएँ पर एक पम्पसेट व जल-संग्रह के लिए एक विशाल टैंक के निर्माण में जवाहरलाल जी ने अपने दोनों भाइयों के साथ मिलकर सहयोग कर जलवितरण की व्यवस्था की ।

पंच-महायज्ञ को जवाहरलाल जी ने बड़े व्यावहारिक रूप में अपने जीवन में ढाला था। प्रातः उठते ही पक्षियों को दाना डालना, संध्या-यज्ञ का सम्पादन, बड़े बुजुर्गों का आदर करना, विद्वानों का सम्मान व अतिथि का सत्कार करना ये उनकी गुणगत विशेषताएँ थीं।

तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योः (अथर्व० १०।८।४४)
उसी ब्रह्म व आत्मा को जान लेने पर मनुष्य मृत्यु से नहीं डरता।

जवाहरलाल आर्य : एक समर्पित व्यक्तित्व

(अमृतलाल गुप्त, भिवानी, हरियाणा)

फूल खिला इक जिसकी खुशबू से सारा बगीचा महक उठा था।
हाय! किया क्या तूने माली, क्यों उस फूल को तोड़ लिया था?

बागों में फूल खिलते हैं, खुशबू भी देते हैं और अन्त में मुरझा भी जाते हैं, यह प्रकृति का नियम है। परन्तु यदि महकते हुए फूलों को माली तोड़ ले जाए तो बगीचा बेरौनक हो जाता है। यही कुछ हुआ श्री जवाहरलाल जी आर्य की अकाल मृत्यु के कारण।

सं० १९८२ वि० में पिलानी में बिड़ला स्कूल से मैट्रिक की परीक्षा समाप्त करके श्री जवाहरलाल जी आर्य ने सं० २००७ वि० में सिलीगुड़ी (प० बंगाल) में व्यापार आरम्भ किया। वे देवराला (हरियाणा) के निवासी थे, परन्तु हरियाणा उन दिनों एक बहुत पिछड़ा हुआ प्रदेश था। यहाँ व्यापार के साधन बहुत सीमित थे। हरियाणा के बहुत कम व्यक्ति घर छोड़कर अन्य स्थानों पर कारोबार अथवा नौकरी करने के इच्छुक होते थे। उस समय युवक जवाहरलाल ने गाँव में रहकर अपना भविष्य बिगाड़ने की अपेक्षा बाहर जाकर कारोबार करने का निर्णय लिया और सिलीगुड़ी जाकर अपना कारोबार आरम्भ किया। प्रारम्भिक वर्षों में बहुत संघर्ष करना पड़ा। एक बार तो माल से भरी हुई दूकान जलकर स्वाहा हो गई। माल भी गया और दूकान भी गयी। ऐसे अवसर कोई भी साधारण व्यक्ति दिल छोड़ बैठता। परन्तु जवाहरलाल दृढ़निश्चय का धनी था। उसने हिम्मत न हारी और फिर से अपना कारोबार चालू किया। हिम्मत फल लाई और अबकी बार कारोबार दिन दुगुना और रात चौगुना फूलने फलने लगा। अन्त में श्री जवाहरलाल आर्य का नाम सिलीगुड़ी के बड़े-बड़े व्यापारियों में गिना जाने लगा।

व्यापारिक सफलता श्री जवाहरलाल जी के अनेक गुणों में से केवल एक गुण समझना चाहिए। वे कई गुणों के धनी थे। प्रायः देखा गया है कि व्यापारी लोग अपनी दिन-चर्या का ध्यान नहीं रख पाते। परन्तु जवाहरलाल जी अपनी दिनचर्या को नियमित और सात्विक रखने के बहुत पाबन्द थे। गर्मी हो अथवा सर्दी प्रातः जल्दी उठना उनका नियम था। नित्यकर्म करके सैर को जाना, फिर स्नान आदि के बाद संध्या-हवन करना उनकी दिनचर्या में सम्मिलित थे। आजकल के लोगों की भाँति वे टूथ-ब्रश और मञ्जन का प्रयोग नहीं करते थे, अपितु कीकर की दातून करते थे। कहीं सफर पर जाते, तो उनके झोले में कीकर की दो चार दातून अवश्य होती थी।

जवाहरलाल जी के खानपान में भी सादगी और स्वच्छता थी। कहते हैं बंगाल में लोग चायपान को बहुत महत्त्व देते हैं और बंगाल में रहने वाले को चाय का सेवन अवश्य करना पड़ता है। परन्तु जवाहरलाल जी इतने लम्बे समय तक बंगालवास करने पर भी चाय के सेवन से बचे रहे। वास्तव में उन्हें सब प्रकार के नशीले पदार्थों से घृणा थी। चाय, तम्बाकू, सुरा कोई भी नशीला पदार्थ किसी भी रूप में उनके नजदीक नहीं फटकते थे। और तो और बेचारा पान भी उनके नजदीक नहीं फटका और न अधिक मिर्च मसालों का उन्होंने कभी सेवन किया। दूध, घी, मक्खन, मलाई उनको प्रिय थे और जवाहरलाल जी जी भरकर इन पदार्थों का प्रयोग किया करते थे। ऐसा था जवाहरलाल जी का सात्विक खान-पान और रहन-सहन।

सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दो० ३।१३।१)
यह सारा (दृश्यमान जगत्) ब्रह्म ही है।

आर्यसमाज की विचारधारा उनका प्रेरणा स्रोत था। वे बाहर और भीतर दोनों तरफ से आर्यसमाजी थे अर्थात् अन्दर से आर्यसमाज के सिद्धान्तों में दृढ़ विश्वास रखते थे और बाहर से उन सिद्धान्तों को अपने जीवन में उन पर अमल किया करते थे। मैं ऐसे बहुत से आर्यसमाजियों को जानता हूँ जो अपने आपको कट्टर आर्यसमाजी कहते रहते हैं लेकिन उनके दैनिक जीवन और कार्यकलापों में आर्यसमाज के सिद्धान्त धरे रहते हैं। परन्तु जवाहरलाल जी के जीवन में ऐसी बात नहीं थी। वे जितना कहते थे उतना करते भी थे। वे तन, मन और वचन तीनों से आर्यसमाजी थे। उनका पूरा जीवन आर्यसमाज की विचार धारा से सराबोर था।

अपने व्यापार को लगन के साथ चलाते हुए जवाहरलाल जी आर्यसमाज की सेवा भी साथ-साथ उसी लगन के साथ करते रहते थे। उन्होंने सिलीगुड़ी में आर्यसमाज का प्रचार व प्रसार किया। इसीलिए उनको सिलीगुड़ी आर्यसमाज का प्रधान बनाया गया। यह उनकी सेवा और लगन का ही फल था कि एक बार आर्यसमाज का प्रधान बनने के बाद सारी आयु आर्यसमाज के प्रधान बने रहे।

ईश्वर की लीला कितनी विचित्र है। अपने सात्विक रहन-सहन और शुद्ध खान-पान के कारण जवाहरलाल जी कभी बीमार नहीं पड़े, कभी डाक्टरी दवा उन्होंने नहीं खाई। परन्तु अचानक जो रोग लगा तो वह था कैंसर। उनके परिचितों को कभी स्वप्न में भी यह विश्वास नहीं हो सकता था कि ऐसे सात्विक जीवन वाले व्यक्ति को भी कैंसर का रोग लग सकता है। परन्तु जो कुछ हुआ उससे इन्कार भी कैसे किया जा सकता है। मेरी मान्यता यह है कि प्रत्येक आत्मा जब शरीर धारण करती है तो उस शरीर का एक निश्चित जीवनकाल रहता है। उसके बाद आत्मा उस शरीर का त्याग देती है। शरीर त्याग का कारण कोई भी हो सकता है। बीमारी भी अनेक कारणों में से एक कारण है। शुद्ध सात्विक जीवन वालों को भी बीमारियाँ लगती हैं। आचार्य विनोबा भावे का जीवन बहुत ही शुद्ध और सात्विक रहा था। परन्तु फिर भी उनके पेट में फोड़ा हो गया था जो कि जीवन भर उनको कष्ट देता रहा। परन्तु महापुरुष शारीरिक कष्ट को कष्ट नहीं मानते हैं। गाँधीजी को भी पेट में कीड़ों की शिकायत थी। इसीलिए वे दूध के साथ लहसुन का प्रयोग किया करते थे। सारांश यह कि सात्विक जीवन वाले व्यक्ति को बीमारी नहीं लगेगी यह कोई नियम नहीं है। अतः सात्विक रहन-सहन और खान-पान वाले जवाहरलाल आर्य को कैंसर की बीमारी क्यों लगी—इस पर अधिक विचार करने की कोई विशेष बात नहीं है। मुख्य बात यह है कि मृत्यु को सम्मुख देखकर जवाहरलाल जी विचलित नहीं हुए। क्यों? इसलिए कि उन्हें आत्मा की अमरता पर पूर्ण विश्वास था। वे अन्तिम समय तक ओ३म् तथा गायत्री मंत्र का जाप करते रहे और अन्तिम समय में भी स्थिर चित्त रहे। इसे गीता का स्थित-प्रज्ञ कहा जाय तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। गीता के अध्याय २ श्लोक २२ में कहा गया है :—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय, नवानि गृह्णाति नरोपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥

जवाहरलाल जी ने शरीर त्याग को ऐसा ही मानकर इहलीला समाप्त की थी।

मेरा मत यह है कि सत्पुरुषों के शरीर त्याग पर शोक करने की अपेक्षा उनके अधूरे कार्यों को पूरा करना हमारा कर्त्तव्य है। ❋

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति (ऋ० १।१६४।४६)
एक ब्रह्म को ही मनीषीजन अनेक नामों से पुकारते हैं।

श्री जवाहरलाल जी : सिद्धान्तों के कट्टर: निष्ठा के दृढ़

(आचार्य उमाकान्त उपाध्याय, आर्यसमाज कलकत्ता, १९ विधान सरणी, कलकत्ता)

श्री जवाहरलाल जी आर्य को आदर और श्रद्धा की दृष्टि से सिलीगुड़ी में प्रायः प्रधान जी के सम्बोधन से जाना जाता था। श्री आर्य जी धीर-गम्भीर, मृदुभाषी और सरल स्वभाव के थे। कई वार उन्मुक्त किन्तु मधुर हास उनके स्वभाव में था। विषम परिस्थितियों में भी कटुता एवं कटूक्तियों से पृथक् अलग-थलग से दिखाई पड़ते थे। इतना होने पर भी उनके सिद्धान्तों में कट्टरता थी और निष्ठा में दृढ़ता थी। सैद्धान्तिक शिथिलता कभी दिखाई न पड़ती थी।

श्री प्रधान जी धर्म के कार्यों में कभी पीछे न रहते थे। नाम की लालसा किंचित्मात्र भी उनमें देखी न जाती थी। वैदिक धर्म के प्रचार की अद्‌भुत लगन थी। अपने साधन और शक्तियों से वेद, धर्मप्रचार एवं आर्यसमाज के विस्तार में वे पूरी तत्परता से लगे रहते थे। सिलीगुड़ी में जिन चार-छः आर्यसमाज के दीवानों पर भरोसा किया जा सकता है, श्री जवाहरलाल जी उनमें अग्रगण्य व्यक्ति थे।

मेरा उनका सम्बन्ध पारिवारिक धरातल पर बन गया था। उनका घर अपने घर की तरह और उनका परिवार अपने परिवार की तरह समीप हो गया है। किन्तु यह सम्पर्क कब आरम्भ हुआ, इसका ठीक स्मरण नहीं आता। जो कुछ स्मरण आ रहा है उसमें भी उनकी सैद्धान्तिक कट्टरता सम्पुटित है।

बहुत दिन पहले की बात है, आर्यसमाज कलकत्ता का वार्षिकोत्सव सम्पन्न हुआ था। रात को दस बजे शान्तिपाठ कराकर मैं मुहम्मद अली पार्क से नीचे उतरा तो देखता हूँ कि श्री जवाहरलाल जी मेरी प्रतीक्षा में खड़े हैं। प्रिय आनन्द का विवाह था और वे मुझसे संस्कार कराने के लिए आग्रह कर रहे थे। मुझे कालेज और परीक्षाओं की इतनी व्यस्तता थी कि मैं कलकत्ता से विवाह संस्कार कराने सिलीगुड़ी की यात्रा के लिए चार-पाँच दिनों का समय न निकाल सकता था। मेरा उनका सम्बन्ध अधिक घनिष्ठ न था। वे सम्भवतः मुझे जानते थे किन्तु मैं अपनी असमर्थता दिखा रहा था। उन्होंने एक दिन का समय माँगा। प्रातः वायुयान से जाकर, सायं संस्कार कराकर अगले प्रातः फिर वायुयान से कलकत्ता लौट आने का उन्होंने प्रस्ताव किया। यह मेरी पहली आकाश यात्रा थी और उस समय कलकत्ता बागडोगरा पर आकाश मार्ग का राष्ट्रीयकरण न हुआ था। वह संस्कार आनन्द से सम्पन्न कराकर मैं कलकत्ता लौट आया और दूर-दूर का सम्बन्ध पारिवारिक परिवेश लेने लगा।

इसके पश्चात् कितनी वार सिलीगुड़ी गया। कभी उत्सवों में, कभी संस्कारों में, कभी यूं भी, हमारी निकटता और आत्मीयता बढ़ती ही चली गयी।

श्रद्धया सत्यामाप्यते (यजु० १९।२०।)
श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

गृहप्रवेश और वेदपारायण यज्ञ

श्री जवाहरलाल जी की सैद्धान्तिक कट्टरता का परिचय तो प्रिय आनन्द के विवाह संस्कार के अवसर पर ही मिल गया था। उनको धार्मिक निष्ठा का परिचय उस समय समीप से प्राप्त हुआ जब उनके नव गृहनिर्माण के अवसर पर यजुर्वेद पारायण यज्ञ कराने का हमें सौभाग्य मिला। कुल मिलाकर चार-पाँच दिन का प्रोग्राम था। हमने सायं प्रातः दोनों समय यज्ञ करने की व्यवस्था बनायी थी। श्री जवाहरलाल जी—पति-पत्नी दोनों, प्रत्येक समय निश्चित समय पर उपस्थित हो जाते थे और अति श्रद्धा-भक्ति से यज्ञ कार्य में संलग्न हो जाते थे। यजुर्वेद पारायण यज्ञ अपने में ही पर्याप्त महत्त्वपूर्ण एवं बड़ा कार्य था। उसी के साथ जब गृहप्रवेश का अवसर और जुड़ गया, तो काम भी बढ़ गया। सम्बन्धियों परिचितों का आना-जाना भी बढ़ गया। ऐसे अवसरों पर जो प्रायः देखा जाता है, वह यह है कि यज्ञ आदि कार्यों की अपेक्षा मेहमानों का स्वागत, आने-जाने वालों की सम्भाल कुछ अधिक ही बढ़ जाती है। श्री जवाहरलाल जो थे कि वे यज्ञकाय को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण समझते थे और तदनुरूप सदा अपनी प्रस्तुति बनाये रखते थे। उनका अध्ययन कितना था, स्कूली पढ़ाई कितनी थी, यह सब हमने उनसे कभी न पूछा था। किन्तु वे सदा यजुर्वेद संहिता लेकर बैठते थे और वेदपाठियों के साथ पाठ भी करते थे। श्री जवाहरलाल जी का संध्या उपदेश आदि के प्रति सदा ही दृढ़ आग्रह बना रहता था। प्रात.काल संध्या यज्ञ के पश्चात् उपदेश आदि में उनकी जो तन्मयता दीखती थी, उससे उनकी कट्टर निष्ठा का सुन्दर परिचय मिल जाता है।

आर्यसमाज दार्जिलिंग की शताब्दी

श्री जवाहरलाल जी आर्यसमाज के प्रचार में पूरा योगदान करते थे। अपने साधन और सुविधाओं के अनुकूल सदा ही उनका मिशनरी स्वरूप निखरा सा रहता था। सन् १९८३ में आर्य-समाज दार्जिलिंग का शताब्दी महोत्सव था। हमने कई महीना पहले से स्वीकृति दे रखी थी, उसमें सम्मिलित होने के लिए हम जब गये तो सिलीगुड़ी से श्री जवाहरलाल जी हमें साथ लेकर चल पड़े। इस यात्रा में उनके चरित्र के कई पक्षों का समीप से परिचय मिला।

हम जब सिलीगुड़ी से चले तो दिन थोड़ा ही शेष रह गया था। श्री जवाहरलाल जी ने एक अम्बेसडर कार दार्जिलिंग के लिए तय की और हम सब चल पड़े। सिलीगुड़ी से चले तो आकाश में घने बादल छा रहे थे। थोड़ी देर में हम दार्जिलिंग के सुन्दर सलोने मनोहारी पथ पर बढ़ रहे थे, उधर मेघमाला घनी हो रही थी। सर्दी के साथ अन्धकार भी कुछ अधिक शीघ्रता से ही बढ़ता आ रहा था। बादल पहाड़ी घाटियों को तो चूमते ही हैं, यहाँ तो हमारी गाड़ी को चूम तो क्या रहे थे घेर रहे थे, पथ में अटक कर गति अवरुद्ध कर रहे थे। शीशा खुलते ही हमें भी भिगोने के लिए उतावले हो जाते थे। दार्जिलिंग का सुन्दर दिलचस्प मार्ग भयावह एवं अन्धकाराछन्न हो रहा था। सचमुच हाथ पसारे पर वह न सूझता था और इंजन की लाइट से दस गज भी नहीं दीखता था। श्री जवाहरलाल जी ने एक परम ईश्वरविश्वासी की तरह यात्रा की निष्कंटकता पर भरोसा रखा। मुस्कराते हुए मुझसे बोले, पण्डितजी ! रास्ता कैसा है ? मेरा तो सधा सधाया उत्तर था—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (युज० ४०।१७)
स्वर्णिम पात्र से सत्य का मुख छिपा रहता है।

अब छोड़ दिया इस जीवन का, सब भार तुम्हारे हाथों में,
इस पार तुम्हारे हाथों में, उस पार तुम्हारे हाथों में।

श्री जवाहरलाल जी का ईश्वर विश्वास था, वे इस समर्पणमयी भावना पर मस्त हो उठे। उतनी भीषण, बरसाती, तूफानी पहाड़ी यात्रा हमने नहीं की है। लेकिन यह भी सच है कि प्रभु-भक्ति का वैसा अनोखा आलम जीवन में कम आया है। श्री जवाहरलाल जी की प्रभु के प्रति विश्वास पूरी निष्ठा से प्रकट हो रहा था।

इस यात्रा में, और इस उत्सव में हमने धर्मप्रचार के लिए कष्ट उठाना और इस सहिष्णुता के आलम में प्रसन्न रहना श्री जवाहरलाल जी में विशेष रूप से देखा गया था। कलकत्ता साधन और सुविधाओं का शहर है। यहां धर्मप्रचार, सभाएं, यज्ञ के बड़े-बड़े प्रोग्राम सब साधन सुविधाओं के साथ आराम से हो जाते हैं। किन्तु दार्जिलिंग शहर होकर भी कलकत्ता नहीं है और वहाँ के आर्य समाजियों में लगन है, तप और त्याग है, फिर भी कलकत्ता या सिलीगुड़ी और दार्जिलिंग में बहुत अन्तर है। वर्षा और तूफान के साथ दार्जिलिंग में कड़ी सर्दी पड़ रही है, रात दिन गर्म पानी पिलाया जा रहा था। फिर भी श्री जवाहरलाल जी के उत्साह और धर्म प्रचार की भावना में कोई कमी नहीं आई। सचमुच ऋषि के मिशन केलिए उनके मन में उत्साह पूर्ण समर्पण था।

श्री जवाहरलाल जी के निधन से उत्तरी बंगाल में आर्यसमाज का एक स्तम्भ टूट गया। जब-जब वहां का स्मरण आता है, उत्तरी बंगाल के लिए कोई योजना मस्तिष्क में उठती है तो श्री जवाहरलाल जी के अभाव में एक अपूरणींय रिक्तता का भान होता है। सिलीगुड़ी से लेकर दार्जिलिंग करसियांग, कैलिम्पोंग, बिजनबाड़ी आदि स्थानों में जब भी आर्यसमाज के प्रचार–प्रसार की बात उठती है तो हमारे मस्तिष्क में एक सबल, समर्थ, समर्पित सेनानी का अभाव खटक उठता है। जिस अभाव का अहसास हम कलकत्ता में बैठकर कर रहे हैं, उसे सिलीगुड़ी के आर्यसमाजी श्री रतीराम शर्मा, श्री सर्वेश्वर झा, श्री रमेश प्रसाद गुप्त आदि और अधिक गहराई से अनुभव कर रहे हैं। उनका एक समर्थ विश्वासी सदा के लिए बिछुड़ गया। श्री जवाहरलाल जी की सादगी, सरलता और मिशन के प्रति समर्पण अविस्मरणीय है।

वह परब्रह्म पूर्णात्पूर्णतर है, पर सगुण और साकार होने के लिए इस नश्वर शरीर रूपी घट का ही आधार ग्रहण करता है। तुम्हारा घट, तुम्हारी गगरी जब तक भरी नहीं तब तक मोहजाल है, प्रपंच है। जब गगरी को उस अमृतमय के प्रेम में डुबो दोगे, वह अद्भुत आनन्द, रस अपनी गागर में भर लोगे तो तुम्हारी गागर छलकेगी तो रस ढुलकाती हुई, सब ओर प्रेम, उल्लास, आनन्द बिखेरती हुई! नश्वर घट अथवा गागर करुणा-आप्लावित होते ही अमरत्व का आधार बन जाता है। यह अमृत तुम्हारे चारों ओर, बस आगे बढ़कर गागर भरने की ही बात है।

—रवीन्द्र

एकः नमस्यो विक्ष्वीड्यः (अथर्व० २।२।१)
एक परमेश्वर ही प्रजाओं द्वारा नमन करने योग्य और स्तुत्य है।

जवाहरलाल जी आर्य : एक निष्ठावान् पुरुष

(डॉ० वीरेन्द्रप्रसाद वर्मा, प्रधान नगर, सिलीगुड़ी, दार्जिलिंग)

पिछले दस वर्षों से स्व० जवाहरलाल जी से हमारा गहरा सम्बन्ध रहा है। इस सम्बन्ध को आर्यसमाज सिलीगुड़ी ने बड़ी सबलता प्रदान की। यह सर्वविदित है कि वे आर्यसमाज के प्रति अगाध निष्ठावान् थे। हमारा समाजसेवा केलिए प्राकृतिक चिकित्सा माध्यम रहा है। इसके साथ ही शिशुनिकेतन का संचालन तथा अन्य प्रवृत्तियों से समाजसेवा एवं रचनात्मक कार्यों में उनके सहयोग पर हमें गर्व था। हमारे प्रति उनका कितना स्नेह था उसका मैं क्या बखान करूँ? उनकी सुसन्तानों से भी हमें बड़ा सम्मान मिलता है।

मैं प्रायः उनसे कहा करता था कि आपकी सभी सन्तानें सुयोग्य एवं परिवार संचालन के योग्य हैं, आप संन्यास लेकर पूरा समय आर्यसमाज के लिए क्यों नहीं समर्पण करते हैं? वे हँस कर जबाब देते—वर्मा जी! हमारी कुछ कमजोरी है, सभी सन्तानें अन्त तक सुपथ पर अग्रसर होती रहें इसलिए उन सब के मार्गदर्शन केलिए उनके साथ परिवार में रहकर भरसक समाज के काम में सहयोग करता हूँ। अभो संन्यास लेने की अवस्था में नहीं हूँ, परिवार में अभी भी दायित्व का कार्य मेरे लिए अवशिष्ट है। किन्तु यह सब हमारा मोह है, होता तो वही है जो प्रभु की इच्छा होती है।

गत वर्ष २५ अगस्त १९८५ से आर्यसमाज सिलीगुड़ी द्वारा आयोजित 'वेद सप्ताह' में मैं उपस्थित नहीं रह सका। मैं जब तत्कालीन प्रधान स्व० जवाहरलाल जी आर्य से यह निवेदन करने गया कि २० अगस्त को ही हमें सिलीगुड़ी से हैदराबाद केलिए प्रस्थान करना है, क्योंकि हमारी पुत्री नीलम को हैदराबाद गांधी नेचर क्योर कॉलेज में प्रवेश दिलाना है। पहले तो उन्होंने कहा कि किसी अन्य व्यक्ति के जाने से काम नहीं होगा क्या? पुनः उसी क्षण अपनी शुभकामना के साथ कहा– आप तो अपनी सन्तान के प्रति पढ़ाई एवं अन्य योग्यता के लिए बड़े ही जागरूक हैं और कर्त्तव्यशील हैं, आप उसी काम को प्राथमिकता दीजिए, और शीघ्र वापस आकर 'वेद सप्ताह' में सम्मिलित होने का प्रयत्न कीजिये।

पूर्वनिर्धारित कार्यक्रम के अनुसार मैं हैदराबाद गया, वहाँ कार्य सम्पन्न होने में विलम्ब होने के कारण २९ सितम्बर को वापस सिलीगुड़ी आ गया। आते ही सुना श्री जवाहरलाल जी अस्वस्थ हैं, और वे इलाज के लिए बम्बई जाएंगे, अभी कलकत्ता में इलाज करा रहे हैं। मैंने उनके लिए कलकत्ता के पते पर पत्र लिखा।

आदरणीय श्री जवाहर लाल जी! सादर नमस्ते!

आप से आदेश लेकर मैं सिलीगुड़ी से बाहर गया। आज जब वापस आया, यह सुनकर मेरा हृदय धक रह गया कि आप अस्वस्थ होकर सिलीगुड़ी से बाहर हैं, आप जैसे धीर और प्रशान्त व्यक्ति भी कष्ट के आखेट बनते हैं, यह प्रभु की लीला बड़ी विचित्र है। संसार में अगमन और देहधारण का यही स्वभाव है कि इस जगत् की संकुल भीड़ में कभी-कभार और कहीं-कहीं खरोंच आ ही जाती है।

ईश्वरानुग्रह से आप की सभी सन्तानें सुयोग्य और स्नेहशील हैं, उनकी सेवा ही परम औषध है, ईश्वर आपको शक्ति, संबल और मानसिक बल तथा तेज दें जिससे शीघ्र ही आपका शरीर पूर्ण

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः (कठ० २।२३)
यह आत्मा प्रवचन से नहीं प्राप्त होता है।

स्वस्थ और चंगा हो जाए। यह पत्र आपके धैर्य के लिए प्रिय रसायन बने, आनन्द और सान्त्वना दे। परिवार के प्रत्येक सदस्य को कान्ति और प्रीति देकर उल्लसित करे।

आपका—डा० वीरेन्द्रप्रसाद वर्मा

कलकत्ता से चिकित्साक्रम को चालू रखते हुए जब सिलीगुड़ी वे वापस लाये गये तो मुझे बुलाया गया। मैं तुरन्त ही वहाँ उनके निवासस्थान पर गया, उस प्रकोष्ठ में प्रविष्ट हुआ, जहाँ प्रधान जी अपने बिस्तर पर लेटे हुए थे। उस पीड़ा और असह्य वेदना के समय में भी हमसे मुस्करा कर आत्मीयता और स्नेहपूर्ण भाव से बातें की, और हमारे सभी बच्चों का समाचार पूछा। वहाँ आदरणीय श्री रतीराम जी शर्मा भी समुपस्थित थे। जब शर्माजी ने भी हमारे प्रथम पुत्र राजीव और उसकी धर्मपत्नी पूर्णिमा की कार्य-कुशलता और योग्यता का विवरण उन्हें सुनाया, तब उन्होंने प्रसन्नता अभिव्यक्त करते हुए कहा—हम लोगों को गर्व है कि वर्माजी का जीवन आर्यसिद्धान्त के अनुरूप है और परिवार को उसके अनुरूप ढाला है।

पुन: मैंने उनके स्वास्थ्य के बारे में जिज्ञासा प्रकट की। जब समस्त विवरण सुना तो मुझे भी गम्भीर स्थिति का भान हुआ। वे पथ्याहार में पानी भी लेने के बिल्कुल इच्छुक नहीं थे। मुझे प्रतीत हुआ कि इन्हें जिन्दगी और मृत्यु का ज्ञान और भान हो रहा है, अतः मृत्यु से संघर्ष के लिए वे तैयार हैं। मृत्यु की व्यग्रतापूर्वक बात जोहते हुए मृत्यु का आह्वान कर रहे हैं। फिर भी मैंने उनसे आग्रह और अनुरोध किया कि भोजन और जल तो ग्रहण करना ही चाहिए। भोज्यपदार्थों से शरीर को ऊर्जा मिलती है, इसलिए नियमपूर्वक पथ्याहार ग्रहण करना ही चाहिए। परिवार के समस्त सदस्यों को हम पर भरोसा था कि हमारे आग्रह से वे विधिवत् पथ्याहार लेंगे और हुआ भी ऐसा ही। मैं लगातार कई दिनों पर्यन्त उनकी सेवार्थ आता रहा, हर क्षण वे आर्यसमाज की प्रगति के सम्बन्ध में ही चर्चा किया करते थे। सिलीगुड़ी आर्यसमाज द्वारा गुरुकुल की स्थापना को शीघ्र मूर्तरूप दिया जाये, इस सम्बन्ध में वे पूर्णरूपेण चिन्तनशील थे। उनकी यह योजना और कल्पना अधूरी ही रह गयी। मृत्यु को कौन टाल सकता है? बम्बई, कलकत्ता, सिलीगुड़ी आदि नगरों के प्रसिद्ध डाक्टरों ने उन्हें बचाने का भरसक प्रयास किया। परिवार ने चिकित्सा हेतु कुछ भी कसर बाकी नहीं छोड़ी, बावजूद इसके चौदह दिसम्बर १९८५ की रात्रि में उनकी मृत्यु हो गयी।

हर किसी के मुखारविन्द से इसीप्रकार की बातें प्रस्फुटित होतीं थीं—इतने नियमपूर्वक जीवन बीताने वाले व्यक्ति भी रोग से ग्रसित होते हैं? मेरा यही उत्तर था, "मृत्यु जीवन की अनिवार्यता है।" वह नियति के नोथत समय पर होती है, उम्र से उसे मतलब नहीं। मृत्यु के लिए कारण और रोग निमित्त मात्र होते हैं।

आज वे हमारे मध्य नहीं हैं, जब तक रहे आत्मीयता, स्नेह, प्यार से हम लोगों को सींचते रहे। आर्यसमाज सिलीगुड़ी के वे सबल स्तम्भ थे, उनकी अटूट निष्ठा एवं आस्था समाज के रचनात्मक गतिविधियों में थी। उनकी कल्पना और योजना को साकार और मूर्तरूप देना ही, उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। हमें सन्तोष है कि उनकी सुयोग्य सन्तानें उनके स्वप्नों को साकार रूप देने में पूर्णतया कटिबद्ध हैं। सत्यप्रयत्न में सफलता निश्चित रूप से निहित है।

योऽसावसौ पुरुषः सो हमस्मि (ईश० १६)
जो वह परमपुरुष है, वही मैं हूं।

आर्यश्रेष्ठों का अतीत स्मरण

(पीताम्बर शर्मा, उपदेशक, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा दिल्ली, नेपाल राज्य)

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है, उसे जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त अनवरत समाज के विभिन्न व्यक्तियों के साथ रहकर अनेक पहलुओं से गुजरना पड़ता है। समाज का क्षेत्र बहुत बड़ा है। समाज में श्रेष्ठ व्यक्तियों की संख्या कम होती है। भारतवर्ष का इतिहास हरेक दृष्टि से श्रेष्ठ है। ऋषि, महर्षि, दार्शनिक व अन्वेषकों के त्याग-तपस्या का अद्वितीय भण्डार का एक पहलू है तो दूसरी तरफ समाज से कमाकर समाज को ही वितरित करने का पहलू भी है। इस पहलू को चरितार्थ करने वाले एवं ईशावास्यमिदं···॥ (यजु०) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन··॥ (गीता), यतोऽभ्युदयनिःश्रेयस सिद्धि स धर्मः (वैशेषिक) इत्यादि वैदिक वचनों को व्यावहारिक रूप देने वाले एक याज्ञिक आर्य-पुरुष के प्रति कुछ अतीत स्मरणों की पंक्तियाँ प्रस्तुत कर रहा हूँ।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के अन्योऽन्य भक्त स्व० जवाहरलाल जी आर्य आर्यसमाज सिलीगुड़ी के मुख्य पद पर समादृत थे। समाज के विभिन्न परिवेश में आपकी भूमिका अविस्मरणीय है। आप को याद करते ही हरियाणा की याद आती है, वहाँ के आर्यों का एक लम्बा इतिहास है। हरियाणवी व राजस्थानी सज्जनों का निवास इतर प्रान्तों में पर्याप्त है। वहाँ से आ बसे आर्यों ने ही विभिन्न स्थानों में आर्यसमाज का बीजारोपण किया है—यह वाक्य लिखने में जरा भी संकोच नहीं है। यह सर्वविदित है कि जहाँ इन लोगों ने अपने व्यवसाय को कड़ी मेहनत और चतुराई से बढ़ाया, वहाँ अहर्निश लगकर धर्मप्रचार के कार्य को भी किया अर्थात् वैदिक धर्म की रक्षा की। श्री आर्य जी उन्हीं विभूतियों में से एक हैं।

आपने हरियाणा प्रान्त के ग्राम—देवराला, जिला—भिवानी में जन्म लेकर उसका गौरव बढ़ाया। भिवानी और पिलानी में अपनी शिक्षा-दीक्षा पूरी करके "वयं स्याम पतयो रयीणाम्" हम धन ऐश्वर्य के स्वामी बनें; किसलिए? 'असतो मा सद् गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्युर्माऽमृतं गमय'—अज्ञानान्धकार व अभाव को दूर करने के लिए। आपने बंग प्रान्त में सर्वोच्च भावना से प्रवेश करके जहाँ धन वैभव कमाया वहाँ आर्यसमाज के लिए एक अविस्मरणीय योगदान भी दिया।

श्री आर्य जी का जीवन बहुत ऊँचा था। महर्षि यास्काचार्य के शब्दों में 'मत्वा कर्माणि सीव्यति' खूब सोच-विचार कर मनीषी की तरह कार्य में हाथ लगाने की सबसे बड़ी विशेषता आपमें थी। यहाँ मैं अपने कुछ व्यक्तिगत स्मरण प्रस्तुत करना चाहूंगा :—

(१) आपके प्रधान-काल में आर्यसमाज सिलीगुड़ी में रहकर सेवा करने का मुझे मौका मिला। समाज सुधार के कार्य में आर्यसमाज सिलीगुड़ी का जो योगदान है उसे मैं 'उत्तर बंग और नेपाल का इतिहास' लिखते समय प्रस्तुत करूँगा। इस समाज के अधिकारियों की कर्मठता आने वाली पीढ़ी के लिए दिशा निर्देश करेगी। मैं किसी जिज्ञासु बालक अर्थाभाव के कारण विद्याध्ययन

धन्वन्निव प्रपा असि (ऋ० १०।४।१)
हे प्रभु ! मरुदेश में तू प्याऊ की भांति है।

से वंचित, मार्ग-व्यय के अभाव में रुका हुआ पथिक, रोग से पीड़ित रोगी आदि की समस्याओं को लेकर प्रधान जी के पास जाता था। आप उसे बड़ी गम्भीरता से छानबीन कर सुलझाते थे। समाज में कई अप्रिय घटनाएं हुई हैं उनको आपने बड़ी बुद्धिमत्ता से सुलझाया। यह उनके बड़प्पन की बात है।

(२) आप मुझे ऊँचे विद्वान् के रूप में देखना चाहते थे। जब मैं दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, हिसार से स्नातक बनकर लौटा, तो कई बार आप घंटों बैठकर विचार-विमर्श करते थे। वे कहा करते थे कि इस क्षेत्र के लिए आप पूर्ण रूप से उपयोगी तभी सिद्ध होंगे जब आप और अध्ययन करेंगे, आपको विभिन्न भाषाओं का अभ्यास करना होगा इत्यादि। उनके आशीर्वाद से मैंने कई क्षेत्रों में कुछ प्राप्त किया है और आगे भी करता रहूँगा। जितनी सफलता मिलेगी वह आपके आशीर्वाद का फल होगा।

(३) आपकी दूकान में बार-बार आना-जाना मेरे लिए स्वाभाविक था। वहाँ कई सज्जन आकर राम-राम कहकर अभिवादन करते थे। आप नमस्ते! कहकर अभिवादन स्वीकार करके फिर उन्हें समझाते थे—राम तो एक आदर्श पुरुष का नाम था। राम भी नमस्ते! कहकर माता-पिता गुरु का अभिवादन करते थे।

(४) आप पाँच पुत्र और चार पुत्रियों, पोते पोतियों सहित हराभरा परिवार बसा गये हैं। पाँचो भाइयों को धार्मिक, सामाजिक कार्यों में आगे बढ़ते हुए देखकर बड़ी प्रसन्नता होती है। श्री प्रधान जी नहीं रहे परन्तु पीढ़ी दर पीढ़ी आर्यत्व की भावना बढ़ती रहेगी, ऐसी आशा की जाती है।

(५) प्रधान जी कई विशेषताओं में से एक महत्त्वपूर्ण विशेषता जो आज के समाज के परिवेश में विशेष महत्त्व रखती है, उपसंहार के रूप में प्रस्तुत करता हूँ—

आपके आर्यसमाज के प्रधान एवं मेरे प्रचारक होने के नाते कई बार संस्कारों के कराने में साथ रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। आप संस्कार करवाते समय मुझे यह सुझाव देते थे कि ऋषि पद्धति से विधिपूर्वक संस्कार कराना चाहिए। संस्कार को ही विशेष महत्त्व देना चाहिए, दिखावा व आडम्बर में अनावश्यक खर्च नहीं करना चाहिए। किसी रिश्तेदार, पड़ोसी या आर्यसमाजियों को ऐसे कार्य में फिजूल खर्च करते हुए देखकर आप असन्तुष्ट होते थे। इन्हीं शब्दों के साथ आपको हार्दिक श्रद्धांज्जलि अर्पित करता हूँ। ॥ इत्योम् शम् ॥

पानी केरा बुलबुला अस मानुस की जात ।
देखत ही छिप जाएगा ज्यों तारा परभात ॥

—कबीर

तमेव विदित्वाति मृत्युमेति (यजु० ३१।१८)
उसी परब्रह्म को जानकर मनुष्य मृत्यु से परे हो जाता है।

कैसे भूल सकता हूं मैं उनको !

(रतीराम शर्मा, प्रधान–आर्यसमाज, सिलीगुड़ी)

भाईजी (परम आदरणीय स्व० जवाहरलाल आर्य) मुझसे बड़े थे। मैं उनसे छोटा था। हम दोनों का एक ही गाँव। बिल्कुल पास-पास घर। अटूट पारिवारक रिश्ता। जीवन का सर्वाधिक समय (लगभग ५० वर्ष) एक साथ बीता। मुझे असीम स्नेह और भरपूर प्यार मिला उनसे। समान विचार, एक सिद्धान्त और पूजा की पद्धति भी एक। काफी घनिष्ठता भी हम दोनों में। जब मैं सिलीगुड़ी आया तो बाद में वे भी आ गये। थोड़े ही दिनों में अपनी व्यापारिक कुशलता के कारण वे एक प्रगतिशील सफल व्यापारी के रूप में प्रतिष्ठित हो गये। बहु आयामी सफलताएं अर्जित की उन्होंने। खूब नाम काम कमाया। काफी सोहरत हासिल की। ईश्वर की असीम कृपा थी उन पर। पिछले २५ वर्षों से हम दोनों का कार्यक्षेत्र एक रहा। आर्यसमाज सिलीगुड़ी की स्थापना में उनका प्रमुख हाथ था। यह उनकी देन है। हमने कन्धे से कन्धा मिलाकर आर्यसमाज के कार्यक्रम को आगे बढ़ाया। वैदिकधर्म के प्रति प्रतिबद्धता अविभाज्य और अटूट थी। प्रतिबद्धता को वे सफलता का श्रेयबिन्दु मानते थे। श्रद्धा, कर्त्तव्य और सहयोग पर अगाध विश्वास था उनका। आर्यसमाज सिलीगुड़ी केलिए उनका योगदान, अभियान और प्रचार-प्रसार, आज मूर्तरूप से परिभाषित है। बाहर से विद्वानों को बुलाकर प्रचार-प्रसार कराना एवं मेधावी छात्रों को आर्थिक सहायता प्रदान कर सुयोग्य विद्वान् बनाना उनका लक्ष्य रहा। अनेक गुरुकुलों, शिक्षणसंस्थानों एवं धार्मिकसंस्थाओं को मुक्त-हस्त से दान देकर सुख अनुभव किया। उनके कार्य-कलाप, व्यक्तित्व और कृतित्व से सम्बन्धित अनेक उपयोगी और प्रामाणिक सूचनाएं मिलती हैं। भारतीय सभ्यता और संस्कृति के महायज्ञ में वे अपने परिवार सहित थे। उनकी प्रबल इच्छा थी कि अपनी संस्कृति के अनुरूप एक विद्यालय का निर्माण हो। तत्परता काम आयी। वैदिक विद्या प्रतिष्ठान के नाम से एक ट्रस्ट बना। २१ बीघे की एक जीमन ली गई। विद्यालय का प्रारूप बनने ही जा रहा था कि भाई जी ने विदाई ले ली। सम्प्रति उस अधूरे स्वप्न को साकार करना, उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी हम सब की।

भाई जी का जीवन एक व्रती का था। अब वह जीवन अनेक केलिए प्रेरणास्रोत बन गया है। उनकी जीवन-पद्धति नियमबद्ध थी। प्रातः चार बजे उठकर भ्रमण, आसन, प्राणायाम, संध्या एवं अग्निहोत्र करना दैनिक कार्यक्रम था उनका। विधिवत् दिनचर्या एवं सात्विक आहार पर अवलम्बित रहने वाला व्यक्ति किसी संगीन बीमारी से ग्रस्त हो सकता है—ऐसा किसी को विश्वास नहीं था। उत्तम स्वास्थ्य, गौरवशाली कद-काठी, हँसता चेहरा और बुलन्द आवाज के स्वामी को इतनी आसानी से कोई रोग अपने आगोस में समेट ले, यह एक अति आश्चर्यजनक बात है। प्रभु की इच्छा को उन्होंने सहर्ष स्वीकार किया।

१९८५ का 'वेद सप्ताह' आप में एक इतिहास बन गया। भाई जी उस समय आर्यसमाज सिलीगुड़ी के प्रधान पद पर थे। 'वेद सप्ताह' का कार्यक्रम उनकी अध्यक्षता में बना था। वे अपने दायित्व के प्रति सजग और सचेष्ट थे। लेकिन ईश्वर को कुछ और ही मंजूर था। शारीरिक कमजोरी

परंतु मृत्युरमृतं न ऐतु (अथर्व० १९।३।६२)
मृत्यु हमसे दूर हो और अमृतपद हमें प्राप्त हो।

और अन्न के प्रति अरुचि ने भाई जी को तत्काल कलकत्ता जाने को बाध्य कर दिया। अतः अनमने ढंग से वे कलकत्ता केलिए प्रस्थान कर गये। जाने से पूर्व उन्होंने कहा था—रतीराम ! बाहर प्रचार का कार्यक्रम चलाओ, मैं दो-चार दिनों में लौट आता हूँ। कलकत्ता में उनका इलाज आरम्भ हुआ। फिर बम्बई गये और बम्बई से पुनः कलकत्ता आये। इलाज चलता रहा और कमजोरी बढ़ती गयी। लगभग चार माह पश्चात् जब वे सिलीगुड़ी आये तो काफी कमजोर लग रहे थे। लेकिन आत्मिक शक्ति प्रबल थी। मैं उनके पास बैठा रहता और तरह-तरह की बातें होतीं। आर्यसमाज की बातें, विद्यालय की बातें और बातें और बहुत सारी पुरानी बातें। पुरानी बातों में पूज्य ताऊ स्व० हेमराज जी की बातें। भाई जी उनकी बातें याद कर सुख का अनुभव करते थे। ताऊ जी का व्यवहार, रहन-सहन, खान-पान की बातें आरम्भ होतीं तो समय का पता नहीं चलता था। उस कमजोरी की स्थिति में भी गजब की याददास्त थी भाईजी की।

आज वे मुझसे बिछुड़ गये हैं। जब भी मैं आर्यसमाज का या कोई और सामाजिक कार्य करने लगता हूँ तो उनकी स्मृति बराबर हो आती है, पूरे जीवन भर आती रहेगी।

अदम्य उत्साही

(ईश्वरदत्त वैद्य, पुरोहित, आर्यसमाज बड़ाबाजर, कलकत्ता-७)

जवाहरलाल जी आर्य के साथ सन् १९७४ से ही मेरा सम्बन्ध बड़ा निकट का रहा है। उनके जीवन की सान्ध्य वेला में कई दिनों तक मौत से जूझते हुए भी अदम्य उत्साह, धैर्य्य, गम्भीरता आदि उनके विशिष्ट गुणों को देख मैं विस्मित हो जाता था। वे यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ईश्वरप्रणिधान, यज्ञ-हवन जैसे नैमित्तिक कर्मों में कभी प्रमाद या आलस्य नहीं करते थे। उनके यहाँ हवन-पात्रों की पवित्रता व स्वच्छता देखकर किसी का भी मुदित हो जाना स्वाभाविक था। वे एक निर्भीक. पुरुषार्थी आर्य थे, जो शेर की तरह घर या दूकान पर आसन जमाकर बैठा करते थे। चिकित्सा हेतु बम्बई प्रस्थान करने के एक दिन पूर्व भी यज्ञ कराने हेतु जब उनके अनुरोध पर मैं उनके घर पहुँचा तो भी यज्ञ के प्रति उनकी अपार निष्ठा अनुकरणीय थी। बम्बई से लौटकर कलकत्ता के बेलभिउ नरसिंग होम में एक डेढ़ मास तक रहे। महामंत्र गायत्री के प्रति उनकी श्रद्धा अटूट थी। नरसिंग होम में जाकर प्रतिदिन एक-आध घण्टा तक गायत्री मन्त्र उन्हें सुनाना मेरी दैनन्दिनी कार्यसूची का अंग बन गया था। यहाँ जब तक रहे सदा प्रसन्नचित्त, मुस्कुराते, सबसे प्रीतिपूर्वक मिलते, वार्ता करते रहते।

लाइलाज रोग की विभीषिका से ग्रस्त होने पर भी अन्तिम क्षणों तक उन्हें कष्ट में कभी नहीं पाया गया। और इसीतरह सबसे हँसतें मिलते, बातें करते, अपने परम कारुणिक आराध्यदेव 'ओ३म्' की व्यवस्थान्तर्गत नव-जीवन प्राप्त करने, मुदित मन हम सबसे अन्तिम विदा लेकर सदा केलिए चल बसे। परमेश प्रभु उनकी आत्मा को सद्गति दें तथा परिवार को इस दारुण दुःख को सहन करने की शक्ति दे। यही प्रार्थना है।

प्रियाः श्रुतस्य भूयासम् (अथर्व० ७।६१।७)
हम सब वेदप्रेमी बनें।

एक व्यक्तित्व जिसे भूला नहीं जा सकता

(आचार्य प्रेमभिक्षु, वेदमन्दिर, मथुरा)

चिर मुस्कान से दीप्तमान मुख मण्डल, ऊँचा कद, उन्नत भाल, प्रलम्बित भुजाएं, ऊर्जस्वित वक्ष, आकर्षण भरे नयन तथा सादगी-सरलता-सौम्यता एवं आर्यत्व से परिपूर्ण जीवनपद्धति—यह सब तत्त्व मिलाकर जिस अनूठे आदमी का निर्माण करते हैं, उसकी संज्ञा थी—जवाहरलाल आर्य।

प्रिय आनन्द जी द्वारा दो बार आमंत्रित किया जा चुका था, पर कोई न कोई बाधा आती रही। नवम्बर '८५ में आर्यसमाज शताब्दी समारोह कलकत्ता से लौटते हुए ही सिलीगुड़ी का प्रथम बार कार्यक्रम बन सका। धर्मपत्नी साथ थी। कलकत्ता शताब्दी के संयोयक, आर्यसमाज के दीवाने, ऋषि भक्त श्री पुष्करलाल आर्य (आपके समधी महोदय) भी बाद में पहुंच गये थे। श्री जवाहरलाल जी के ही नवनिर्मित भवन में आवास की व्यवस्था थी। दैनिकयज्ञ में हमारे साथ पौत्री अर्चना, उसकी दादी जी, दादाजी (श्री आर्य जी) प्रिय अशोक आदि बड़ी श्रद्धा से भाग लेते थे। यह प्रथम भेंट थी, आर्यत्व के धनी इन महानुभाव के साथ। और इस प्रथम सान्निध्य में ही सहज आत्मीयता, आन्तरिक स्नेहिलता, सश्रद्ध आतिथ्यभावन और यज्ञनिष्ठा के साथ ही परिवार में वैदिकीकरण के रूप में आपके सम्पूर्ण परिवार में आपकी मां आर्यसमाज के चरणों में जिस अनन्य निष्ठा के दर्शन हुए, शब्दों में उसकी ठीक-ठीक अभिव्यक्ति सम्भव नहीं है। आपने अपने पुत्र-पुत्रियों के सम्बन्ध भी यथासम्भव वैदिक परिवारों में ही करने का यत्न किया।

आर्यसमाज सिलीगुड़ी के पूर्व प्रधान हमारे आर्य जी भिवानी जिले की वैदिक श्री गोविन्द राम जी आर्य के अनुज थे। इस परिवार के सदस्यों ने कलकत्ता, झरिया, अहमदाबाद आदि अनेक नगरों में वैदिकता की ज्योति को जगाया है। आर्यसमाज सिलीगुड़ी की संस्थापना और संचालन में देवराला की ही एक दूसरी ज्योतिर्मय विभूति स्वनाम धन्य श्री पं० रतीराम जी शर्मा का आपने आजीवन कन्धे से कन्धा मिलाकर सहयोग किया। सदैव हंसमुख रहना जैसे उनका स्वभाव ही था। व्यवहार कुशलता के धनी स्व० आर्य जी बड़े ही उदारमना भी थे। बहुत पहले ही वेदमन्दिर भवन-निर्माण यज्ञ में उन्होंने ५०१ रु० प्रथम हवि के रूप में प्रदान किये थे, आगे भी इस सुपावन यज्ञानुष्ठान की पूर्णाहुति तथा सहयोग करने केलिए कृत संकल्प थे। वैदिक मिशनरी निर्माण योजना में सहयोग करने में भी उनकी भावना थी।

वैदिक संस्कार वैदिक पर्व, पञ्चयज्ञादि नित्य कर्म के श्रद्धालु, आर्यजी ने प्रियवर आनन्दजी, प्रिय अशोक जी, पुत्री राजरानी, सुधा जी जैसी सन्तति-रत्न भी हमें दिये। मात्र ६२ वर्ष की अल्प वयस में ही इस ऋषिभक्त की चिर-विदाई निश्चय ही कष्टकर है। "जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः" और "भस्मान्त ँ शरीरम्" के शाश्वत नियम के क्रम में भी आर्यजी का पार्थिव शरीर हमारे मध्य नहीं रहा, किन्तु 'कीर्तिर्यस्य स जीवति' के अनुसार हमारे आर्यजी अक्षय कीर्ति के रूप में अमर हैं और उनके व्यक्तित्व में निश्चय ही ऐसा कुछ था, जिसे भूला नहीं जा सकता।

नाययात्मा बलहीनेन लभ्यः (मुण्डक० ३।२।४)
यह आत्मा बलहीन के द्वारा प्राप्य नहीं है।

स्व० जवाहरलाल जी आर्य : एक कर्मयोगी व्यक्तित्व

(डा० योगेन्द्र कुमार, प्रधान—आर्यप्रतिनिधि सभा, जम्मू-कश्मीर)

सिलीगुड़ी आर्यसमाज के वेद प्रचार सप्ताह पर मुझे दो बार जाने का सु-अवसर प्राप्त हुआ। दोनों बार ही वहां श्री जवाहरलाल जी आर्य के परिवार में जाने का अवसर मिला। श्री जवाहरलाल जी ने अपने परिवार को पूर्णतः आर्य परिवार बनाया था। प्रतिदिन परिवार में सन्ध्या, हवन, आतिथ्य-सत्कार आदि पञ्च यज्ञ होते थे। अभक्ष्य पदार्थों से परे रहकर वे सात्विक आहार करते थे। महर्षि दयानन्द के अनुसार वे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति में सदा तत्पर रहते थे।

सिलीगुड़ी में वेदप्रचार के अवसर पर अपने प्रधान पद के अनुसार कर्तव्य का पूरी तरह से पालन करते रहे। वे अपना पूर्ण समय आर्यसमाज की सेवा में दिया करते थे।

उनमें लेशमात्र भी आलस्य नहीं था। मुझे याद है कि सिलीगुड़ी में एक-एक दिन में चार-चार प्रवचन भी हुए और आर्य जी सब जगह उपस्थित रहे।

पिछली बार जब मैं और नरेन्द्र जी प्राचारार्थ सिलीगुड़ी आर्यसमाज में पहुँचे तो श्री जवाहर जी समाज में हमारी प्रतीक्षा में बैठे थे। हमें साथ लेकर उन्हें सिक्किम के क्षेत्र में प्रचारार्थ जाना था। हम लम्बी यात्रा करके वहां गये थे, तब भी उनके उत्साह को देखकर तुरन्त तैयार हो गये। हमने भी आराम करना उचित नहीं समझा। हमारे इस व्यवहार से वे बहुत ही प्रसन्न हुए। अनेक स्थानों पर इस इलाके में श्री जवाहर जी हमारे साथ रहे। हमारी सुखसुविधा का वे बड़ा ही ध्यान रखते थे। जगह-जगह पर यज्ञ और वेद-प्रचार की धूम मचती चली गई।

मैंने जवाहरलाल जी का हृदय बहुत विशाल पाया। उनमें नाम मात्र को भी अभिमान नहीं था। विद्वानों को देखकर प्रसन्न होना और नम्रता प्रकट करना उनका स्वभाव था।

खादी के सादा वस्त्रों में उनका व्यक्तित्व बहुत प्रभावशाली लगता था। हर समय हँसते और हँसाते रहना—यह उनका ऐसा गुण था कि उनके पास रहकर व्यक्ति ऊबता नहीं था।

इस इलाके में उनकी पर्याप्त जान पहचान थी। सब जगह उन्हें आदर की दृष्टि से देखा जाता था। जाते ही जवाहर जी प्रचार की व्यवस्था में जुट जाते थे। संयोजक के गुण उनमें भरपूर थे।

किसी सिद्धान्त विरुद्ध बात को तथा गलत बात को वे अच्छा नहीं समझते थे। समाज के मन्त्री श्री सर्वेश्वर झा जी एवं अन्य सभी सभासदों के साथ उनका मैत्रीपूर्ण व्यवहार रहता था। ऐसे अधिकारी समाज में कम ही देखने को मिलते हैं, जो सबको साथ लेकर चलें, अन्यथा पार्टी बनाकर आपस में लड़ने-लड़ाने वाले अधिक देखे गये हैं।

विद्ययाऽमतृमश्नुते (यजु० ४०।१४)
विद्या से (मनुष्य) अमरता प्राप्त करता है।

यद्यपि सिलीगुड़ी समाज के सभी कार्यकर्त्ता कर्मठ तथा सच्चे आर्य हैं, वहाँ सभी का व्यवहार मधुर तथा श्रद्धायुक्त रहता है। वहाँ प्रचार कार्य करने में विशेष आनन्द प्राप्त होता है। उन सबके बीच में से एक ऐसा व्यक्तित्व उठ गया है जो अपनी विशेषता अलग ही रखता था। वे कहने में नहीं करने में विश्वास रखते थे। उन्होंने अपने सुपुत्र और सुपुत्रियों को 'अनुव्रतः पितुः पुत्रः' के अनुसार अनुव्रती बनाया।

श्री जवाहरलाल ज़ी आर्य स्वाध्यायशील व्यक्ति थे। वे धार्मिक-साहित्य पढ़ते थे। महर्षि के ग्रन्थों का उन्होंने अनुशीलन किया था। वैदिक तथा आर्यसमाज के सिद्धान्तों का उन्हें पूरा ज्ञान था। जगह-जगह पर दूसरों को आर्यसिद्धान्त तर्कपूर्ण तरीके से समझाया करते थे।

इसप्रकार श्री जवाहरलाल जी आर्य के व्यक्तित्व में एक ही साथ अनेक गुण थे।

वे स्वस्थ, सुन्दर, प्रभावशाली देह के साथ धार्मिकता और आत्मबल से संयुक्त थे। उनमें उदारता, धैर्य, क्षमा, अक्रोध, बुद्धिमत्ता, पवित्रता, सत्यप्रियता, सेवा, नम्रता, हृदय की विशालता, कर्मठता, उत्साह, प्रसन्नता, परोपकारिता, ईश्वरविश्वास आदि अनेक गुण थे। वे सच्चे अर्थों में अनासक्त कर्मयोगी थे।

मेरे साथ उनका बहुत प्रेम तथा श्रद्धा थी। मैंने भी अपने मन के अनुकूल ही उनका जीवन पाया। कलकत्ता के कार्यक्रमों में भी उनके दर्शन होते रहते थे। वे सफेद वस्त्रों में ही एक महात्मा थे। उनका अभाव हमारे लिए एक अपूरणीय क्षति है।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।
तथा विद्वान्नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्॥
—मुण्डकोपनिषद्, (३।२।८)

जिस प्रकार बहती हुई नदियां अपना-अपना नामरूप छोड़कर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, वैसे ही ज्ञानी महापुरुष नाम रूप से रहित होकर परात्पर दिव्य परब्रह्म परमात्मा को प्राप्त हो जाता है।

संसार के समस्त चलायमान चर-अचर जगत् में प्रभु स्थिर रूप से विद्यमान हैं। नियम में चलने वाले जगत् का वह विधाता है, जगत् का आधार और संरक्षक है। ध्वंसशील पदार्थों में वह सदा नवीन है। उसके गुणों की गिनती नहीं हो सकती। वह रूप की सीमा से परे है। वह उत्पन्न और अनुत्पन्न सब पदार्थों का स्वामी है। वह सर्वत्र विराजमान प्रभु हमारी रक्षा करे।

—स्व० डा० नारायणमुनिश्चतुर्वेदी (स्तुतिशतक)

आर्यसमाज के कर्मवीर जवाहरलाल आर्य नहीं रहे!

(प्रियदर्शन, ८३/१, विवेकानन्द रोड, कलकत्ता)

एक प्रचलित लोकोक्ति है–'होनहार वीरवान के होत चीकने पात' सिलीगुड़ी के सर्वजनप्रिय, समाजहितैषी जवाहरलाल आर्य के सम्बन्ध में उक्त लोकोक्ति निःसन्देह प्रयोज्य है ।

सिलीगुड़ी जिसको आज हम भूटान, सिक्किम, दार्जिलिंग आदि के व्यापारिक आयात-निर्यात का केन्द्र कहते हैं, उस समय निर्माण के पर्याप्य में रहा । देशविभाजन के बाद इसका महत्त्व बढ़ भी रहा था और जम भी रहा था । इस व्यापार-केन्द्र को उन्नत स्तर पर पहुँचाने वालों में जवाहरलाल जी को अन्यतम यदि कहा जाय तो भूल नहीं होगी ।

स्व० जवाहरलाल आर्य अपने शरीर, मन और पुरुषार्थ में बड़े ही सशक्त थे । इनके अनन्य अकृत्रिम मित्र थे—श्री रतिराम शर्मा, जिन्होंने जवाहरलाज जी के अन्तिम श्वास तक उनकी सेवा की । आयुष्मान् आनन्द, सुभाष आदि भाई बहिनें सब छोटे-छोटे थे । नया बाजार के एक तल्ले पर जवाहरलाल जी ने उज्ज्वल-भविष्य-निर्माण का डेरा डाला । एक तल्ले पर छोटे-छोटे दो कमरों में विश्राम का स्थान बनाया ।

संग्राममय जीवन के प्रारम्भकाल से ही उन्होंने एक आदर्श को अपनाया था—साधारण जिन्दगी बसर करने के साथ उच्च विचार द्वारा मानव समाज का हित करना । इसलिए जिन्होंने उनके सम्पर्क में आकर किसी कल्याणकर योजना की चर्चा की, उस समय जवाहरलाल जी के मुखमण्डल पर सदा हास्यमय आशा की झलक दिखाई देती थी । उस समय ऐसा मालूम होता, जैसे यह योजना तो अनायास पूरी हो सकती है । इसीतरह से उन्होंने सिलीगुड़ी में अपने साथियों के सहयोग से आर्यसमाज का संगठन किया, और जहाँ पौराणिकों का पूरा प्रभाव था ऐसे मुहल्ले में जाकर वैदिक धर्म की ओ३म् की पताका गाड़ी और आर्यसमाज सिलीगुड़ी का प्रथम वार्षिकोत्सव मनाया गया। सिलीगुड़ी के पौराणिक समाज ने इस कार्य को अपवित्र कार्य समझा, इसलिए पौराणिकों ने उसस्थान को पवित्र करने केलिए रामायण की कथा रखी थी । उस समय सुना था कि पौराणिक-समाज आर्यसमाज के साथ शास्त्रार्थ करेंगे । जवाहरलाल उससे विचलित नहीं हुए, उन्होंने खुल्लम-खुल्ला चैलेंज दिया—आओ शास्त्रार्थ कर लो, पर पौराणिक समाज पीछे हट गया ।

आर्यसमाज के प्रचार में दो-तीन ऐसे उत्साही व्यक्ति थे, जिनके अदम्य उत्साह से सिलीगुड़ी आर्यसमाज का प्रचारकार्य दिन प्रतिदिन आगे बढ़ता ही जा रहा था, उनमें जवाहरलाल आर्य और श्री रतिराम शर्मा अग्रगण्य हैं ।

जवाहरलाल आर्य और श्री रतिराम शर्मा को यदि हरिहर आत्मा कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी । दोनों ही निरभिमानी ! यदि जवाहरलाल जी किसी सामाजिक उन्नतिमूलक कार्य की योजना बनाकर श्री रतिराम शर्मा के आगे रखते थे, तो रतिराम शर्मा जी की सम्मति आती

ब्रह्माहमन्तरं कृणवे (अथर्व० ७।१००।१)
मैं वेद को अपनी ढाल बनाता हूं ।

थी—हाँ, हाँ, कर लो, काम बढ़िया है। आर्यसमाज केलिए महानन्दा नदी के उस पार गुरुंग वस्ती में भूमि मिल गयी, सुन्दर मन्दिर, यज्ञशाला, अतिथिशाला आदि भवन सब बन गये। इन सबके मूल में जवाहरलाल आर्य का तन-मन-धन का सहयोग था।

सिलीगुड़ी एक व्यापार-केन्द्र है। नया बाजार में हरियाणावासी आर्यों का व्यापार सत्य के आधार पर आज भी चल रहा है। श्री रतिराम शर्मा की दूकान में जाइये, वहाँ जो भी द्रव्य मिलते हैं, वे साफ सुथरे, एक वालू का कण भी उन द्रव्यों में नहीं मिलेगा। मूल्य एक—चाहे वृद्ध खरीदने को जाय या वालक। यही बात जवाहरलाल जी के व्यापार में थी। थोकफरोस व्यापारी, जवाहरलाल जी में धोखा देकर धनोपार्जन की प्रवृत्ति नहीं थी। जैसे महर्षि दयानन्द जी का व्यापार के विषय में विचार था, वैसे ही विचार जवाहरलाल जी का व्यापार के सम्बन्ध में था। इसीलिए दिन प्रतिदिन व्यापार में उनकी उन्नति भी पायी जाती थी।

इसप्रकार के व्यापार, आर्यसमाज का प्रचार और परोपकार करते हुए जवाहरलाल जी ने कब मकान बनाया, पता ही नहीं लगा। अब जवाहरलाल आर्य, नेहरुरोड के आर्यनिवास में रहने लगे। मैंने उनको कभी प्रातः चार बजे के बाद सोते हुऐ नहीं देखा। मुझ पर उनकी बड़ी कृपा रही थी। वार्षिकोत्सव के अवसर पर न मालूम जवाहरलाल जी मुझ को क्यों निमंत्रण देकर सिलीगुड़ी बुलाते थे। क्योंकि मुझ में तो इतनी योग्यता नहीं थी, जैसी आर्यसमाज के अन्यान्य सुप्रसिद्ध पण्डितों में है। मैं भी श्रोता के रूप में समाज के निमंत्रण पर सम्मिलित होता था। ठहरने का स्थान तो मेरा वही 'आर्य निवास' था। उस समय जब चार बजे गया, तब देखता हूँ जवाहरलाल जी अपने कूप के पास दन्त-मञ्जन करने में लगे हुए हैं। इसके बाद कूप से जल निकाल कर स्नान करेंगे, चाहे सर्दी हो चाहे गर्मी। मैं किसी का दास तो था, पर जवाहरलाल जी आर्य किसी का दास नहीं थे। घर में नौकर-चाकर हैं, योग्य पुत्र, पुत्रवधू भी हैं, पर उनकी सेवा की प्रतीक्षा में वे नहीं रहते थे। और मैं गरम पानी का दास था, जवाहरलाल जी की दृष्टि रहती थी, उनके गृहाश्रम आते हुए कोई भी अतिथि, साधु-सन्त, उपदेशक, भजनीक आदि को किसी प्रकार का कष्ट न हो।

स्वामी जगदीशवरानन्द जी उनके घर ठहरते थे। केवल स्वामी जी महाराज ही नहीं और भी महाराज लोग उनके घर ठहरते थे पर उनके ठहरने से जवाहरलाल जी के मन में उल्लास रहता था।

प्रभात की वेला घर के बरामदे में गृहस्थ-दम्पती हवन के लिए प्रस्तुत हैं। प्रतिदिन हवन संध्या करना उनका नित्य कर्म था। हवन में जीवनसङ्गिनी गृहलक्ष्मी भी नहा धोकर तैयार, कन्यायें भी पहुंच जाती थीं, और पुत्र भी। अर्थात् जवाहरलाल जी ने अपने परिवार में ऐसा अद्भुत धर्ममय वातातैयार कर रखा।

गृहप्रवेश के अवसर पर, पुत्रों के विवाहोपलक्ष्य में पूरे वेद का यज्ञ एक महान् कर्त्तव्य मानकर उसका अनुष्ठान श्रद्धा-भक्ति के साथ करते थे। उन्होंने कई बार कलकत्ता से अध्यापक श्री उमाकान्त उपाध्याय को भी घर में बुलाकर वेद का यज्ञ कराया। यज्ञ में किसी प्रकार की त्रुटि नहीं रहती थी, यह मैंने स्वयं देखा।

अथ ये ब्राह्मणाः शुश्रूवांसोऽननाचानास्ते मनुष्यदेवाः (शत० ब्रा० २।२।२।६)
जो ब्राह्मण वेदे सुनते और अध्ययन करते हैं वे मनुष्यों में देवता हैं।

अपने जीवित काल में जवाहरलाल जी ने अपने सुपुत्रों को स्वावलम्बी बनाने के लिए नये-नये व्यापार खोल दिये। सबसे बड़ी बात यह रही कि जवाहरलाल जी ने भाई बहिनों को ऐसी एकता के बन्धन में बांध रखा है कि आज तक प्रत्येक कार्य में अनुज अग्रज के अनुयायी हैं, कहीं विरोध नहीं है। वही संगटन है जो हमारे जवाहरलाल जी को परिवार में अमर रखेंगे।

जवाहरलाल जी रोगाक्रान्त हो गये। पितृभक्त पुत्रों ने मिलकर उनकी आदर्श सेवा की। सिलीगुड़ी से बम्बई, बम्बई से कलकत्ता, कलकत्ता से सिलीगुड़ी में उनको अपने 'आर्यनिवास' में लाया गया। जवाहरलाल जी पुत्रों से पूछते रहे उनको क्या हो गया है? किस रोग ने आक्रमण किया है? पिता के मन में रोग के परिचय से कहीं घबराहट न हो, इसलिए उनको रोग के बारे में बतलाया नहीं गया।

रोगग्रस्त शरीर धीरे-धीरे दुर्बल होता गया। पिता ने पुत्र से कहा प्रियदर्शन जी को पत्र लिखो, मैं उनके दर्शन करना चाहता हूं। पुत्र आनन्द ने मुझको जवाहरलाल जी का पत्र भेजा—

॥ ओ३म् ॥ सिलीगुड़ी २-१२-८५

आदरणीय आचार्य जी, सादर नमस्ते,

पत्र मिला, धन्यवाद। आप सपरिवार आनन्द में होंगे। मुझे ईश्वर कृपा से कुछ आराम हो रहा है। कलकत्ता से आने के बाद काफी ठीक हूं। ईश्वर की दया एवं आपकी शुभकामना से जल्दी ही पूर्ण स्वस्थ होकर आपके दर्शन करूँगा। आपका स्नेहमय व्यवहार सदा याद रहता है। पूज्य माता जी को सादर नमस्ते कहें।

भवदीय : जवाहरलाल आर्य द्वारा आनन्द आर्य

रोगशय्या पर मैंने उनके दर्शन किये, उपचार की त्रुटि नहीं थी पर जीवनघातक कर्कश रोग ने उनको छोड़ा नहीं। धीरे-धीरे जवाहरलाल जी ने स्नेहमय परमपिता की गोद में चिराश्रय किया। यह स्मृति लेखक आज भी श्रद्धा से स्मरण करता है।

अमृत पीकर के नहीं,
अमर वह होता है,
पा मर्त्य देह,
जो जीवन-रस हर एक रूप,
हर एक रंग में
छककर, जमकर पीता है।
इतने में ही कवि की सारी रामायण
सारी गीता है।

—बच्चन, (जाल समेटा)

विद्वान् पथः पुर एतु ऋजु नेषति (ऋग्० ५।४६।१)
विद्वान् पुरोगामी होकर सरल-सीधे मार्ग से मनुष्यों का नेतृत्व करें।

श्रद्धा के योग्य साहू जी !

(पुष्करलाल आर्य, १२१ काटन स्ट्रीट, कलकत्ता-७)

साहूजी जवाहरलाल जी आर्य व उनके बड़े भाई साहूजी गोविन्दराम जी व बनवारीलाल जो से आर्यसमाज के जरिये ४० वर्षों से मेरा निकट सम्बन्ध रहा है। मैं जब सिलीगुड़ी जाता तो इन्हीं के घर भोजन करता एवं वे भी कभी कलकत्ता आते थे तो बिना मिले नहीं जाते थे। मिलने पर समाज सम्बन्धी ही बातें हुआ करती थीं। २० वर्षों से वे भी चाहते और मैं भी चाहता था कि आपस में कोई सम्बन्ध किया जाय, जो इस मित्रता को स्थाई बना सके। उनके भतीजे चि० प्रकाश-चन्द जी ने उनकी पुत्री से मेरे ज्येष्ठ पुत्र चि० देवराज का रिश्ता करने की बात चलायी। मैंने बड़े उत्साह से सम्बन्ध स्वीकार किया। बिना खोल बान्ध बिना सावे (बिना दहेज) वैदिकपद्धति से यह विवाह आनन्द और उत्साह से सम्पन्न हुआ। इससे हम लोगों की घनिष्ठता और बढ़ गयी। आर्य-महिला समाज की स्थापना केलिए मैं सिलीगुड़ी गया एवं दार्जिलिंग और खरसांग भी आर्यसमाज केलिए जाने पर सिलीगुड़ी बीच में पड़ने से वहाँ ठहरना होता था।

पहले सिलीगुड़ी आर्यसमाज के पास गुरुंग बस्ती में खाली जमीन एवं एक कच्ची झोपड़ी थी। मैं चाहता था कि यहाँ शीघ्र ही रहने की सुन्दर व्यवस्था हो। इस हेतु मैं एक बार सिलीगुड़ी जाने पर साहूजी के घर न ठहर कर आर्यसमाज में ठहरा, जो साहूजी को बिल्कुल न भाया एवं वे वहाँ की तकलीफों (मच्छरों एवं खटमलों का बाहुल्य, गीदड़ों की चीत्कार एवं शून्यता) को कहते हुए घर चलने का आग्रह करने लगे। तब मैंने हँसते हुए कहा—साहूजी ! अगर मुझे आराम ही देना है तो आर्यसमाज का भवन बनवा दें। वह बात उन्हें लग गयी और सतत प्रयत्न करके आर्यसमाज का सुन्दर भवन बनकर तैयार हो गया। यह थी उनकी निष्ठा, लगन, कर्मठता और दानशीलता। ऐसे ही स्वाभिमान के धनी पुरुषों को कहीं चोट आ जाती है या उन्हें छेड़ दिया जाता है तो वे अपनी आन पर आ जाते हैं और इसी आन से समाज, जाति, धर्म और राष्ट्र का भला हो जाता है। ऐसे ही तो स्वामी श्रद्धनन्द के स्वाभिमान पर थोड़ी सी चोट लगी थी जिससे प्रेरित होकर वे कन्या-गुरुकुल महाविद्यालय एवं गुरुकुल काँगड़ी जैसे विश्वविद्यालय की स्थापना कर गये।

वे जहां कहीं भी मिले समाज के प्रचारार्थ ही बातें हुआ करतीं और साहित्य का आदान-प्रदान हुआ करता।

हमारे साहूजी का व्यक्तित्व बड़ा आकर्षक था। लम्बा-चौड़ा शरीर, सौन्दर्य और कान्ति से भरा हुआ हंसमुख चेहरा आज भी याद आता है। उनका भोजन एवं रहन-सहन सात्विक था। उनकी दिनचर्या में संध्या एवं हवन की प्रमुखता थी। यही कारण था कि उनका सारा परिवार वैदिक विचारों वाला हो गया था। ऐसा कभी विचार में भी नहीं आया था कि वे इतनी जल्दी हमारे बीच से चले जायेंगे।

उनकी पत्नी भी धर्मपरायणा, सुशीला एवं उदारमना हैं। समाजसेवा में रुचि रखने वाली मीठी वाणी से सत्य बोलने वाली आर्यमहिला हैं। अतिथियों का उचित सत्कार एवं दयालुता उनका

सिंहा इव नानदति प्रचेतस. (ऋ० १।६४।८)
ज्ञानी सिंह के समान गरजते हैं।

स्वभाव है। ऐसे दम्पती के संस्कारों में पलकर उनकी सन्तानें भी धर्मपरायण एवं सद्गुणयुक्त हुईं। उनकी पुत्री सौ० राजकुमारी जो मेरी पुत्र-वधू है, बहुत ही सुशील, कर्मठ एवं धर्मनिष्ठ है। अपने से बड़ों की सेवा, समाज वालों के सौहार्द्र, अपने से छोटों में वात्सल्य एवं स्नेह रखना जैसे उसने जन्म से ही सीखा है। यदि कोई उस पर नाराज हो जाय तो भी बड़ी ही विनम्र एवं स्नेहिल भाव से उस क्रोध को शान्त करने का अनोखा गुण उसमें है।

साहजी के निधन से उनकी धर्मपत्नी तथा उनकी सन्तानों को जो असह्य एवं मर्मान्तक पीड़ा हुई है, मुझे उससे सहानुभूति है। यह जानकर कि विधि का विधान टाला नहीं जा सकता, प्राणी नतमस्तक हो जाता है। साहजी का देहावसान हो गया, परन्तु उन्होंने जो सत्कर्म किये हैं वे समाज केलिए उदाहरण रहेंगे।

मुझे विश्वास है कि उनके पाँचों सुपुत्र उनके बताए हुए वैदिकमार्ग पर चलते हुए आर्यसमाज का पूर्ण निष्ठा के साथ कार्य करेंगे। यही उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि साहजी का दिवंगतात्मा जहाँ कहीं भी हो सुखी और आनन्दित रहे, उनका परिवार हमेशा सुखी और सम्पन्न रहे।

सिलीगुड़ी के जागरूक कार्यकर्त्ता

(जयसिंह, कुण्डलिया, सिलीगुड़ी)

जवाहरलाल जी से मेरा परिचय एक लम्बी अवधि से रहा है। उनके ज्येष्ठपुत्र आनन्ददेव से मेरी घनिष्ठ मित्रता रही है, जिसके कारण मैं प्रायः उनके घर पर जाया करता था। उनकी विद्वत्ता के कारण मैंने अपने मन ही मन में उन्हें अपना मार्गदर्शक मान लिया था। वे एक प्रगतिशील व्यापारी तथा धर्मनिष्ठ व्यक्ति थे। उनकी व्यवहारिकता में कर्म और धर्म का अनुकरणीय सामञ्जस्य था। उन्होनें अपने परिवार को जिस अनुशासित रूप से सुसंस्कृत किया, यह आधुनिक समाज का एक श्रेष्ठ उदाहरण है। जिन्दादिली उन के जीवन में सदैव देखने को मिलती थी। सिलीगुड़ी आर्यसमाज के उत्थान में उनका सराहनीय योगदान रहा। अन्य मतावलम्बियों के विचार भी वे पूरी निष्ठा से सुना और समझा करते थे तथा कभी भी किसी मत की कट आलोचना नहीं किया करते थे। वे सदैव मुझसे जैन मतों के सम्बन्ध में विचार विमर्श भी किया करते। वे हमारे सम्पूर्ण सिलीगुड़ी समाज के एक जागरूक कार्यकर्त्ता तथा विवेकशील सदस्य थें। आज वे हमारे बीच नहीं है लेकिन उनके गरिमापूर्ण सानिध्य का अभाव हम हमेशा अनुभव करते रहेगें।

मज्जन्त्यविचेतसः (ऋक्० ९।६४।२१)
अज्ञानीजन डूब जाते हैं।

सिलीगुड़ी आर्यसमाज के प्राण !

(पुरुषोत्तमलाल सर्राफ, मन्त्री, आर्यसमाज, हवड़ा)

स्व० जवाहरलाल जी आर्य के बारे में कुछ लिखने से पहले समझ में नहीं आ रहा कि उस महान् व्यक्तित्व के बारे में क्या लिखूं ? जवाहरलाल जी से मेरा परिचय उनके पुत्र चि० अशोक कुमार के विवाह के अवसर पर सिलीगुड़ी में हुआ। मुझे उस समय उनको व उनके परिवार को निकट से समझने का अवसर मिला। उसके बाद जब भी उनसे मुलाकात हुई, वे हँसते हुए ही बात करते थे। उनसे मिलने पर सिर्फ आर्यसमाज के बारे में ही चर्चा होती थी। वे कलकत्ता जब भी आते थे, हवड़ा आर्यसमाज के सत्संग में जरूर आते थे। सत्संग के पश्चात् आर्यसमाज की गतिविधि के बारे में चर्चा होने लगी। चर्चा के दौरान ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के बंगभाषा में चर्चा का जिक्र आया, जिसमें अर्थसंकट से उन्हें अवगत कराया गया एवं उनके समाज से सहायतार्थ निवेदन किया गया। उन्होंने कहा यहाँ से सिलीगुड़ी जाकर अपने समाज के अधिकारियों से बात करके आपको सूचित करूंगा। मैंने सोचा टालने का रास्ता निकाला है। लेकिन कुछ ही दिनों बाद उनका पत्र मिला—"हमारे समाज की अन्तरंग सभा ने इस पुनीत कार्य के लिए २५०० रु० पास किये हैं। आप यह राशि चि० आनन्द से जब चाहें ले लेवें। इस कार्य को अवश्य पूरा कीजिएगा। और कोई बाधा आयेगी तो उस पर विचार किया जायेगा।"

तब मुझे ज्ञात हुआ कि उन्होंने मेरी बातों को कितनी गहराई से लिया था। उन्होंने एक स्तुत्य उदाहरण यह भी प्रस्तुत किया कि प्रधान पद पर होते हुए और इच्छा होते हुए भी उन्होंने बगैर अन्तरंग सभा की सलाह के कुछ देने की घोषणा नहीं की। इससे दूसरों को भी शिक्षा मिलती है और संगठन मजबूत होता है।

सिलीगुड़ी आर्यसमाज के तो वे प्राण थे। श्री रतिराम जी शर्मा व जवाहरलाल जी की जोड़ी आर्यसमाज सिलीगुड़ी के इतिहास में अमर रहेगी। इन दोनों व्यक्तियों ने मिलकर आर्यसमाज के सत्संग व वार्षिकोत्सव में जब भी पुष्करलाल जी आर्य के साथ आते थे व बैठते थे तो दोनों का व्यक्तित्व देखते ही बनता था। सन् १९८४ में वार्षिकोत्सव के अवसर पर स्व० मिहिरचन्द्र जी धीमान का हवड़ा आर्यसमाज की ओर से अभिनन्दन जवाहरलाल जी की अध्यक्षता में किया गया था। बीमारी के समय जब इनको कलकत्ता के बेलभिउ नर्सिंग होम में भरती कराया था तब उस समय जब भी मैं उनसे मिलने गया तकलीफ की हालत में भी वे हँसते हुए बात करते थे।

ऐसे महापुरुषों से ही आर्यसमाज का नाम विश्व में उज्ज्वल हुआ है। परमपिता परमात्मा उनके पुत्रों को उनके पदचिह्नों पर चलाते हुए आर्यसमाज के कार्य को आगे बढ़ाने की प्रेरणा व शक्ति प्रदान करें।

एक मुस्कराता चेहरा : स्व० जवाहरलाल जी आर्य !

(पं० सत्यप्रिय जी शास्त्री, एम०ए०, साहित्याचार्य
आचार्य—दयानन्द, ब्रह्ममहाविद्यालय, हिसार, हरियाणा)

श्री जवाहरलाल जी आर्य के साथ मेरा सर्वप्रथम परिचय इस शताब्दी के सातवें दशक में हुआ था। एक विधवा-विवाह के प्रसंग में मेरा सर्वप्रथम सिलीगुड़ी जाना हुआ। आर्य जगत् के यशस्वी एवं सात्विक स्वभावी व्यवसायी एवं उद्योगपति स्व० लालमणि जी आर्य भी साथ थे। वहाँ मैंने उस कार्य की सफलता में बढ़-चढ़कर भाग लेने वाले एक हृष्ट-पुष्ट, गौर वर्ण मुस्कराते सदा प्रसन्न चेहरे को देखा। समारोह की समाप्ति के पश्चात् एक दिन उनके घर में निवास तथा खान-पान का कार्यक्रम भी हुआ। पूछने पर ज्ञात हुआ कि इनका नाम श्री जवाहरलाल आर्य है। हरियाणा प्रदेश के निवासी हैं तथा एक लम्बे अरसे से व्यापार के निमित्त सिलीगुड़ी में निवास करते हैं। मैंने जो एक बात अनुभव की, वह यह कि सदा मुस्कराते रहना उनकी अपनी एक विशेषता थी। इसी एक गुण से वे कितने मनुष्यों को आत्मीयता के बन्धन में बाँध लेते थे। वे न केवल मुस्कान लिये हुए थे, अपितु उस मुस्कराहट के पीछे उनके जीवन की स्वच्छता, सात्विकता एवं आर्यत्व झलकता था। वे नित्य हवन करने वाले सच्चे आर्य थे। जहाँ वार्तालाप में दूसरे पर आर्यत्व की छाप छोड़ते थे, वहाँ स्वयं भी जीवन में आर्यत्व का मूर्तरूप थे। उनके आर्यत्व की यह दृढ़ता उनके जीवन के प्रत्येक क्रियाकलाप से झलकती थी। उसके पश्चात् तो न जाने कितनी बार उनसे सम्पर्क हुआ तथा उनके पास ठहरने का अवसर मिला, व्यवहार में कितने निपुण थे, निम्नलिखित घटना साक्षी है।

एक संस्था केलिए धन संग्रहार्थ सिलीगुड़ी जाना हुआ। कार्य-समाप्ति पर जब चलने लगे तब उन्होंने मार्ग केलिए भोजन बाँध कर दिया, उसके साथ ही बोतल में पीने का पानी भी दिया। इस पर मैंने सहसा कह दिया कि आर्यजी यह क्या? पानी देने का क्या औचित्य है! तब वे बोले कि हरयाणा में तो भोजन से पूर्व पानी ही दिया जाता है इसलिए वहाँ की भाषा में कहा जाता है कि भोजन पानी दो। तो फिर बिना पानी के भोजन कैसा? इन थोड़े से शब्दों में एक मौलिक व्यवहार की बात उन्होंने समझा दी थी जिसे मैं तब तक सामान्य बात समझे हुए था। जब-जब भी हम वहाँ गये, उन्होंने तब-तब अपने घर पर सत्संग का आयोजन किया। केवल मात्र आयोजन ही किया हो, ऐसा नहीं, बल्कि स्वयं भी रुचिपूर्वक सत्संग में बैठते थे और प्रवचनों को सुनते थे। उनके पश्चात् यथासमय धार्मिक मन्तव्यों के सम्बन्ध में शंका-समाधान भी किया करते थे। एक समय मैंने पूछा कि आर्य जी! आप स्वाध्याय कब करते हैं, क्योंकि आप व्यापारी हैं। इस कार्य में स्वाध्याय का समय कैसे निकाल पाते हैं, क्योंकि आपके प्रश्नों से मुझे आप में स्वाध्याय की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने बताया कि स्वाध्याय का मेरा समय निश्चित नहीं है। जब भी समय मिलता है तभी पुस्तक की दो चार पंक्तियाँ पढ़ लेता हूँ। वह समय चाहे खाते समय मिले या सोते समय अथवा दूकान पर मिले। उनमें दान की प्रवृत्ति ऐसी थी कि देते थे परन्तु नाम केलिए नहीं देते थे। न जाने कितने छात्रों को छात्र वृत्तियाँ देते थे। परन्तु यथाशक्ति प्रयत्न करते थे कि उनका नाम गुप्त रहे।

यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म (शत: ब्रा० १।७।१।३)
यज्ञ ही श्रेष्ठ कर्म है।

एक बार हम संस्था केलिए माँगने गये, जितनी राशि उन्होंने हमें प्रदान की, हमारे विचार से हमें उनकी हैसियत से कम जँची। तब मैंने कहा कि आप ही इतनी राशि हमें देंगे तो दूसरों से हम अधिक की कैसे आशा कर सकते हैं। मेरे इतना कहते ही उन्होंने राशि दुगुनी कर दी। पाठकों को ध्यान रहे कि हमें बाद में ज्ञात हुआ कि उससमय उनकी व्यापारिक स्थिति भी ठीक नहीं थी, क्योंकि असम आन्दोलन के कारण व्यापारी बुरी तरह प्रभावित था। इसके साथ ही वे व्यापार का अधिक हिस्सा अपनी सन्तान पर छोड़कर निश्चिन्तता तथा विरक्तता की ओर जा रहे थे। ऐसी स्थिति में उन्होंने जो कुछ किया वह उनके दृढ़ आर्यत्व, मिशनरी संस्थाओं के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का भी परिचायक था। उन्हीं के प्रधानत्व में मुझे आर्यसमाज सिलीगुड़ी के उत्सव में जाने का शुभावसर भी मिला था। उनकी व्यवस्था देखकर जहाँ प्रसन्नता हुई थी, वहाँ आश्चर्य भी हुआ था। इसप्रकार अपने जीवन के द्वारा भावी पीढ़ी को आर्यत्व का सन्देश देने वाले कितने सच्चे आर्य होंगे। उनकी सन्तान उनके दिखाये मार्ग पर चल रही है यह जहाँ सन्तोष तथा हर्ष का विषय है, वहाँ उनके आर्यत्व से ओत-प्रोत जीवन का शुभ परिणाम भी है। ऐसे इन्सान थे जो एक दशाब्दी में तो क्या अनेक दशाब्दियों में एक भी आ जावे तो मानव जाति का परम सौभाग्य समझना चाहिए। उनके जाने से आर्यसमाज सिलीगुड़ी का सुदृढ़ स्तम्भ गिर गया है। परमात्मा शक्ति दे कि सिलीगुड़ी समाज उस क्षति की पूर्ति करने में समर्थ हो सके। उनका मुस्कराहट भरा चेहरा हमें सदैव आर्यत्व के सन्मार्ग पर चलने की सत्प्रेरणा देता रहेगा।

आदर्श सद्गृहस्थ

(स्वामी जगदीश्वरानन्द सरस्वती, एच १/८, माडल टाउन, दिल्ली–११०००९)

मेरा श्री जवाहरलाल जी आर्य से विशेष सम्पर्क नहीं रहा। सात-आठ वर्ष पूर्व आर्यसमाज सिलीगुड़ी के वार्षिकोत्सव पर आपके श्रीगृह पर ठहरने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। उस समय आपको निकट से देखा था।

आपका आतिथ्य प्रेम अनुकरणीय था। प्रतिदिन अनेक व्यक्तियों का भोजन हो रहा है, अनेक व्यक्तियों के ठहरने की सुव्यवस्था थी। सभी गृहदेवियाँ भी अत्यन्त श्रद्धापूर्वक आतिथ्यसेवा में संलग्न दिखाई देती थीं। सभी पुत्रों और बच्चों में भी श्रद्धा ओत-प्रोत दिखाई देती थी।

घर पर प्रतिदिन यज्ञ होता था जिसमें घर के सभी सदस्य–आबाल-वृद्ध-नर-नारियाँ सम्मिलित होते थीं।

रात्रि में आर्यसमाज के उत्सव से लौटने के पश्चात् ११-०० बजे तक विद्वानों के निकट बैठकर अनेक विषयों पर वार्तालाप और हास्यसम्मेलन होता था।

श्री जवाहरलाल जी स्वयं ही आर्य नहीं थे, उन्होंने अपने सारे परिवार को भी आर्यत्व के साँचे में ढाला था।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि उनके पुत्र उनकी स्मृति में एक स्मृतिग्रन्थ निकाल रहे है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि उनके सभी पुत्र और पुत्रियाँ, नाती और पोते उनके पदचिह्नों पर चलते हुए उन्हें सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित करेंगे।

दक्षिणावन्तो अमृतं भजन्ते (ऋ० १।११२।६)
दानी अमृतपद प्राप्त करते हैं।

आर्यरत्न

(ज्योत्सना शर्मा, अध्यापिका हिन्दी हाई स्कूल, बालिका विभाग, सिलीगुड़ी)

शीर्षक देखकर पाठकगण सोच रहें होंगे कि मैं पता नहीं किस हीरे जवाहरात की बातें कर रही हूं। परन्तु वास्तव में मैं जिस महापुरुष के बारे में लिखने जा रही हूं उसको हीरे जवाहरात की उपाधि भी दी जाए तो हीरे जवाहरात अपने आपको गौरवान्वित ही महसूस करेंगे, क्योंकि वह महान् आत्मा इनसे कहीं ज्यादा ही आलोकित थी।

स्व० जवाहरलाल जी आर्य के आचार-विचारों में हीरे जैसी जगमगाहट, मुक्ता जैसी शान्ति एवं प्रबल एवं स्फटिक जैसी गहराई थी। आज भी उनके निवास में प्रवेश करने पर उनके शुद्ध, सशक्त एवं शान्त विचारों की झलक सभी ओर दृष्टिगोचर होती है। हमारे मध्य न होते हुए भी यही प्रतीत होता है कि वह महान् आत्मा अभी यहीं कहीं से उपस्थित होकर हमारा मार्गदर्शन कर हमें लाभान्वित करेगी। उनके उज्ज्वल, शुद्ध एवं सशक्त विचारों की झलक हमें उनके प्रत्येक बच्चे में दृष्टिगोचर होती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि उनके परिवार के प्रत्येक सदस्य ने उनकी नियमित दिनचर्या के मुक्तामय विचारों को धागे में पिरोकर अपने गले में डाल लिया हो, जिससे उनका जीवन शुद्ध हो गया है।

स्व० जवाहरलाल जी आर्य अपने परिवार के सदस्यों केलिए ही नहीं वरन् अपने समाज और देश के लिए भी एक विभूति थे, वे प्रतिष्ठित एवं महान् व्यक्तियों में से एक थे, जो "वसुधैव कुटुम्बकम् पर विश्वास करते थे। "अयं निजः परो वेति गणनालघुचेतसाम्। उदार चरितानाँ तु वसुधैव कुटुम्बकम्"—उनका मूल-मन्त्र था।

उनके महान् व्यक्तित्व के बारे में दो शब्द लिखना तो सूर्य को दीपक दिखाने जेसा ही है। फिर भी मैंने कुछ प्रकाश डालना अपना कर्त्तव्य समझा है। साथ ही उस विभूति के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रदर्शित करती हूं।

जगत् की रक्षा केलिए विश्व का पवित्र आचरण यज्ञाग्नि की तरह से है। सामग्री से चारों दिशाओं में, पृथ्वी से लेकर सूर्य तक सृष्टि यज्ञ चल रहा है। बिना किसी रूप-रंग और आकारवाला, मंत्रों का स्वामी प्रभु इस यज्ञ का यजमान है। इस यज्ञ-कार्य के लिए आकाश सर्वोत्कृष्ट यज्ञकुण्ड के रूप में विद्यमान है।

—स्व० डा० नारायणमुनि चतुर्वेदी (स्तुतिशतक)

यज्ञो विश्वस्य भुवस्य नाभिः (अथर्व० ९।१०।१४)
यज्ञ संपूर्ण ब्रह्मांड को बाँधने वाला नाभिस्थल है।

स्व० जवाहरलाल आर्य : एक अनूठा व्यक्तित्व !

(सर्वेश्वरझा, महामन्त्री, आर्यसमाज, सिलीगुड़ी)

प्रधान जी ! हाँ, उनके लिए मेरा यही सम्बोधन था। जबसे मैं उनके सम्पर्क में आया, तब से मैं उन्हें इसी सम्बोधन से सम्बोधित किया करता था। कितना विराट व्यक्तित्व था उनका, यह आज मैं महसूस कर रहा हूँ। जब कोई छोड़ कर हमेशा-हमेशा केलिए चला जाता है, तब ...सिर्फ तब महसूस होती है उस व्यक्ति की कमी, सिर्फ तभी मालूम होता है, छोड़कर जाने वाले व्यक्ति का व्यक्तित्व कितना विराट था। उसकी एक-एक बात, छोटी-छोटी बातें, विशेष रूप लिये स्मृति के पटल पर उभरती हैं और हम अवाक् हो जाते हैं, उसके उस विशेष रूप को देखकर।

मैं जबसे आर्यसमाज के सम्पर्क में आया, तब से उनका अन्तरंग बन बैठा। आठ वर्षों से मैं आर्यसमाज सिलीगुड़ी के मन्त्री पद का दायित्व सम्भाल रहा हूँ। इन आठ वर्षों में वे सर्वाधिक काल तक प्रधान पद पर रहे। प्रधान पद पर रहते हुए उन्होंने हमेशा मुझे दिशा निर्देश दिया। उनका जीवन एक समर्पित जीवन था। मैं हमेशा उनके जीवन और आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण करता रहा। जब कभी मैं अपने लक्ष्य से भटक जाता, वे परम आत्मीय की तरह मुझे लक्ष्य की ओर लौटा लाते। गलती करने पर जब कभी वे मुझे कुछ कहते तो उनके कहने के लहजों में प्यार का भाव ही अधिक होता। इसलिए उनका प्यार भरा फटकार, फटकार जैसा नहीं लगता, पुरस्कार जैसा लगता। वे हमारे अभिभावक की तरह थे। उनका स्नेह हमेशा हमारे ऊपर बरसता रहता।

वे स्थितप्रज्ञ थे। द्वन्द्व की स्थिति में कभी उनके चेहरे पर पीड़ा, उद्वेग, क्षोभ या विवशता के भाव को पूँजीभूत होते हुए मैंने नहीं देखा। उससमय भी वे निर्विकार से दिखाई देते। उस समय भी उनके चेहरे पर मुस्कान लहराया करती। आर्यसमाज के कार्य के सिलसिले में जब कोई समस्या किसी कारण से उठ खड़ी होती तो बड़े धैर्य एवं संयम से काम लेते और उस समस्या को सुलझाने में अपनी अनोखी सूझ-बूझ का परिचय देते। उनके संयमित व्यवहार से प्रभावित हो भूल करने वाला व्यक्ति उनके सामने झुक जाता और फिर से भूल न करने की शपथ लेता। ऐसा प्रभावी व्यक्तित्व था उनका।

उनका पारिवारिक जीवन बड़ा शुद्ध और शान्त था। जब कभी मैं उनके निवासस्थान पर पहुँचता तो चारों ओर एक अनुशासित व्यस्तता दिखाई पड़ती। प्रतिदिन प्रातःकाल अपने नित्य-क्रिया से निवृत्त हो देवयज्ञ से पूर्व वे छत पर सूर्यस्नान करते हुए संध्या करते। उस समय उनके चेहरे पर एक सात्विक तेज उद्भासित होता। उनके द्वारा उच्चारित मंत्र वातावरण में संगीत की तरंग उत्पन्न करते।

आर्यसमाज के कार्यकर्त्ता या कर्मचारी के अधिकार एवं उनकी गरिमा की रक्षा केलिए संघर्षरत तत्त्वों को वे हमेशा बल प्रदान करते रहे। किसी भी कर्मचारी के मन में असुरक्षा की भावना उन्होंने पैदा नहीं होने दी। संघर्ष की स्थिति में वे हमेशा न्याय का पक्ष लिया करते थे। उनके

ईजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् (अथर्व० १८।४।२)
यज्ञ करने वाले स्वर्गलोक (उत्तमगति) को प्राप्त करते हैं।

महाप्रयाण के बाद अब मैं महसूस करता हूँ कि किसी संगठन के सदस्य न अयोग्य होते हैं और न आलसी। लेकिन उचित नेतृत्व का अभाव उसे अयोग्य या आलसी बना देता है। मैं जब भी आर्यसमाज के किसी कार्य के संदर्भ में कोई सलाह या अनुमति माँगने जाता तो एक मीठी झिड़की के साथ कहते—"मंत्रीजी ! अनुमति की आवश्यकता तो उसे होती है जो दायित्व का बोझ अपने कन्धों पर नहीं उठा सकते या उठाना नहीं चाहते।" मुझे उस समय अहसास होता कि उनके अन्दर से उनका अपरिमित स्नेह और विश्वास बोल रहा है। उनकी उत्साहमयी वाणी मेरे अन्दर विश्वास पैदा करती, बल पैदा करती, और उत्साह पैदा करती और मैं कार्य में जुट जाता। मेरे निर्णय को उन्होंने कभी टाला नहीं, मेरे प्रति उन्होंने कभी शंका नहीं की। उनका अटूट विश्वास मुझे प्राप्त था।

एक बार आर्यसमाज की ओर से हम कई व्यक्ति मटला (किलकोट चाय बगान) प्रचार कार्य केलिए गये हुए थे। प्रधानजी साथ थे। यज्ञ के पश्चात् प्रधानजी ने कहा—"हमलोगों को मध्य गाँव में चलना चाहिए।" मैंने उनकी ओर प्रश्न सूचक दृष्टि से देखा, तो उन्होंने स्पष्ट करते हुए कहा—"यहाँ के लोगों से परिचय प्राप्त करना, उनकी जीवनपद्धति को समझना, उनकी कठिनाइयों एवं समस्यओं को जानना, उनके दैनिक कार्यक्रम का निरीक्षण करना आवश्यक है।' मैं उस मेजवान यजमान के यहाँ से तुरन्त चलने को तैयार हो गया, वे तैयार थे ही। मैंने उस दिन प्रधान जी को एक नये रूप में देखा और देख कर आश्चर्यचकित हो उठा। वनवासियों के साथ लगभग दो घण्टे तक वे बातचीत करते रहे। मैंने देखा कि जानने-सुनने को कुछ नया हो, करने को कुछ अपूर्व हो, सामने एक चुनौती हो तो वे स्वयं को भूल जाते हैं।

एक दिन की घटना है कि जब आर्यसमाज मन्दिर बन कर तैयार हो गया, तो हम दोनों घूमते हुए आर्यसमाज मन्दिर तक गये और मन्दिर परिसर में बैठ कर बातें करने लगे। बातचीत के क्रम में प्रधान जी ने भावपूर्ण शब्दों में कहा—"मंत्री जी ! अब मन्दिर बनकर तैयार हो गया है। मेरी अभिलाषा पूर्ण हो गयी। यह मेरी पूजास्थली है। यह मेरा लक्ष्य है, मेरा स्वर्ग है, मेरा तप है और मेरी शान्ति है।" ऐसी ही बातें उन्होंने एक बार तब कहीं थीं जब वैदिक विद्याप्रतिष्ठान केलिए २१ बीघे जमीन ली गयी। एक दिन जमीन का निरीक्षण करते हुए एकाएक प्रधान जी की सुषप्त भावनाएं जागृत हो उठीं। मन की दबी हुई आकांक्षाए प्रकट हो गयीं। उद्गार उद्भासित हो उठा और बोल उठे—"मास्टरजी ! (मेरे प्रति उनके दो सम्बोधन रहे—कभी मंत्रीजी, कभी मास्टरजी) यह प्रतिष्ठान एक दिन मानव-जीवन को उपलब्धि प्रदान करने वाला बनेगा। इसमें प्राणों को प्रेरणा देनेवाली शक्ति पनपेगी। इस प्रतिष्ठान की पावनता बंगाल के इस उत्तरा-खण्ड में एक सशक्त पवित्र स्रोत के रूप में मानव-जीवन को आप्लावित करेगी। इस प्रतिष्ठान में भावी पीढ़ी का निर्माण होगा और यह पीढ़ी स्वस्थ बुद्धिमान्, कर्त्तव्यपरायण, देशभक्त तथा सच्चरित्र होगी। इसके लिए क्या-क्या चाहिए इसकी व्यवस्था शीघ्र करनी पड़ेगी। वे बोल रहे थे और मैं अवाक् होकर सुन रहा था। प्रतिष्ठान को मूर्तरूप देनें के लिए उनमें एक गहरी बेचैनी और शीघ्र कुछ कर गुजरने की व्यग्रता थी। काश ! वे ऐसा कर पाते।

अयज्ञियो हतवर्चा भवति (अथर्व० १२।२।३७)
यज्ञहीन का तेज नष्ट हो जाता है।

स्व० श्री जवाहरलाल जी आर्य : एक निश्छल आर्य व्यक्तित्व

(डॉ० पुष्पावती, अध्यक्षा—मातृमन्दिर, कन्या गुरुकुल, वाराणसी)

भाई जवाहरलाल जी आर्य इस धरा पर नहीं हैं, उनके अब कभी दर्शन न होंगे, यह कटु सत्य हृदय को बेध रहा है। भाई जी से प्रथम परिचय हुआ था जब सन् १९७६ में मैं अप्रैल में आर्य-समाज सिलीगुड़ी के उत्सव पर गई थी। उन्हीं के निवास पर मेरे ठहरने की व्यवस्था की गई थी। पहले मैं नितान्त अपरिचित परिवार में कुछ सकुचाई, पर भाई जी व बहन दुर्गादेवी जी की सरलता से परायापन बिल्कुल समाप्त हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ कि मैं अपने ही परिवार में हूँ।

कलकत्ता निवासी श्री पुष्करलाल जी से मेरा पूर्व परिचय था। भाई जी उनके निकट सम्बन्धी हैं इसलिए परिचय में और घनिष्ठता घुल गई। भाई जी की सरलता व निश्छलता से मैं अत्यधिक प्रभावित हुई। बहन जी (दुगादेवी) के स्नेहभाव ने मुझे इस परिवार के अत्यधिक निकट ला दिया। मैं भी नि:संकोच सब बात करने लगी। तीन चार दिन के आवास की स्मृति मेरे मन पर देर तक बनी रही।

मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा जब अगले वर्ष प्रिय बहन जी ने मातृमन्दिर केलिए अपने एव स्त्री आर्यसमाज की ओर से वार्षिक सहायता की राशि भेजी। सिलीगुड़ी में मैंने वहाँ के तात्कालिक मंत्री जी से तो एक निर्धन छात्रा के व्यय की बात कही थी, पर दुर्गादेवी जी व जवाहरलाल जी से आर्थिक सहायता के सम्बन्ध में कोई बात नहीं हुई थी। परन्तु मैं चकित रह गई यह देखकर कि जिससे सहायता की सम्भावना थी और जिसने आश्वासन भी दिया था, वहाँ से तो प्रत्युत्तर नहीं मिला और जिससे कुछ चर्चा भी नहीं की थी, उसने सहायता की राशि भेज दी। बिन माँगे सहायता का यह अद्भुत उदाहरण था और तब से लगातार प्रतिवर्ष यह सहायता भेजी जा रही है। और फिर यह सहायता भेजी जा रही है बिना किसी प्रतिदान की भावना के। सामाजिक सम्बन्धों के सूत्र को सुदृढ़ करने में इसप्रकार के निष्काम सहयोग बहुत महत्त्व के हैं। इसप्रकार की लघु राशि लाखों करोड़ों रुपये की तुलना में बड़ी होती है।

सहायता तो और लोग भी देते हैं। पर कई व्यक्ति इस रूप में देते है कि उनका अहंभाव उसमें झांक रहा होता है तथा वे ये जता देते हैं कि वे कुछ दे रहे हैं। परन्तु श्री भाई जी व दुर्गादेवी जी इसके अपवाद थे। इसीलिए उनके व्यवहार में शीतलता, मधुरता व अपना बना लेने की भावना प्रबल थी।

तीन चार वर्ष पूर्व भाई जवाहरलाल जी सपरिवार वाराणसी आये थे। प्रथम दिन उनके साथ अन्य बहुत से भाई बहन थे। तब मातृमन्दिर का भवन अधूरा था। इसमें चमक दमक नहीं थी। आगन्तुकों का यहाँ मन नहीं लगा। तब तो भाई जी सबके साथ जल्दी ही लौट गए।

सत्यमेव देवा: (शत: ब्रा० १।१।४)
सत्य ही देवता है।

पर तीसरे दिन पुनः आये। बहन दुर्गादेवी जी के ये शब्द मैं नहीं भूल सकूँगी जो उन्होंने कहे थे। मुझे तो मातृ मन्दिर में शान्ति व स्नेह मिला। मुझे परसों थोड़ी देर ठहर कर तृप्ति नहीं हुई। आज तो मैं अपनी बहन जी के पास सारा दिन रहूँगी, खूब बात करूँगी। मैं हर्ष विभोर हो उठी कि कहीं-कहीं ऐसी भावना अब भी विद्यमान है, जो धन-वैभव के उपकरणों की दासता से ऊपर उठ कर मानवीय सम्बन्धों को अधिक महत्त्व देती है। उस दिन की स्मृति सदा मन पर अङ्कित रहेगी। बहन जी व भाई जी सारा दिन साथ रहे, बाजार में गये, घूमते रहे और न जाने कितनी घटनाओं पर बातचीत करते रहे।

समाज में सभी व्यक्ति विभिन्न आर्थिक स्तरों के हैं। जो व्यक्ति किसी की तुलना में धनी हैं, वह दूसरे धनी की तुलना में निर्धन या कम धनी हैं। आर्थिक सम्पन्नता के कारण जहां व्यक्ति का मूल्यांकन होता हो, वहाँ मानवीय सम्बन्ध कभी जीवन्त नहीं हो सकेंगे और समाज का भवन भी कभी भरभरा कर गिर जायगा। अस्तु, भाई जवाहरलाल जी व दुर्गादेवी जी इस पार्थिव भावना से ऊपर उठे हुए थे।

तीसरी बार भाई जी के दर्शन हुए थे आर्यसमाज सलकिया (हवड़ा) के उत्सव पर दो वर्ष पहले। वही मुस्कराती आकृति, खिला मस्तक और स्नेहपूर्ण उद्गार। उनके अस्तित्व में एक शीलता थी जो अनायास स्निग्धता व शान्ति का प्रसार करती थी।

उनके आकस्मिक निधन का समाचार वज्र सदृश सांघातिक था। पहले तो विश्वास करने को मन नहीं हुआ, पर यही सत्य तो सर्वाधिक प्रामाणिक है व बलवान् है जिसे हृदयङ्गम करना ही पड़ता है–चाहे रोकर, चाहे हंसकर। मैं बहन जी की उस आकृति की कल्पना कर सिहर उठी जिस पर विस्मिति के स्थान पर अब विह्वलता व विषाद की छाया होगी, जिनकी आँखों में एक अन्तहीन प्रतीक्षा समा गई होगी, जो सूने पथ को ताकते-ताकते पथरा जाती होगी। पर किया भी क्या जा सकता हैं, भारी मन से श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर दी ! शीतल किरणों से युक्त चन्द्रमा असमय ही कहीं विलीन हो गया।

भाई जी अपने सुख सम्पन्नतायुक्त भरे पूरे परिवार में ऐसे प्रतीत होते थे जैसे विविध पुष्पों से भरे उद्यान में माली हों। आज वह माली चला गया। पर उसका उद्यान स्थित है। उसकी भावनाएं इस उद्यान के चारों ओर सुरक्षा कवच की तरह फैली हैं। उनका समाज भी उनके भव्य-व्यक्तित्व से समृद्ध था। उनकी साधना की जीवित शिखा दुर्गादेवी जी के रूप में विद्यमान है। उनके परिवार की मंगलकामना करती हुई, दुर्गादेवी जी की आध्यात्मिक शान्ति की प्रार्थना करती हुई मैं आदरणीय भाई जी को श्रद्धा भरा नमन करती हूँ !

तुम्हारी चिर परिचित मुस्कान, भ्रान्त से कर जाती लघु प्राण,
तुम्हें प्रतिपल कण-कण में देख, नहीं अब पाते हैं पहिचान !

—महादेवी वर्मा

सत्यमेव जयते नाऽनृतम् (मुण्ड० ३।१।६)
सत्य की जीत होती है, झूठ की नहीं।

आर्यसमाज के दीवाने साहजी !

(फूलचन्द आर्य, ३३-एन, माडलटाउन, हिसार)

साहजी आर्य से अगाध प्रेम व श्रद्धा थी। मेरी बेटी द्रौपदी के विवाह से पहले ही मिलना जुलना व प्रेम चला आ रहा था। मेरी पुत्री द्रौपदी के विवाह का प्रस्ताव चि० जयदेव जी से करने को हुआ तब साहजी जवाहरलाल जी ने मेरा पूरा समर्थन व सहयोग कर हमारा सम्बन्ध जुड़वा दिया। मैं जब भी साहजी से मिलता, बहुत ही प्रेम व श्रद्धा से हँसते हुए मिलते थे। हम स्वामी दयानन्द दीक्षासमारोह में मथुरा में एक ही तम्बू में रहे थे। चार-पाँच रोज एक साथ ही खाना-पीना व उठना-बैठना हुआ था। उनका चेहरा मेरी आँखों के सामने हर वक्त आता रहता है। वे आर्यसमाज के बड़े ही दीवाने थे। मुझे उनसे मिलकर बड़ी ही प्रेरणा व शान्ति मिलती थी। साहजी जवाहरलाल जी व लालमन जी जैसे सम्बन्धी बहुत ही भाग्यशाली को मिलते है। मैं इनको जब भी अपना 'साहजी' से सम्बोधित करता था तब अपने आपको बड़ा गौरवान्वित अनुभव करता था। वे आर्य-समाज की संस्थाओं को मुक्तहस्त से दान देते थे। उनका पत्र मेरे पास आता था तो उसमें आर्यत्व की पूरी झलक देखने को मिलती थी। उनका निधन मेरे लिए अपूरणीय क्षति है।

सौभ्यता की प्रतिमूर्ति श्री जवाहरलाल आर्य

(मोहनचन्द्र गुप्त, उपमंत्री, आर्यसमाज सिलीगुड़ी, दार्जीलिंग)

श्री जवाहरलाल आर्य अब इस संसार में नहीं रहे यह समाचार सुनकर कानों के प्रति एक बार शंका हो गई और मैंने कहा कि ऐसा कभी नहीं हो सकता, जबकि यह सभी लोग कह रहे थे। एक न एक दिन सभी को इस संसार से जाना है। लेकिन अन्तर इतना ही है कि कोई काम समय से होता है और कोई असमय ही हो जाता है। लेकिन यह निर्विवाद सत्य था कि उनकी आत्मा इस नश्वर शरीर को छोड़ चुकी थी तथा फिर वह अपने बचपन की अवस्था में पहुँच कर इस धरती पर जन्म भी ले चुकी थी।

प्रधानजी से आर्यसमाज के नाते मेरा ५-६ सालों से सम्पर्क था। मुझे वह दिन कभी नहीं भूलेगा जब मैं बीमार था तो प्रधानजी हमें ढाढस बँधाते थे तथा अपने शरीर पर गर्व करके कहते थे कि मोहन। तुम चिन्ता मत करो और अपनी तरफ इशारा करते हुए कहते थे कि देखो मेरा शरीर कैसा है ? लेकिन जब आज उस हँसते हुए चेहरे को नहीं देखता हूँ तो हृदय काँप उठता है और मन कहता है कि क्या ऐसा भी हो सकता है?

प्रधानजी मीटिंग आदि में जिस सौभ्यता, निर्भीकता तथा ईमानदारी से सभी की बातों को सुनकर निर्णय देते थे। वह काविले तारीफ था। मामला उलझ जाने पर जिस शान्तिप्रिय ढंग से सभी को समझाते थे वह अविस्मरणीय बात थी। हम जैसे छोटे व्यक्तियों की बातें भी वह बहुत ही ध्यान से सुनते थे तथा आखिर में अपना निर्णय प्रस्तुत करते थे, जिसे सभी सदस्य हँसते हुए मान लेते थे। ऐसे सौम्यता की प्रतिमूर्ति प्रधानजी के प्रति मेरी सच्ची श्रद्धाँञ्जलि यही है कि मैं उनके द्वारा बताये हुए रास्ते पर चलूँ तथा समाज के हित की बात सोचते हुए उसमें अपना योगदान दे सकूँ।

न वै कामानामतिरिक्तमस्ति (शत०ब्रा० ८।८।२।१९)
कामनाओं के बाहर कुछ भी नहीं है।

श्री जवाहरलाल आर्य : मेरे भ्राता !

(प्रो० प्रलय मजूमदार, सिलीगुड़ी कॉलेज, सिलीगुड़ी)

मुझे उस दिन की स्मृति आज भी बिल्कुल ताजा लगती है। वह १९७५ का मार्च या अप्रैल का महीना होगा। शंकरजी ने मुझे सूचना दी कि कोई १००० ख्रिस्ती का (जो मुख्यत: जयन्तिया क्षेत्र के चाय बागानों में मजदूर थे) "परावर्तन कार्यक्रम" विश्व हिन्दू परिषद् द्वारा आयोजित किया गया है और आर्यसमाज व भारत सेवाश्रम संघ भी उस कार्य में सम्बद्ध है। सम्पूर्ण कार्यक्रम स्वामी हीरमायानन्दजी के नेतृत्व में सम्पन्न होना था। सिलीगुड़ी से भी एक दल को उस शुभ कार्यक्रम में भाग लेना सुनिश्चित था, जिसमें मुझे भी शामिल होने के लिये कहा गया। सौभाग्यवश हमारे उस दान में सिलीगुड़ी आर्यसमाज के दो महत्त्वपूर्ण व्यवित भी उत्सव में उपस्थित होने जा रहे थे। हमें उसी शाम लौटना था।

पूर्व कार्यक्रमानुसार मैं सेवकरोड स्थित तुलारामजी के निवास पर पहुँच गया। वहां एक अजनबी लेकिन अत्यन्त भद्र पुरुष ने अपने दमकते मुखमण्डल से हँसी विखेरते हुए मेरा स्वागत किया। और उस दिन शंकरजी ने उस व्यक्तित्व का परिचय कराया जो थे श्री जवाहरलाल आर्य, उनके स्वस्थ शरीर व खुली हँसी ने मुझे कहीं गहरे तक प्रभावित किया था।

करीब नौ बजे हम कार से अपने गंतव्य केलिये चले थे। लेकिन दुर्भाग्यवश कार में वारबार खराबी आने लगी। कार को कई जगह रुकना पड़ा लेकिन अन्त में एक ट्रक ड्राइवर की मदद से उस कार को दोपहर के बाद ही राजाभाट्टखावा में ठीक कर पाये। अब शाम को सिलीगुड़ी वापिस तो क्या हमें हातीपोटा पहुँचने की ही चिन्ता हो रही थी। लेकिन हमारे साथ एक व्यक्तित्व ऐसा था जो इन बाधाओं के बावजूद अपने मृदु हास्य से अपने मुखमण्डल को आलोकित कर रहा था, वो थे जवाहरलाल जी। उनका साथ ऐसा मनोंरजक था कि सड़क पर बिताए उन लम्बे समय में हमने कोई बोरियत महसूस ही नहीं थी।

शाम तक हम हातीपोटा पहुँचे। यहां मुझे श्री जवाहरलाल जी के साथ एक ही कमरे में विश्राम का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सोने से पहले भी हम अगले दिन के कार्यक्रम के विषय में बातें करते रहे। वे इस कार्यक्रम में बेहद दिलचस्पी रख रहे थे।

जवाहरलाल जी को प्रात: बहुत जल्द उठने की आदत थी; मैं भी उस दिन बहुत जल्द उठ गया। तब हमें पता चला कि परावर्तन-उत्सव दिन के ग्यारह बजे प्रारम्भ होगा। हमारे दल के कुछ सदस्यों ने प्रसिद्ध "महाकाल" के दर्शन का कार्यक्रम बनाया। जवाहरलाल जी ने तो बिल्कुल मना कर दिया लेकिन मेरे अात्यन्त आग्रह पर उन्हें भी हमारा साथ देना पड़ा। श्री व्होरा भी उनकी हाँ पर हमारे साथ हो लिये। रास्ते भर वे इस तरह की तीर्थयात्रा की महत्ता पर हँसी के दौरान ही उन्होंने मुझ से बड़ा गम्भीर प्रश्न किया कि हमारी इन तीर्थयात्राओं से हमारे देश को क्या मदद हुई है? और कहाँ तक हिन्दुओं का धर्मान्तिरण रोकना सम्भव हुआ है ? मैं जवाब ही नहीं दे पाया लेकिन

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर (अथर्व० ३।२४।५)
सैकड़ों हाथों से इक्ट्ठा करो और हजारों हाथों से बांटो।

उससमय उनका हमारी आस्था का इस कदर मखल उड़ाना मुझे बिल्कुल अच्छा नहीं लगा था। इसी तरह की उनकी फुलझड़ियों व हमारी कुंठा के बीच चलते हुए हम महाकाल पहुँचे। हमने अपनी ही तरह वहां की गुफा में पूजा करने केलिये श्री जवाहरलाल जी को आमन्त्रित किया, लेकिन इस बार हमारी दाल नहीं गली। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में हमसे कहा कि जिसे इन सब में विश्वास हो वो ऐसा करें; उन्हें इनमें कोई दिलचस्पी नहीं। जब उन्होंने कहा कि वे इस तरह इन पूजा स्थानों पर आना शुभ नहीं मानते तो मैंने उनसे पूछा कि आखिर आप की आस्था किस वस्तु पर है? तब उनकी वेदों पर अत्यन्त आस्था का परिचय हुआ। जब मैं दर्शन कर वापिस आया तो उन्होंने मुझसे बड़े साधारण ढंग में पूछा कि "क्या आप समझते है कि आपके सारे पाप धुल गये और पापों का धुलना इतना आसान भी है?" मैं वास्तव में निरुत्तर हो गया था।

जब हम हातीपोटा मन्दिर से वापिस लौटे तो हवन की तैयारियां हो रहीं थीं। हजारों की संख्या में वहां खिस्ती व्यक्ति मौजूद थे। उन सभी के सर का मुण्डन किया गया था। वे सभी धोती पहने हुए थे। उन्हें अपने बच्चों केलिए भी नये वस्त्र प्रदान किये गये थे। मैं जवाहरलाल जी के पास ही बैठा था। उनके चेहरे पर इस समारोह के प्रति, उनकी उत्कंठा स्पष्ट झलक रही थी। उन्होंने मुझ से कहा 'मजूमदारजी, यह है वास्तविक कर्म, इसके लिये हम यहां आये थे; महाकाल दर्शन केलिये नहीं।'

पुजारियों ने जब गायँत्री मंत्र का पाठ शुरु किया तो जवाहरलाल जी का स्वरप्रवाह भी अपने आप फूट पड़ा। जिस व्यक्ति को कुछ देर पहले मैं नास्तिक समझ रहा था वही मुझे अब अत्यन्त आस्तिक नजर आ रहा था। मैं उनमें ईश्वर के प्रति एक गहरी आस्था व प्रेम का अनुभव कर रहा था। ऐसे थे जवाहरलाल जी!

वापसी से दौरान रास्ते भर हमने कई मुद्दों पर—भगवान् से लेकर गुनाह तक बात की। और हर विषय में उनकी अपनी सुस्पष्ट धारणा का अवलोकन हुआ। चूँकि मैं उस समय तक स्वामी दयानन्द सरस्वती से उतना परिचित नहीं था जितना की आज हूँ। श्री जवाहरलाल जी की बातों में मुझे वजन तो लगता रहा, परन्तु बात मेरी तह तक नहीं पहुँच पाई और में जवाहरलाल जी को भी नहीं समझ पाया।

लेकिन जैसे-जैसे दिन बीतने लगे और हमारा सम्बन्ध घनिष्ठ होता गया; मैं आर्यसमाज से सम्बद्ध होने लगा। इस क्षेत्र में मैं उन्हें गुरु मानता हूँ. क्योंकि उन्होंने स्वामी दयानन्द के सिद्धान्तों से मेरा परिचय कराया और मेरे जीवन में एक नई राह खोली।

मैं उस महान् योद्धा को कभी नहीं भूल सकता जो खिस्तियों व मुसलमानों के कुचक्र की हमेशा चिन्ता करता रहा; हमेशा हमारे धर्म को उस खतरे से अगाह करता रहा।

श्री जवाहरलाल जी स्वामी दयानन्द व आर्यसमाज के प्रति आस्थावान् थे। हर वर्ष जब आर्यसमाज अपना वार्षिकोत्सव मनाता था; तब-तब उन्होंने मुझे जरूर आमन्त्रित किया और

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति (अथर्व० ९।६।२५)
वह पुरुष निष्पाप हो जाता है जिसका अन्न दूसरे खाते हैं।

बहुत खुशी से मैं उन कार्यक्रमों में उपस्थित होता था। वहाँ जवाहरलाल जी का दीप्त चेहरा हमेशा केन्द्र में रहता था।

समय तो रुकता नहीं, लेकिन अगले वर्ष जब सिलीगुड़ी आर्यसमाज अपना वार्षिकोत्सव मनायेगा तो जवाहरलाल जी के बिना उत्सव का फीकापन बहुत उभरकर आयेगा। वहां वह व्यक्तित्व नहीं होगा जो मेरा हँसते हुये स्वागत करेगा।

मेरे मित्र ने मुझसे विदा ली है। भगवान् उसकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें। हमें प्रतिज्ञा करनी चाहिए कि हम उनके बताये रास्ते पर चलने का पूर्ण प्रयास करें।

ओ३म् शान्ति ! ओ३म् शान्ति ! ओ३म् शान्ति !

जीवित जवाहर !

(मृत्यञ्जय 'देव' एम० ए० अध्यापक, कृष्णा हाई स्कूल, सिलीगुड़ी)

धर्म-जाति समाज का, उत्थान जिसका लक्ष्य होता।
खोलकर वह कीर्ति का खाता, यहाँ से चला जाता॥
कान्ति म्लान कभी न होगी, विश्व में यश कौमुदी की।
कहेगा इतिहास युग-युग तक, कथा नेकी बदी की॥
अमर आर्यसमाज उत्तर, बंग के इतिहास ऊपर।
अमिट छाप नहीं मिटेगी, रहेंगे जीवित जवाहर॥

व्रती सेठ

(स्योचन्द सिंह, सिवानो वाले)

देवराला ग्राम के रहने वाले जवाहरलाल आर्य नाम सुनो,
सिलीगुड़ों में आर्यभवन, बना स्वर्ग का धाम सुनो।
सन् १९२३ में जन्म हुआ एक सच्चे भगत का,
माता-पिता को खुशी हुई सुधरेगा जन्म अगत का।
सन् १९३८ में शिक्षा पाकर किया उपकार जगत् का,
दुर्गादेवी से शादी हुई सेठ था आर्यावर्त का।
अपनी जिन्दगी में जवाहरलाल आर्य अच्छे कर गये काम सुनो,
सिलीगुड़ी में आर्य-भवन बना स्वर्ग का धाम सुनो।

उच्चा दिवि दक्षिणावन्ती अस्तु (ऋ० १०।१०७।२)
दानी द्युलोक में ऊंचा स्थान प्राप्त करते हैं।

एक सहारा

(गजानन्द आर्य, उपप्रधान, सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधिसभा, दिल्ली)

धैर्य धारा गया है हृदय में सदा,
वह उतारा गया है क्रिया में सदा।
सिर्फ व्याख्यान से धर्म फैला नहीं,
धर्म पीकर जिया जिन्दगी की सुधा॥

कवि की यह वाणी स्व० जवाहरलाल जी के जीवन पर ठीक मेल खाती है। संध्या अग्निहोत्र आसन प्राणायाम से उन्होंने अपने जीवन को बनाया। उनका प्रेरणाप्रद जीवन परिवार और परिचित जनों के लिए मार्ग दर्शक बना। सिलीगुड़ी जैसे व्यापार प्रधान क्षेत्र में भी गोसेवा का उनका अपना पुरुषार्थ था।

रुग्णावस्था में मैं जब कभी कलकत्ता के अस्पताल में उनको देखने गया, तब उनके मुंह से गायत्री मंत्र का उच्चारण सुनकर उनकी निष्ठा का प्रत्यक्ष अनुभव किया। आप आर्यसमाज सिलीगुड़ी के संस्थापकों में रहे। आर्यसमाज के भवन-उद्घाटन पर मुझे भी सिलीगुड़ी जाने का अवसर मिला था, तब उनके उत्साह और आतिथ्य सत्कार को देखकर ऐसा लगता था कि आर्यसमाज सिलीगुड़ी सुदृढ़ हाथों में है।

श्री जवाहरलाल जी कलकत्ता के आर्यसमाजों के उत्सवों में प्रायः सदैव सपत्नीक सम्मिलित होते थे। जब मुझे आर्यप्रतिनिधि सभा का प्रधान बनाया गया तब सभा ने एक निर्णय लिया था—आर्यमहासम्मेलन करने का। सम्मेलन के लिये बहुत बड़ी धनराशि की आवश्यकता थी और सभा के पास आय के स्रोत कम थे। हमारी उस समय की चिन्ता को सिलीगुड़ी के आर्यसमाजियों ने बड़े उत्साह से हल्का किया था। उस उत्साह में श्री रतीराम जी शर्मा और स्व० जवाहरलाल जी के नाम विशेष उल्लेखनीय थे। सभा में उन लोगों के सम्मिलित होने से सभा को और विशेषकर मुझको बड़ा प्रोत्साहन मिला था। स्व० जवाहरलाल जी का हंसमुख और मिलनसारिता का स्वभाव प्रत्येक कार्यकर्त्ता को उत्साहित करने वाला था। धनी व्यक्ति से धन की सहायता मिल जाना एक अच्छा सहयोग हैं, पर उससे भी बड़ा सहयोग हैं यथाशक्ति धन देकर स्वयं एक कार्यकर्त्ता की भाँति अपने लोगों का उत्साहवर्धन करना। वास्तव में स्व० आर्य जी हमारे लिए उन विशेष सहयोगियों में थे।

उनका असमय में चले जाना हमारे लिये बहुत बड़ा धक्का है। ईश्वर की अपनी व्यवस्था है। कब किसका स्थानान्तरण हो जाय ? हम अल्पज्ञों में इसको जानने की क्षमता नहीं। पर इतना विश्वास है कि श्री आर्य जो की आत्मा की निश्चय ही पदोन्नति हुई होगी।

केवलाघो भवति केवलादी (ऋ० १०।११७।६)
अकेला खाने वाला केवल पाप खाता है।

स्मृति के क्षण

(श्रीमती कुलश्रेष्ठ, प्रधानाचार्या, हिन्दी हाईस्कूल, सिलीगुड़ी)

सिलीगुड़ी आर्यसमाज केलिए बड़ दुर्भाग्य का दिन था १४-१२-८५। जब समाचारपत्र में उनके हम सबसे दूर अनन्त में खो जाने का समाचार देखा, पढ़ा, एक क्षण केलिए मानो स्तब्ध रह गयी। लगा जैसे, सब झूठ छपा था। परन्तु यही तो सत्य है, यही प्रकृति है, यही ईश्वरीय है।

श्री जवाहरलाल जी जैसे भव्य, सच्चे आर्यपुरुष, सिलीगुड़ी आर्यसमाज के जनक, गौरव के प्रतीक जिन्होंने इस नगर में ही नहीं अपितु दूर-दूर तक भारत में अनेकानेक मानवीय हृदयों में स्नेह दीप जलाये, हम सबसे सदा-सदा केलिए दूर चले गये। आर्यसमाज के स्तम्भ ही नहीं अपितु वे एक ऐसे प्रकाश स्तम्भ थे कि जिनके सम्पर्क में आकर न जाने कितने व्यक्तियों ने अपने मन की भ्रमित धारणाओं को सही दिशा भी दी होगी। उनकी ओजपूर्ण आवाज, मुख पर बिखरा सौम्य हास्य, नैनों में पितृवत् गहनस्नेह किसी अपरिचित को क्षण भर में परिचित और अपना बना देता था। कह नहीं सकती प्रथम परिचय के पश्चात् ही मेरे मन में उस असाधारण मानव, उस महान् व्यक्तित्व के प्रति कौन सा आकर्षण हो गया था, जो कहीं भी, कभी भी रास्ते में, आर्यसमाज के उत्सव में, विद्यालय में अथवा कहीं भी, उनके दर्शन करते ही ऐसा आभास होता था, जैसे मैं अपने किसी निकटतम और सर्वाधिक स्नेहीजन से मिली हूँ। उनके विषय में सम्भवतः सब यही अनुभव करते होंगे।

मैंने उन्हें कभी क्रोधित होते नहीं देखा। जब भी देखा उन्हें शान्त, प्रफुल मन और सदा ही कुछ करते हुए, किसी को निर्देश देते हुए, किसी को साहस बँधाते हुए ही पाया। कोई निराशा या हताश स्थिति उनको नहीं व्यापती थी।

कहाँ तक कहूँ पूज्य आर्यजी तो इतने तेजस्वी व नियमबद्ध थे कि मेरे हृदय पर उसकी गहरी छाप है। समाज के उत्सव में वे उत्सव के प्राण थे। सन् १९८५ का उत्सव हुआ, हठात् कई बार ऐसा लगता था कि जैसे अभी यहीं कहीं होंगे। नयनों में व्याकुलता जाग उठती थी, लगता था कि ईश्वर ऐसा कठोर नहीं, वह जगपिता है। ऐसा बड़ा आघात वह कैसे दे सकता है? परन्तु नहीं ईश्वर का नियम अटल है और नियति भी अपने स्थान पर अविचल है। वास्तव में आत्मा अमर है, अजर है हमारे जनक तुल्य पूज्य आर्यजी की दी हुई प्रेरणा आज भी कार्य कर रही है। सिलीगुड़ी आर्यसमाज ही नहीं विभिन्न स्थानों के आर्यसमाजों में ऐसी विभूतियों के द्वारा प्रकाश आता रहा है। मुझे स्मरण हो आता है जब हरियाणा में अपनी पुत्री सुधा आर्य के विवाह हेतु वे गये थे और श्री झा जी से मुझे निमन्त्रण भिजवाकर कहलवाया था कि मैं उन्हें लेने के लिए उनके यहाँ गाड़ी भिजवा दूँगा। वे विवाह में अवश्य आयें। उस स्नेहानुरोध को मैं किसी आवश्यक कारणवश न रख सकी थी जिस केलिए मुझे खेद है।

पुरुषो वै प्रजापतिर्नेदिष्ठम् (शत० ब्रा० २।५।१।१)
मनुष्य प्रजापति के निकटतम है।

उनके हमसे दूर अनन्त दिव्यलोक में चले जाने का विचार मन को शोकाकुल करता है, मैं कवि नीरज की निम्न पंक्तियाँ दुहराती हूँ और इन्हीं अपने को से धैर्य भी दे लेती हूँ—

न जन्म कुछ न मृत्यु कुछ, बस इतनी सिर्फ बात है,
किसी की आँख खुल गई, किसी को नींद आ गई।

पर यह भी सच है कि उनके जाने के बाद जो क्षति हुई उसकी पूर्ति में न जाने कितने वर्ष लगेंगे। हाँ, परम पूज्य आर्यजी की आत्मा सिलीगुड़ी आर्यसमाज केलिए पथ प्रशस्त करती रहेगी। उनके दिव्य व्यक्तित्व की छाप अमिट है। ईश्वर से प्रार्थना है हम सभी को उनके जैसा साहसी, कर्मनिष्ठ, नियमित, सत्याग्रही एवं आशावान् बनाने में सहायक हो। हम सबकी उस महान् आत्मा के प्रति यही सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी।

कर्मशीलपुरुष : श्री जवाहरलाल जी आर्य !

(जयकिशनदास आर्य, प्रधान आर्यसमाज, हांसी, हरियाणा)

मेरा इस परिवार में माँ आर्यसमाज के सम्बन्ध-सूत्र से लगभग ३५ वर्षों से रहा है। श्री लाला गोविन्दराम जी आर्य, श्री बनवारीलाल आर्य एवं श्री जवाहरलाल जी आर्य, इन तीनों भ्राताओं की समान विचारधारा, आर्यससाज के प्रति अगाध श्रद्धा, महर्षि दयानन्द जी के विचारों में अटूट विश्वास, शालीनता, एक दूसरे के प्रति अपार प्रेम व विश्वास अपने आप में एक उदाहरण है। इस परिवार के सभी सदस्यों की एक विचारधारा का जो गुण प्राप्त है, वैसा अन्यत्र कम ही मिलेगा। उनके परिवार में सभी सदस्य प्रतिदिन यज्ञ एवं संध्या सामूहिक-रूप से नियमपूर्वक करते हैं।

श्री जवाहरलाल जी से जितनी बार भी मिलने का अवसर मिला, उन्हें हरसमय आर्यसमाज के कार्यों में रमा पाया। श्री पं० रतीराम जी शर्मा उनके अनन्य मित्र एवं सहयोगी के रूप में मिले। जिसके फलस्वरूप सिलीगुड़ी जैसे महानगर में आर्यसमाज का भवन निर्माण हो सका। यह महान् उपलब्धि है। उनकी आर्यसमाज के प्रति अगाध श्रद्धा को देखते हुए ही मैंने उनको सम्बन्धी (रिश्तेदार) बनाया।

अजमेर में महर्षि दयानन्द सरस्वती के निर्वाण शताब्दी समारोह पर मुझे उनके साथ तीन दिन रहने का मौका मिला। वहां पर भी उनको मुख्य रूप से आर्यसमाज के प्रसार के बारे में ही सोचते हुए पाया। मैं यह सोच भी नहीं सकता था कि वे मुझसे इतनी जल्दी विदा हो जाएंगे। उनके सुपुत्रों से यही कामना है कि जो पौधा (कार्य-क्षेत्र) उन्होंने लगाया है वह उनके कार्य एवं सबप्रकार के योगदान द्वारा सींचते रहेंगे। प्रभु उन्हें ऐसी शक्ति प्रदान करे।

पुरुषो वाव सुकृतम् (ऐत० २।३)
निश्चय ही मनुष्य सुन्दर रचना है।

महान् व्यक्ति की महान् स्मृतियां

(रामकृष्ण आर्य, कलकत्ता)

एक बार आर्यजी मैं और २-३ अन्य सदस्य धर्मतल्ला की तरफ से बड़ा बाजार की तरफ ट्राम से आ रहे थे। रात्रि के प्रायः साढ़े नौ या १० बजे थे। फूलकटरा के पास हम लोग जब उतरने लगे तो आगे कुछ महिलाएं व बच्चे उतर रहे थे उनमें से कुछ उतरने में उतावले थे। महिलाओं व बच्चों को उतरते समय कुछ समय लग रहा था। हम सब लोग उतरने की प्रतीक्षा में एक लाईन सी में खड़े हो गये और ऊपर से हण्डल थाम लिये। इतने में एक बंगाली युवक कुछ हड़बड़ी दिखाता सा आगे बढ़ने की चेष्टा करने लगा। आर्य जी बोले–देखो भाई! सबको उतरना है, हम भी उतरने की प्रतीक्षा में लाईनों में आगे बढ़ रहे हैं, आप का भी नम्बर आ हो रहा है।' लेकिन उनका उतावलापन ज्यादा था और वे सज्जन जवाहरलाल जी को एक तरफ धकेल कर आगे बढ़ने की चेष्टा करते दिखाई दिये। जवाहरलाल जी बोले—'हमने आपसे कोमल शब्दों में थोड़ा धीरज रखने को कहा। लेकिन आप हमें कमजोर समझकर धकेल क्यों रहे हैं, अगर ताकत ही आजमानी है तो मेंने एक हाथ तथा पैर जमा दिया है, हटा कर आगे बढ़ जाओ, मर्द समझूं।' तब आर्यजी ने अंगद की तरह अपना हाथ और पैर जमा दिया और फिर उनकी तरफ देखने लगे, मानो उनको ललकार रहे हों। यह सब देखकर वह बंगाली युवक चुपचाप अपने नम्बर पर बने रहे और लाईन से बड़बुड़ाते उतर गये, । यह उनकी हिम्मत और साहस का एक छोटा सा उदाहरण है।

एक बार सिलीगुड़ी आर्यसमाज के एक विशिष्ट कार्यकर्ता से मेरी कुछ बातों को लेकर तनातनी सी हो गई। बल्कि एक बार नहीं दो बार कहिये, एक बार आर्यसमाज के विषय को लेकर, दूसरी बार मेरे और उनके निज के मामले को लेकर। दोनों ही बार मैं अपने आपमें सही था और वे सज्जन कुछ गलती पर थे। चूंकि विशिष्ट थे इसलिए मैंने सोचा कि इन दोनों मामले में इनसाफ की की बात कौन कहे। मैंने हिम्मत सी जुटाकर दोनों ही बार आर्यजी से मिलकर इन्साफ की तरफ फैसला कराया–हालांकि सामने वाले वरिष्ठ सदस्य थे। जवाहरलाल जी के निजी आदमी थे लेकिन जहां इन्साफ की बात का सवाल था आर्यजी ने इन्साफ की ही कही जिससे दोनों बार मुझे हर्ष हुआ। यह उनकी न्यायप्रियता का उदाहरण है।

एक बार मैं लाईसं क्लब के कुछ सदस्यों को आर्यजी के पास ले गया, उनसे चन्दा दिलवाने। उनकी गली के और सदस्यों ने तो कुछ टालमटोल सी दिखाई मगर जवाहरलाल जी ने यह कहकर हमें उत्साहित कर दिया कि गोयल जी आये हैं, साथ में २-४ आदमियों को लेकर फिर चाहे आर्यसमाज का काम हो या दूसरा कोई। आखिर है तो जनता के भले की। दो भाई, जितना दे सको और मेरी तरफ इशारा करते हुए बोले गोयलजी क्या दे दें। मैंने कहा १०१ ठीक है। दो भाई रसीद और भेंट उन्होंने १०१ रु० दे दिये। यह थी उनकी दानप्रियता और जनता के सहयोग की भावना।

स्वाध्यायान्मा प्रमदः (तै० उ०)
स्वाध्याय से कभी प्रमाद मत करो।

एक बार हम और वे बाहर घूमने जा रहे थे। सामने से कई सज्जन आ गये, आमने-सामने राम राम ! नमस्ते ! नमस्ते ! होने लगी। तब सामने से एक सज्जन कहने लगे जवाहरलाल जी तो राम राम, राम गोपाल नहीं है, यह तो नमस्ते है, तो झट आर्यजी कहने लगे असली सम्बोधन ही नमस्ते है। आप लोग तो जबर्दस्ती नाना रकम सम्बोधन करते हैं जो किसी धार्मिक ग्रन्थ में नहीं लिखा हुआ, और उन्होंने दृढ़तापूर्वक सबसे निवेदन किया, कि हमारे ही तरह आज के बाद नमस्ते ही बोलना। और दोनों तरफ के सज्जन हंसते-हंसते नमस्ते ! नमस्ते ! नमस्ते ! करते चले गये। यह था उनकी सैद्धान्तिक दृढ़ता।

एक बार घर में ही जब वह मरणशय्या पर पड़े थे, मेरा व सुभाषजी का या आनन्दजी का किसी विषय में आपसी जिद्द हो गई। मैं कहने लगा कि देखा अभी तक तो प्रधानजी सब कुछ सुनते हैं और समझते हैं, उनसे निर्णय करा लो मैं सच्चा हूं या आप। हम दोनों उस मसले को लेकर उनके सामने ले गये और पूरी बात बोल दी। वे बोल तो नहीं सके, मगर मुसकराते हुए मेरे पक्ष में मत दे दिया कह दिया कि रामकिशन गोयल शास्त्रों के अनुसार बोल रहे हैं।

हां, एक बात अन्त में लिखे बिना नहीं रहूंगा। मैं जब भी उनके घर में गया मीठा खान यानी कुछ भी हो मिठाई हो, जलेबी हो, गून्द हो, खुरमा हो या हलवा हो या चाय ही हो बिना खिलाये कभी आने नहीं दिया।

मैं ऐसी विभूति को, ऐसी शुद्ध आत्मा को बार बार स्मरण करता हूं और उनको नमन करताहूं। और भी बहुत सी घटनाएं व सूचनाएं हैं मगर अभी मन एकाग्र नहीं होने के कारण लिख नहीं पा रहा।

—मृत्यु क्या है ? सिर्फ एक नाम ही तो है, गणना केलिए एक तिथि है, जीवन के झंझावातमय पथ में मीलों का एक पड़ाव है, जहां यात्री अपनी कमर पर लदे बोझ को उठाकर एक तरफ रख देता है, सिर झुका लेता है, आराम करता है प्रतीक्षा करता है, जहाँ वह मृत्यु-भय का तिरस्कार करता है।

—जोएक्विन मिलर

—मरना तो नवीन जीवन का प्रारंभ है। मरना क्या है ? पुराने नीरस, थका देने वाले काम को एक तरफ रख कर नये और बेहतर काम को शुरु कर देने का नाम मृत्यु है।

—ब्यूमौण्ट एण्ड फ्लेचनर

यान्यस्माकं सुचरितानि तानि त्वयो पास्यानि नोइतराणि (तै० उ०)
जो हमारी अच्छी बातें हैं उनका अनुकरण करो, औरों का नहीं।

श्रद्धाञ्जलि !

(संजयकुमार गर्ग, गर्ग एण्ड कम्पनी, सिलीगुड़ी)

जिन्दगी की इन राहों में कभी,
भयंकर तूफान भी आ जाता है।
जिसे हम नहीं रोक पाते चाहकर भी,
वह अनहोनी को होनी कर दिखाता है॥

ऐसे ही चौदह दिसम्बर को एक तूफान,
हमारे लिए अभिशाप बनकर आया।
हममें शक्ति नहीं थी कि उसे रोक सकें,
एक महान् पुरुष को हमसे जुदा कर दिखाया॥

उस भीषण रात्रि की याद,
जब भी मुझे आ जाती है।
हृदय के कम्पन को रोक नहीं पाता,
आँखे आँसुओं से भर आती हैं॥

अन्तिम क्षणों तक अपने दर्द को,
छुपाये रखने वाला वह इंसान।
मेरे मौसा जी जवाहरलाल आर्य,
समाज के लिए थे देवता समान॥

सच्चाई की राहों पर चलने वाले,
उन्हें हम कभी नहीं भूल पाएंगे।
जब तक हममें प्राण रहेंगे,
हम उनके कार्यों के गुण गाएंगे॥

समाजप्रेमी की इस महान् आत्मा को,
हम सच्ची श्रद्धाञ्जलि तभी दे पाएंगे।
जब उनका राहों पर चलकर,
अधूरे कार्य को पूरा कर दिखायेंगे॥

काममय एवायं पुरुषः (बृह० ४।४।६)
यह पुरुष इच्छाओं का ही बना है।

❀ ओ३म ❀

आर्यसमाज कलकत्ता स्थापना शताब्दी समारोह

१८८५ - १९८५ ई०

प्रशस्ति-पत्र

श्री ---- स्वर्गीय जवाहरलाल आर्य ---- को

वेदधर्म एवं आर्यसमाज

के प्रति उनके विशिष्ट सहयोग के लिए अतिसम्मान पूर्वक समर्पित।

सीताराम आर्य
प्रधान

पूनमचन्द आर्य
मन्त्री

श्रीराम आर्य
संयोजक

घनश्यामदास गोयल
स्वागताध्यक्ष

गजानन्द आर्य
स्वागत मन्त्री

२०४२ वि० | १६१ दयानन्दाब्द | १९८५ ई०

महर्षि दयानन्द को मैंने अपने गुरु के रूप में माना, इनके विचारों के अनुकरण से
मैंने अपने जीवन में सदैव सुख व शान्ति को प्राप्त किया है
तथा अज्ञानता एवं अन्धकार से बच रहा हूं।

—जवाहरलाल आर्य

वेद का आदेश है…

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद्व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् ।
यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत्कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः ।
तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ (अथर्व० ६।३।१५)

अर्थात् उस शाला में भिन्न-भिन्न शुद्ध भूमि चारों ओर से खुला शुद्ध स्थान हो, जिसमें सूर्य एवं चन्द्र का प्रतिभास अच्छी प्रकार आवे, ऐसी प्रकाशमय भूमि से युक्त दृढ़ शाला बनावे ।

गृह का जो विस्तार है वह स्त्री के सुखपूर्वक निवास व सुविधा को लक्ष्य में रखकर बनाना चाहिए जिससे स्त्री और पुरुष दोनों सुखपूर्वक निवास करने के लिए उस में प्रसन्नता से प्रवेश कर सकें ।

श्री जवाहरलाल जी ने इस मन्त्र को पढ़ा था और अपने जन्म स्थान से हजारों मील दूर सिलीगुड़ी में अपने घर–आर्यनिवास–का वेद के उक्त आदेश के अनुसार ही निर्माण किया था । अगले पृष्ठ पर उन द्वारा निर्मित आर्यभवन का चित्र दे रहे हैं ।

आज उनकी अनुपस्थिति में आर्यनिवास उनकी स्मृति का केन्द्र बन गया है
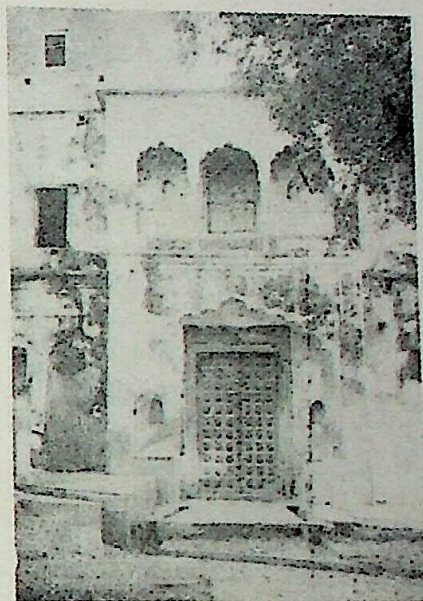
जन्मभूमि देवराला में स्थित पुश्तैनी मकान

आर्यनिवास के निर्माण के बाद गृहप्रवेश संस्कार के समय अतिथियों का स्वागत करते हुए

सत्संग और यज्ञ के प्रेमी श्री जवाहरलाल आर्य
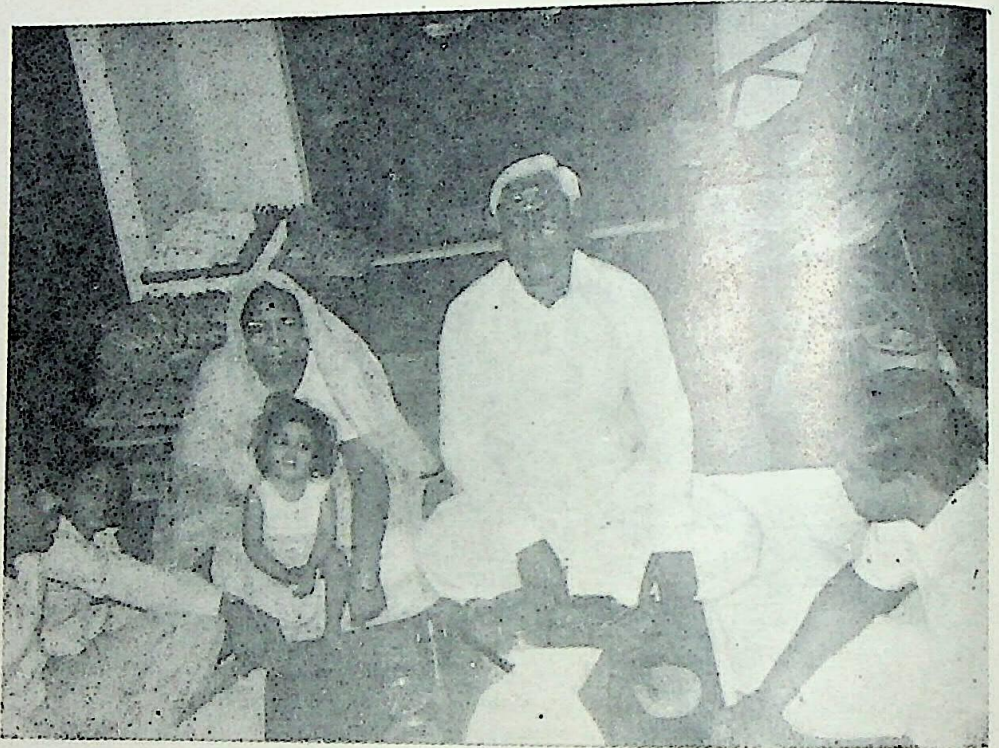
घरेलू सत्संग : पत्नी श्रीमती दुर्गादेवी व साथ में श्रीमती गिन्नीदेवी आर्य
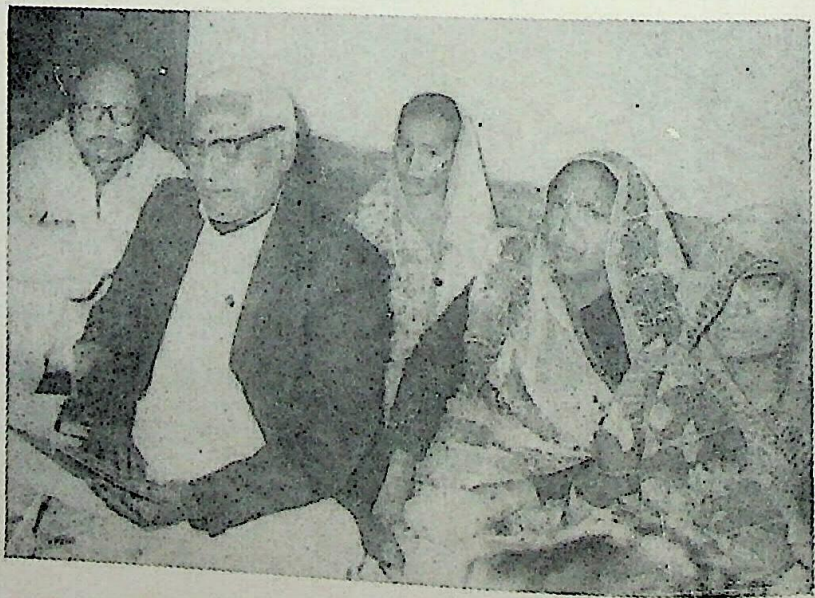
सपरिवार प्रातःकालीन यज्ञ करते हुए
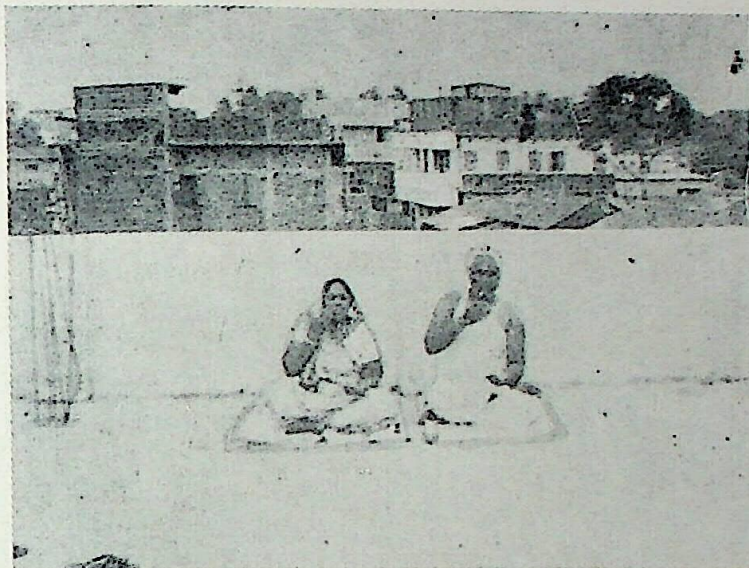
छत्त पर संध्या के बाद अपनी पत्नी श्रीमती दुर्गादेवी के साथ प्राणायाम करते हुए
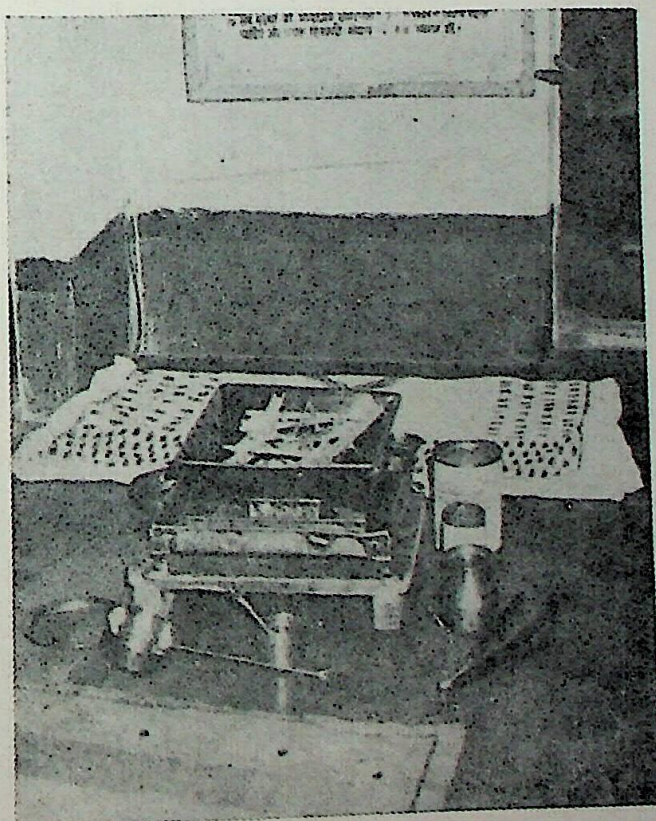
हवनकुण्ड जिसमें श्री जवाहरलाल आर्य ने न जाने कितनी आहुतियां डालीं

ब्रह्म सूर्यसमं ज्योतिर्द्यौः समुद्रसमं सरः।
इन्द्रः पृथिव्यै वर्षीयान् गोस्तु मात्रा न विद्यते ॥

—यजुर्वेद 23.48

ज्ञान तेज केलिये सूर्य की उपमा है, द्युलोक केलिये समुद्र की उपमा है, तथा पृथ्वी बहुत बड़ी है तो भी उससे इन्द्र अधिक समर्थ है, परन्तु (गोः मात्रा न विद्यते) गौ के साथ किसी की भी तुलना नहीं होती

देखिए वेद में गौ का कितना महत्त्व वर्णन है श्री आर्य जी की गौ-पालन में विशेष रुचि थी
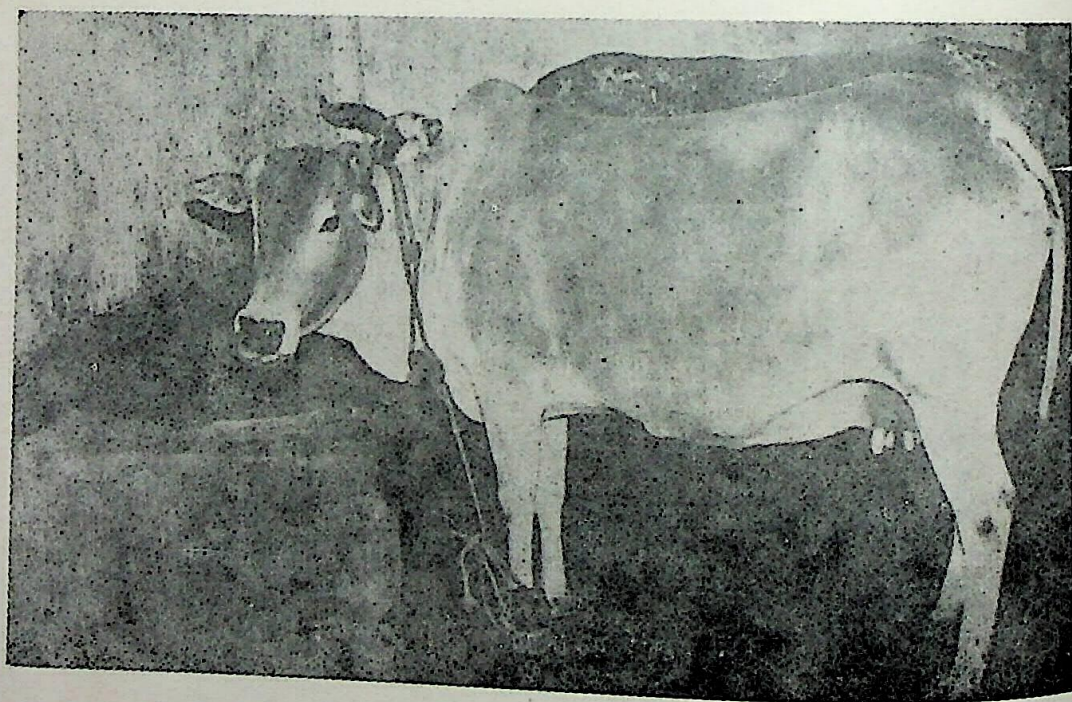
श्री आर्य जी की गौएं जिनका पोषण वे स्वयं करते थे।

समाजसेवा के साथ अपने पारिवारिक उत्सवों को श्री आर्य जी ने सदा महत्त्व दिया

विवाह से पूर्व पुत्र अशोक का यज्ञोपवीत संस्कार किया, उस समय का एक चित्र

पुत्र व पुत्रवधू को आशीर्वा
देते हुए।

विवाह के उपरान्त चि० अशोक व पुत्रवधू । साथ में उनके भतीजे श्री प्रकाशचन्द्र आर्य खड़े हैं।
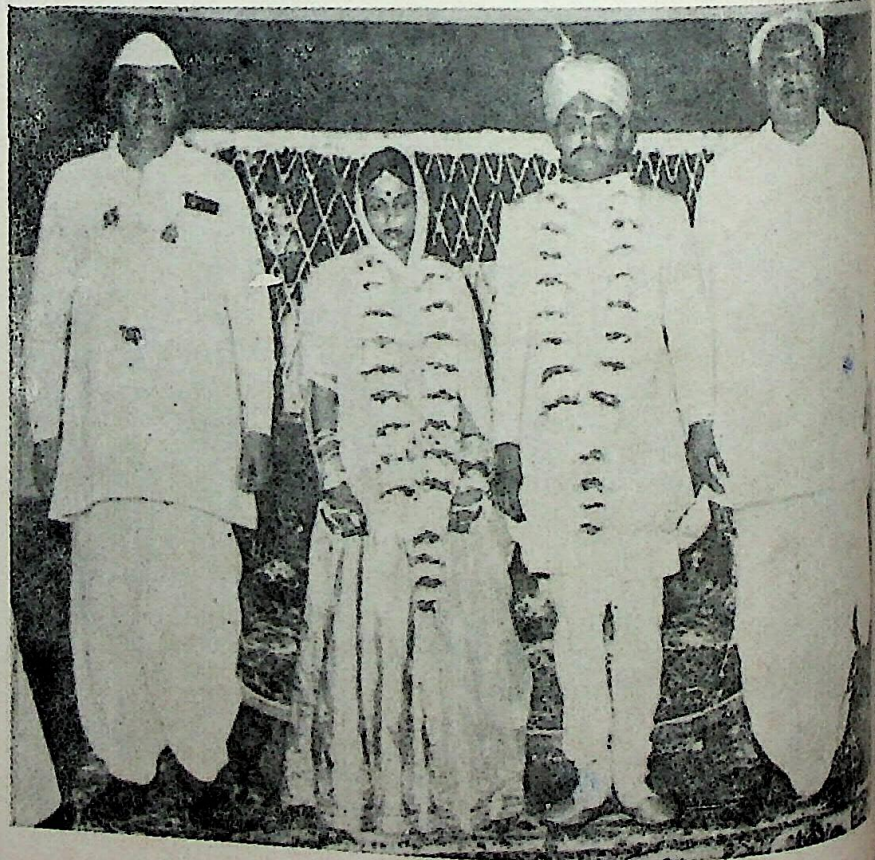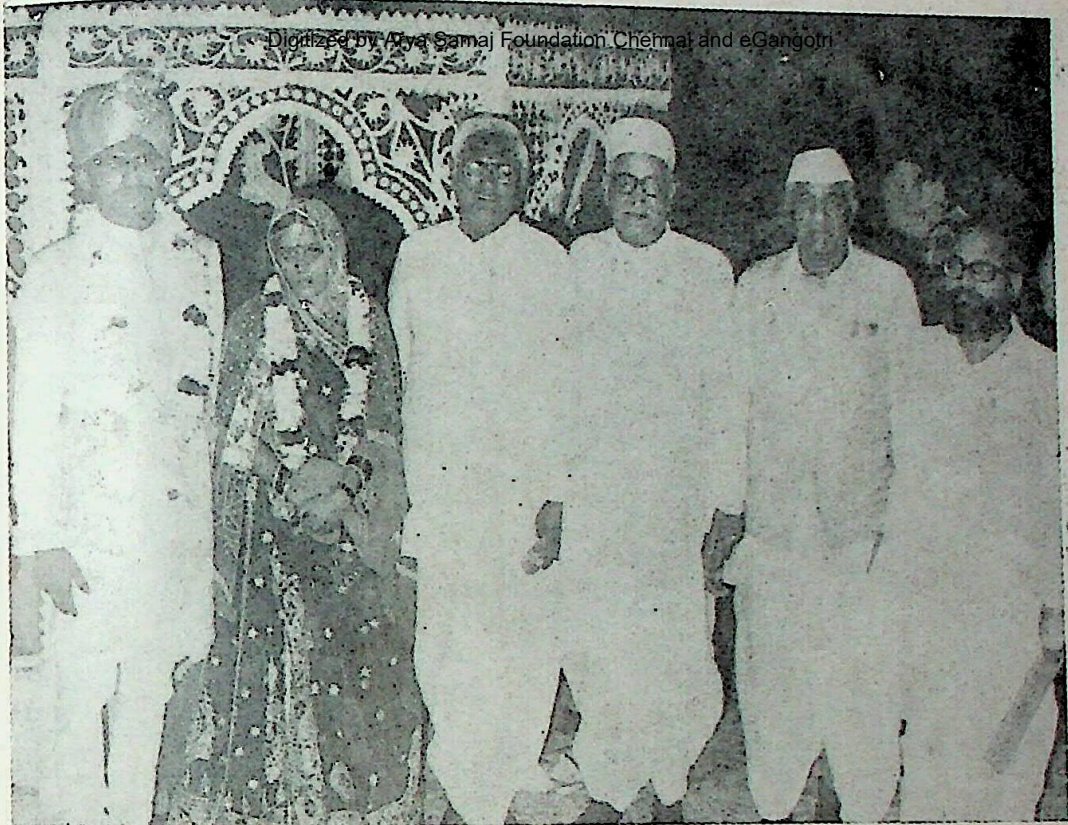
नवविवाहित पुत्र सुभाष व पुत्रवधू उमा। साथ में पद्मश्री फूलचन्द देवरालिया, श्री प्रकाशचन्द आर्य, श्री इन्द्रचन्द्र लालावासिया

चि० सुभाष विवाह के बाद आशीर्वाद लेते हुए साथ में श्री देवराज अग्रवाल, श्री दयानन्द आर्य तथा जगदीश प्रसाद

ज्या मां जिन्होंने जवाहरलाल आर्य जैसा पुत्र जना

युवक जवाहरलाल

अपने पोते यशःदेव के साथ मकान की छत पर

श्रीमती दुर्गादेवी

अपने पोते सत्यवान (श्री अलोक के पुत्र) के नामकरण पर यज्ञ करते हुए

श्रीमती दुर्गा देवी अपने पुत्र श्री रवीन्द्र, सत्येन्द्र, पुत्री उषा तथा बेटियां अर्पणा, अर्चना, वन्दना, ज्योत्सना व पोते यशदेव आर्य के साथ

क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे। ऋग्वेद 10.85.42

अपने पुत्रों-पौत्रों व नातियों के साथ खेलते हुए अपने घर में प्रसन्न होकर रहें।

क्षमां क्षामीकृत्य प्रसभपह्नृत्याम्बुसारता
प्रताप्योर्वी कृत्स्नां तरुगहनमुच्छोष्य सकलम्।
क्व सम्प्रत्युष्णांशुर्गत इति तदन्वेषणपराः
तडिद्दीपालोका दिशि दिशि चरन्तीव जलदाः॥
(महर्षि पाणिनि)

जिसके डर से रातें दुबली हो गई हैं जिसने नदियों का पानी जबर्दस्ती छीन लिया, जिसने भयंकर ताप से सारी पृथ्वी को तपा डाला, जिसने हरे-भरे पेड़ों के जंगल के जंगल सुखा डाले, वह उग्रवादी सूरज अब पता नहीं कहां छिप गया है। ये बादलों के सिपाही अपने हाथों में बिजली की मशाल लेकर उसी सूरज की तलाश करने केलिए चारों ओर घूम रहे हैं।

स्मृतिशेष तात को!

परिवार से अपने पिता, पति, भाई अथवा दादा के अकस्मात् चले जाने पर घर में जो रिक्तता उत्पन्न होती है, उनका अनुभव उस घर का व्यक्ति ही कर सकता है। श्री जवाहरलाल जी आर्य के भी इस संसार को छोड़ कर चले जाने से उनके परिवार में जो सूनापन आया उसे उनके परिवार वालों ने शब्दों में व्यक्त करके अपने आपको शान्त करने का प्रयत्न किया.....।

मेरे पति मेरे देवता !
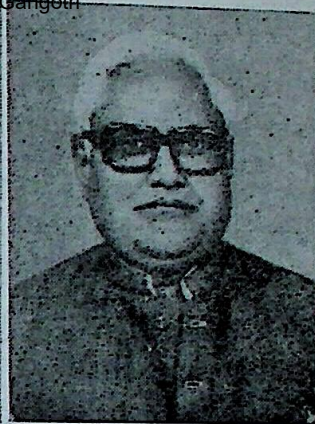
श्रीमती दुर्गा देवी आर्या

(५८ वर्षीया श्रीमती दुर्गादेवी की शिक्षा घर पर ही सामान्य रूप से हुई थी, जिसके माध्यम से इन्होंने थोड़ा कुछ पढ़ना व लिखना सीखा था।

विवाह से पूर्व आप आर्यसमाज से परिचित न थीं। विवाह के पश्चात् ही आपका आर्यसमाज से सम्पर्क हुआ, आपने अपने आपको पूर्णरूप में एक सफल आर्यसमाजी बना लिया। आप एक पौराणिक विचारों वाले परिवार की थीं। पर शीघ्र ही आपने ससुराल वालों के विचारों को अत्यन्त श्रद्धा से अपना लिया, यहां उनसे उनके स्वर्गस्थ पति के बारे में कुछ प्रश्न किये गये हैं।)

प्रश्न— आप अपने पति के विशिष्ट गुण अथवा उनकी सबसे अच्छी बात बताएंगी ?

उत्तर— उनके साथ मैंने एक लम्बी अवधि व्यतीत की है, मैंने उनमें अनेक गुणों को पाया। जैसे—सच्चाई के कट्टर समर्थक, गौ-भक्त, बिना सोचे समझे कुछ न बोलना, आर्यसमाज व स्वामी दयानन्द के दीवाने, पंच महायज्ञों के पालक इत्यादि। और इन सब में भी उनकी मुझे सबसे अच्छी बात यह लगती थी कि कभी भी बिना सोचे समझे अथवा अविवेक से कोई भी कार्य नहीं किया करते थे।

प्रश्न— कभी उन्हें गुस्सा भी आया क्या ?

उत्तर— कभी-कभी मैं देखती थी कि वे गलती करने पर बच्चों को, दूकान के कर्मचारियों को अर्थात् जो भी गलती करता था, उसे डांट देते थे। एक बार मैंनें उनसे प्रश्न किया कि आप कहा करते हो कि मनुष्य को कभी भी गुस्सा नहीं करना चाहिए पर आप फिर बच्चों पर गुस्सा क्यों होते हैं ? तब उन्होंने मुझे समझाया था कि मैं न कभी स्वयं किसी पर गुस्सा होता हूं और न ही किसी के गुस्सा होने का समर्थन करता हूं। गुस्से का अर्थ होता है जब मनुष्य आपे से बाहर होकर किसी को डांटता है। उसे यह ध्यान नहीं रहता कि वह क्या कह रहा है और क्या कर रहा है। किसी की गलती पर उसे उपयुक्त डांटना उसके सुधार के लिये आवश्यक होता है। यों भी शास्त्रों में किसी को दण्ड देना—मन्यु कहलाता है, और यह आवश्यक भी

न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। (ऋ० ४।३३।११)
देवता परिश्रमी के अतिरिक्त किसी अन्य की सहायता नहीं करते।

है। इसके बाद मैंने स्वयं कई बार यह अनुभव किया कि वे वास्तव में मन्यु ही किया करते थे न कि गुस्सा।

प्रश्न—वे एक सामाजिक कार्यकर्त्ता थे, आर्यसमाज के कार्य में उनकी विशेष रुचि थी, अनेक आर्य विद्वान् आपके निवास पर प्राय: आते रहे होंगे। उस समय आपको कैसा लगता था?

उत्तर—मैंने अपने ही जीवन में बहुत कुछ उनसे सीखा और उनके व्यवहार, आचरण से मैं बहुत कुछ ग्रहण करती रही हूं। वे मेरे पति परमेश्वर तो थे ही साथ ही साथ वे मेरे जीवन के आदर्श भी थे। उनके आचरण से जो कुछ मैंने ग्रहण किया उनमें से पंच महायज्ञों को दैनिक जीवन में व्यावहारिक रूप से की प्रेरणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यही कारण था कि मैं विद्वानों का आतिथ्य करना अपना सौभाग्य समझती हूं।

प्रश्न—क्या वे सामाजिक कार्य में व्यस्त रहने के कारण आपकी या परिवार की कभी उपेक्षा करते थे।

उत्तर—जैसा कि मैंने आपको पहले भी कहा है कि उनका सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह रहा कि वे कभी भी किसी भी कार्य को बिना विवेक के नहीं करते थे और जब जहां विवेक होगा वहां किसी की उपेक्षा और किसी में अत्यधिक लगाव सम्भव हो ही नहीं सकता। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि वे सदैव समान रूप से सभी कार्य करते थे। उनका मानना था कि प्रत्येक मनुष्य को क्रमश: व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय कार्य करते हुए प्राणिमात्र का कल्याण करना चाहिये। क्योंकि एक स्वस्थ शरीर वाला व्यक्ति ही अपने ही जीवन में दूसरों के लिए कुछ कर सकता है।

प्रश्न—वे आपसे किस बात की अपेक्षा करते थे?

उत्तर—वे सदैव मुझसे यही अपेक्षा किया करते थे कि मैं परिवार को स्वामी दयानन्द के स्वप्न का वैदिक परिवार बनाने में पूर्ण सहयोग देती रहूं।

प्रश्न—आप दोनों की दिनचर्या क्या थी? एक थी या उसमें कुछ अन्तर था?

उत्तर—यह हमारा सौभाग्य रहा कि हम दोनों की दिनचर्या प्रायः एक ही थी। दोनों का प्रातःवेला में उठना फिर स्नान इत्यादि से निवृत्त होकर खुली छत पर जाकर एक साथ बैठकर संध्या करना, फिर पक्षियों को साथ-साथ दाना डालना, यज्ञ करना तथा दिन भर अपने-अपने कर्म में व्यस्त रहना, फिर सायंकाल इकट्ठे सन्ध्या करना इत्यादि—

प्रश्न—घर के कामकाज में वे आपसे सलाह लेते थे या नहीं?

उत्तर—जिस कार्य में वे मेरी सलाह लेना उचित समझते थे, वह अनिवार्य रूप से लेते थे।

प्रश्न—आपको उनका अभाव कब सर्वाधिक सताता है? उनकी विशेष याद कब आती है?

उत्तर—यों तो वे हमेशा मेरे सामने रहते हैं। मैं कभी उनको भूल नहीं पाती। पर जब किसी समस्या के समाधान हेतु किसी उलझन में होती हूं, उस समय मुझे उनका अभाव बेहद सताता है।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। (ऐत० ब्रा० ४।१७)
श्रमहीन व्यक्ति की (शोभा, समृद्धि) नहीं होती।

मुझे अपने जीवन के वे क्षण बड़ी तीव्रता से स्मरण हो आते हैं, जब वे मेरी किसी भी प्रकार की उलझन को अपने अनुभवों व विवेक से पलभर में ही हल कर दिया करते थे। बाकी, मेरे सभी बच्चे आज्ञाकारी और विनीत हैं। मेरी हर समस्या का समाधान करने के लिए वे तत्पर रहते हैं। पिता की शिक्षाओं को उन्होंने यथावत् ग्रहण किया हैं। मैं जब भी कुछ सोचने लगती हूं, वे मेरी चिन्ता दूर कर देते हैं।

(यह उल्लेखनीय है कि श्रीमती दुर्गादेवी अब भी अपने परिवार को ठीक प्रकार से देखभाल कर रही हैं। उनके पांच पुत्र तथा चार पुत्रियां हैं। सब एक ही परिवार के सदस्य हैं। अभी भी उन्होंने अपने दो पुत्रों व एक पुत्री का विवाह करना है। घर सदा पोते-पातियों तथा दोहते-दोहतियों और आने वाले अतिथियों से भरा रहता है और वे प्रत्येक का ध्यान रखती हुईं अपना समय व्यतीत करती हैं।) ★

पुत्र तुल्य अनुज !

बनवारीलाल आर्य (भाई)

जवाहरलाल आर्य मेरा प्रिय भ्राता था। वह कट्टर आर्य था। उसकी विचारधारा दृढ़ और पवित्र थी। उसने अपना जीवन सत्य और ईमानदारी से व्यतीत किया।

यद्यपि वह मेरा छोटा भाई था, लेकिन मुझे पिता तुल्य मानता था। मैं जब भी हवन करता हूं उसकी याद बरबस आ जाती है और आंखें गीली हो जाती हैं, क्योंकि जब भी हम दोनों भाई इकट्ठे हवन करते थे तो हवन के अन्त में वह मेरे चरणस्पर्श करता था। इससे उसकी मेरे प्रति श्रद्धा और सम्मान स्पष्ट होता है। यह उसका एक आदर्श था।

उसका आकस्मिक देहावसान मेरे लिए अपूरणणीय क्षति है। ★

जिनसे पिता तुल्य प्यार मिला

सत्यदेव आर्य, सिलीगुड़ी

चाचा श्री जवाहरलाल जी कहने केलिए तो मेरे चाचा थे लेकिन बचपन से ही उन्होंने मुझे पिता जैसा प्यार दिया। जब मैं ८-१० साल का था तो देवराला में मुझे साथ-साथ रखते थे और खेतों में घुमाने ले जाते थे। फिर उन्होंने सिलीगुड़ी में दूकान कर ली। संयोग से मैंने भी सिलीगुड़ी में दूकान कर ली। जब भी मुझसे उनकी भेंट हुई, वे मुझे लाड में सतिया कहकर बुलाते थे और व्यापार तथा घर की सब बात पूछते थे। मुझे ऐसा कभी भी महसूस नहीं होने दिया कि मेरे पिताजी देश रहते हैं। अब उनके नहीं होने से सिलीगुड़ी में मेरा मन ही नहीं लगता है क्योंकि अब मुझे सतिया कहकर पुकारने वाला कोई नहीं रहा। ★

स: नः पर्षद् अतिद्विषः। (अथर्व० ६।३४।१)
ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् करे।

है। इसके बाद मैंने स्वयं कई बार यह अनुभव किया कि वे वास्तव में मन्यु ही किया करते थे न कि गुस्सा।

प्रश्न—वे एक सामाजिक कार्यकर्त्ता थे, आर्यसमाज के कार्य में उनकी विशेष रुचि थी, अनेक आर्य विद्वान् आपके निवास पर प्राय: आते रहे होंगे। उस समय आपको कैसा लगता था ?

उत्तर—मैंने अपने ही जीवन में बहुत कुछ उनसे सीखा और उनके व्यवहार, आचरण से मैं बहुत कुछ ग्रहण करती रही हूं। वे मेरे पति परमेश्वर तो थे ही साथ ही साथ वे मेरे जीवन के आदर्श भी थे। उनके आचरण से जो कुछ मैंने ग्रहण किया उनमें से पंच महायज्ञों को दैनिक जीवन में व्यावहारिक रूप देने की प्रेरणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यही कारण था कि मैं विद्वानों का आतिथ्य करना अपना सौभाग्य समझती हूं।

प्रश्न—क्या वे सामाजिक कार्य में व्यस्त रहने के कारण आपकी या परिवार की कभी उपेक्षा करते थे।

उत्तर—जैसा कि मैंने आपको पहले भी कहा है कि उनका सबसे महत्त्वपूर्ण गुण यह रहा कि वे कभी भी किसी भी कार्य को बिना विवेक के नहीं करते थे और जब जहां विवेक होगा वहां किसी की उपेक्षा और किसी में अत्यधिक लगाव सम्भव हो ही नहीं सकता। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि वे सदैव समान रूप से सभी कार्य करते थे। उनका मानना था कि प्रत्येक मनुष्य को क्रमशः व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय कार्य करते हुए प्राणिमात्र का कल्याण करना चाहिये। क्योंकि एक स्वस्थ शरीर वाला व्यक्ति ही अपने ही जीवन में दूसरों के लिए कुछ कर सकता है।

प्रश्न—वे आपसे किस बात की अपेक्षा करते थे ?

उत्तर—वे सदैव मुझसे यही अपेक्षा किया करते थे कि मैं परिवार को स्वामी दयानन्द के स्वप्न का वैदिक परिवार बनाने में पूर्ण सहयोग देती रहूं।

प्रश्न—आप दोनों की दिनचर्या क्या थी ? एक थी या उसमें कुछ अन्तर था ?

उत्तर—यह हमारा सौभाग्य रहा कि हम दोनों की दिनचर्या प्रायः एक ही थी। दोनों का ही प्रातःवेला में उठना फिर स्नान इत्यादि से निवृत्त होकर खुली छत पर जाकर एक साथ बैठकर संध्या करना फिर पक्षियों को साथ-साथ दाना डालना, यज्ञ करना तथा दिन भर अपने-अपने कर्म में व्यस्त रहना, फिर सायंकाल इकट्ठे सन्ध्या करना इत्यादि—

प्रश्न—घर के कामकाज में वे आपसे सलाह लेते थे या नहीं ?

उत्तर—जिस कार्य में वे मेरी सलाह लेना उचित समझते थे, वह अनिवार्य रूप से लेते थे।

प्रश्न—आपको उनका अभाव कब सर्वाधिक सताता है ? उनकी विशेष याद कब आती है ?

उत्तर—यों तो वे हमेशा मेरे सामने रहते हैं। मैं कभी उनको भूल नहीं पाती। पर जब मैं किसी समस्या के समाधान हेतु किसी उलझन में होती हूं, उस समय मुझे उनका अभाव बेहद सताता है।

नानाश्रान्ताय श्रीरस्ति। (ऐत० ब्रा० ४।१७)
श्रमहीन व्यक्ति की (शोभा, समृद्धि) नहीं होती।

मुझे अपने जीवन के वे क्षण बड़ी तीव्रता से स्मरण हो आते हैं, जब वे मेरी किसी भी प्रकार की उलझन को अपने अनुभवों व विवेक से पलभर में ही हल कर दिया करते थे। बाकी, मेरे सभी बच्चे आज्ञाकारी और विनीत हैं। मेरी हर समस्या का समाधान करने के लिए वे तत्पर रहते हैं। पिता की शिक्षाओं को उन्होंने यथावत् ग्रहण किया हैं। मैं जब भी कुछ सोचने लगती हूं, वे मेरी चिन्ता दूर कर देते हैं।

(यह उल्लेखनीय है कि श्रीमती दुर्गादेवी अब भी अपने परिवार को ठीक प्रकार से देखभाल कर रही हैं। उनके पांच पुत्र तथा चार पुत्रियां हैं। सब एक ही परिवार के सदस्य हैं। अभी भी उन्होंने अपने दो पुत्रों व एक पुत्री का विवाह करना है। घर सदा पोते-पातियों तथा दौहते-दौहतियों और आने वाले अतिथियों से भरा रहता है और वे प्रत्येक का ध्यान रखती हुई अपना समय व्यतीत करती हैं।) ★

पुत्र तुल्य अनुज !

बनवारीलाल आर्य (भाई)

जवाहरलाल आर्य मेरा प्रिय भ्राता था। वह कट्टर आर्य था। उसकी विचारधारा दृढ़ और पवित्र थी। उसने अपना जीवन सत्य और ईमानदारी से व्यतीत किया।

यद्यपि वह मेरा छोटा भाई था, लेकिन मुझे पिता तुल्य मानता था। मैं जब भी हवन करता हूं उसकी याद बरबस आ जाती है और आंखें गीली हो जाती हैं, क्योंकि जब भी हम दोनों भाई इकट्ठे हवन करते थे तो हवन के अन्त में वह मेरे चरणस्पर्श करता था। इससे उसकी मेरे प्रति श्रद्धा और सम्मान स्पष्ट होता है। यह उसका एक आदर्श था।

उसका आकस्मिक देहावसान मेरे लिए अपूरणणीय क्षति है। ★

जिनसे पिता तुल्य प्यार मिला

सत्यदेव आर्य, सिलीगुड़ी

चाचा श्री जवाहरलाल जी कहने केलिए तो मेरे चाचा थे लेकिन बचपन से ही उन्होंने मुझे पिता जैसा प्यार दिया। जब मैं ८-१० साल का था तो देवराला में मुझे साथ-साथ रखते थे और खेतों में घुमाने ले जाते थे। फिर उन्होंने सिलीगुड़ी में दूकान कर ली। संयोग से मैंने भी सिलीगुड़ी में दूकान कर ली। जब भी मुझसे उनकी भेंट हुई, वे मुझे लाड में सतिया कहकर बुलाते थे और व्यापार तथा घर की सब बात पूछते थे। मुझे ऐसा कभी भी महसूस नहीं होने दिया कि मेरे पिताजी देश रहते हैं। अब उनके नहीं होने से सिलीगुड़ी में मेरा मन ही नहीं लगता है क्योंकि अब मुझे सतिया कहकर पुकारने वाला कोई नहीं रहा। ★

स: न: पर्षद् अतिद्विषः। (अथर्व० ६।३४।१)
ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् करे।

मुझे गर्व है मैं महान् व्यक्ति का पुत्र हूं

—आनन्द आर्य

पूज्य पिताजी अब इस दुनियां में नहीं हैं, यह दिमाग में आते ही मानव-सुलभ कमजोरी के कारण हृदय में हलचल पैदा हो जाती है, मन भर आता है, लेकिन तभी उनके द्वारा बताया गया मार्ग जो वैदिक मार्ग है, मुझे सान्त्वना देता हुआ कहता है—जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः (जो जन्मता है उसकी मृत्यु अवश्यम्भावी है)।

उनका पुत्र होने के नाते विरासत में उनसे जो संस्कार मिले हैं, वे मेरी अमूल्य निधि हैं। बचपन में जब पिताजी प्रातः सूर्य निकलने से पहले उठाते थे एवं कहते थे—"जो सोवत है सो खोवत है, जो जागत है सो पावत है," उस समय मुझे बहुत ही बुरा लगता था एवं खीझते हुए उठता था। लेकिन आज उसका लाभ प्रत्यक्ष रूप से अनुभव कर रहा हूं। यह भी महसूस कर रहा हूं कि कितना सत्य था उनका कथन। सुबह उठकर पैर छूकर नमस्ते करने में शुरु-शुरु में संकोच अनुभव करता था एवं बचकर निकलना चाहता था। पिताजी की तेज निगाहें इस बात को भांप लेती थीं। बड़े ही गम्भीर स्वर में वे कहते थे—"बेटा, नमस्ते!" और मैं पानी-पानी होकर उनके चरणों में झुक जाता था। उनकी उस महानता ने मेरे सारे संकोच दूर कर दिये। मैं सुबह उठते ही पिताजी एवं मां के चरण-स्पर्श करके अपने को धन्य समझने लगा। काश, वे चरण लम्बे समय तक मुझे छूने को मिलते। ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरी पूज्या देवी रूपिणी मां के चरण-स्पर्श करने का सौभाग्य मुझे लम्बी आयु तक मिलता रहे।

जब से होश सम्भाला, पिताजी को हमेशा शुद्धता पर ज़ोर देता हुआ पाया। नित्य प्रातःकाल वे घूमने जाते थे। दूर खटालों में जाकर सामने दूध निकलवा कर लाते थे। हरियाणा से शुद्ध घी मंगवाकर खाना उन्हें पसन्द था, इसीलिए उनका स्वास्थ्य भी बुलन्द था एवं मस्तिष्क भी। वे प्रातःकालीन कार्यों से निपट कर छत पर मां के साथ संध्या करने चले जाते थे। हमें यह चिन्ता रहती थी कि कहीं पिताजी नीचे आ जाएं और हम तैयार भी न हो सकें, अतः शीघ्रता से तैयार होकर हवन की तैयारी करते थे। उनके आते ही सारा परिवार समवेत रूप में एक पवित्र परिवेश में गोते लगाने लगता था। मुझे अब भी हवन की तैयारी करते हुए ऐसा लगता है, जैसे पिताजी सीढ़ियों से गायत्री मंत्र का जाप करते हुए उतर रहे हैं। कितना

असपत्नाः प्रदिशो मे भवन्तु। (अथर्व० १६।१६।१)
सभी दिशाएँ मेरे लिए शत्रु-रहित हों।

संयमित जीवन था उनका। चाहे सिलीगुड़ी हो, कलकत्ता हो या जन्मस्थान देवराला गांव हो, वे दोनों समय सन्ध्या एवं हवन करना नहीं छोड़ते थे। एक बार तो सिलीगुड़ी से कलकत्ता आते समय समिधा का पूरा बोरा ही भरकर ले आये थे, मेरे पूछने पर कि पिताजी, यह तकलीफ आपने क्यों की ?" बोले तुम २-४ किलो करके बाजार से मंगवाते हो, कभी मिलती कभी नहीं, वहां काफी तैयार करवाकर रखी थी, प्रतिदिन की चिन्ता नहीं रहेगी। क्या लगन थी उनकी यज्ञ के प्रति !

मेरे जीवन का प्रत्येक क्षण उनके द्वारा संवारा गया है। मैं क्या लिखूं एवं क्या छोड़ूं, समझ में नहीं आता। वे बराबर एक ही बात कहते थे—"बेटा, चरित्र ऊँचा रखो, उसमें दाग मत आने दो, फिर सभी जगह सफलता मिलेगी, विपत्तियों का समाधान होता जायेगा। उनकी यह चेतावनी वास्तव में मुझे काफी सन्मार्ग पर लायी है। पहले मुझे चरित्र निर्माण की बातें बेकार लगती थीं एवं खाओ पीओ मौज करो का सिद्धान्त ज्यादा अच्छा लगता था। लेकिन जब गम्भीर परिस्थितियों में पिताजी को अविचलित भाव से सही निर्णय लेते कई बार देखा तो मुझे इसमें उनके चरित्र की महानता स्पष्ट दिखाई दी। मैं भी इसी चरित्र-निर्माण के मार्ग का अनुसरण करने का प्रयत्न करने लगा। अभी तो उन तक पहुंचने में बहुत समय लगेगा, हां, उस पर चल जरूर पड़ा हूं।

व्यापार के बारे में भी उनका दृढ़ विश्वास था कि ईमानदारी की भावना से काम करने पर लाभ होगा ही। वे कहा करते थे कि किसी से रुपया या माल लेते समय उसको न लौटाने की भावना बना लेने से वह रुपया या माल कभी लाभ देगा ही नहीं। मुझे याद है १५ वर्ष पहले हमने सिलीगुड़ी दुकान में कर्मचारी को पांच हजार रुपये नगदी लिफाफे में डालकर बीमा करवाने केलिए डाकघर में भेजा, थोड़ी ही देर बाद में कर्मचारी रोता हुआ आया कि मेरा लिफाफा किसी ने निकाल लिया है। मैं काफी दुःखी हुआ। तब तक आस-पास के शुभ-चिन्तक भी आ गये, लेकिन पिताजी के चेहरे पर न तो रुपये खोने का दुःख था एवं न ही कर्मचारी के प्रति क्रोध। मुझे उदास देखकर उन्होंने बड़े ही सामान्य ढंग से कहा, इसमें उदास होने की क्या बात है, हमने जरूर कोई गलत कमाई की थी जो चली गई, आगे से ध्यान रखना है कि गलत कमाई घर में न आने पावे। उन्होंने जोर देकर मुझे काम करने को कहा एवं मैं उनकी बातों को सुनकर उत्साह से काम में लग गया। यह थी उनकी धनोपार्जन में शुभ-लाभ की भावना।

आर्यसमाज से उनका प्रगाढ़ नाता था। आर्यसमाज की उन्नति हो यह उनकी हार्दिक अभिलाषा रहती थी। मुझे आर्यसमाज का कार्य करते देखकर वे काफी प्रसन्न होते थे। उनको जब पता चला कि मैं बंगाल प्रान्तीय प्रतिनिधि सभा का कोषाध्यक्ष हो गया हूं तो काफी खुश हुए। सिलीगुड़ी आर्यसमाज में जाने पर वहां के सदस्यों ने मुझे प्रतिनिधि सभा के अधिकारी के नाते मंच पर बैठने का आग्रह किया। मैं पिताजी की उपस्थिति में ऊपर कैसे बैठ सकता था, पिताजी ने मेरी मनोदशा भांप ली एवं हंसते हुए कहा,—"बैठो बेटा, यह तो मेरे लिए खुशी की बात है।"

आज वे नहीं हैं। जो साया हमारे ऊपर उनका था, वह उठ गया है। लेकिन उनका पवित्र जीवन और उनकी तेजमयी वाणी हमें आज भी रास्ता दिखा रही है। उनका अस्तित्व आज भी मेरे सामने है। उनके स्थूल शरीर का ही तो नाश हुआ है, लेकिन अमर आत्मा ?··· उनकी अमर आत्मा का आलोक आज भी हमारे अन्तर को आलोकित कर रहा है। ईश्वर से अहर्निश हार्दिक प्रार्थना है कि हमें उनके बताए रास्ते पर चलने की प्रेरणा एवं सद्बुद्धि देवे। मुझे बहुत ही गर्व है, मैं इतने महान् विचारों वाले महान् व्यक्ति का पुत्र हूं। ★

सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।(अथर्व० १९।१५।६)
सब दिशाएं हमारे प्रति मित्रभाव से भरी हों।

पूज्य पिताश्री की पुण्य स्मृति में

सुभाष आर्य, आर्यनिवास, नेहरुरोड, सिलीगुड़ी

१४ दिसम्बर १९८५ की अर्द्ध रात्रि को हमारे परिवार का साया सदा के लिए उठ गया। हम भाइयों, बहनों एवं परिजनों के लिए भयानक त्रासदी थी। उनकी पुण्य-स्मृति पर कुछ लिखने बैठा हूं। कितना, क्या लिख पाऊँगा, कह नहीं सकता। उनके उदात्त गुणों का सही विश्लेषण कोई भावुक और संवेदनशील व्यक्ति ही कर सकता है। कुछ लिखने से पूर्व साधुमना और समुद्र से गम्भीर पिताजी को शत-शत प्रणाम समर्पित करता हूं।

वे मेरे पिता थे। लेकिन मैं उनकी महानता और गौरवशाली व्यक्तित्व को उनके जीवनकाल में समझ नहीं पाया। जीवट इतने कि अपनी पीड़ा को सहज भाव से चुपचाप झेलते रहे। बात स्पष्ट तब हुई, जब आहार की अरुचि और शारीरिक ह्रास आरम्भ हुआ। हम सब चिन्तित हो उठे। अब उन पर पारिवारिक दबाव पड़ना आरम्भ हुआ कि कलकत्ता जाकर उचित इलाज कराना ही चाहिए। कुछ दिनों तक तो टाल-मटोल करते रहे। लेकिन कब तक ऐसा चलता। आखिर वे हम सब भाई-बहनों के पिता थे। हमारे स्नेहशील दबाव और अनुरोध से समझौता करना पड़ा। कलकत्ता जाना निश्चित हो गया। उस समय तक 'वेद सप्ताह' का कार्यक्रम बन चुका था। समारोह के प्रति विशेष आकर्षण होने के बावजूद भी वे कलकत्ता जाने के लिये बाध्य थे। २५ अगस्त रविवारीय सत्संग और समारोह का प्रथम दिवस था। सत्संग निष्पन्न हो आगन्तुक विद्वानों से मिलकर निवास स्थान पर आये और कलकत्ता के लिए प्रस्थान कर गये।

कलकत्ता में निवास स्थान है। अपना व्यवसाय है। बड़े भाई साहब (श्री आनन्द आर्य) वहां रहते हैं। अत: पिताश्री की सेवा और देख-रेख में कोई त्रुटि हो, कोई सवाल ही पैदा नहीं होता था। वहां हम दोनों भाइयों ने अच्छे एवं ख्याति-प्राप्त डाक्टरों से सम्पर्क बना कर इलाज कराया। लेकिन डाक्टरों का परीक्षण बेकार एवं निर्णय अनिश्चित था। अन्तत: एक्सरे के पश्चात् कुछ समस्याएं सामने आयीं, लेकिन उन समस्याओं का समाधान डाक्टरों के पास नहीं था। कलकत्ता से बम्बई गये, फिर बम्बई से कलकत्ता आये। वहां कुछ दिन ठहर कर हताश, निराश ओर उदास वापस सिलीगुड़ी पहुंचे हम। लेकिन पिताश्री की सहजता और सामान्यता में कोई फर्क नहीं। कोई प्रतिक्रिया नहीं। उनकी निर्लिप्तता विस्मयकारी, गतिविधि आश्चर्यजनक और तटस्थता विलक्षण थी। न कोई चाह, न भावना, न कामना और न किसी की चिन्ता थी। जो कुछ भी था, जैसा भी था, सब ईश्वर को समर्पित। शान्त और गम्भीर मुखमुद्रा की स्थिति में लेटे हुए देखकर मेरा आहत मन कह उठता—"हे ईश्वर ! अभी इतनी जल्दी तू क्या करने जा रहा है ? यह परिवार, समाज और आत्मीय परिजन तड़प नहीं उठेंगे क्या ?"

एक दिन प्रात: परिवार के कई सदस्य पिताश्री के इर्द-गिर्द बैठे बातें कर रहे थे। जब कर्मफल की चर्चा चली तो पिता जी बोल उठे, मृत्यु सत्य है, नित्य है। वह जब भी आती है, दस्तक देकर

आती है। मृत्यु से पूर्व प्रत्येक व्यक्ति कर्मफल भोगने के लिए बाध्य होता है। मैं भी भोग रहा हूं। हो सकता है यह कर्मफल पूर्व-जन्म का हो। वर्तमान जीवन तो तुम लोगों के सामने है। ईश्वर ने सब साधन प्रदान किया है। हर तरह से सम्पन्न हूं। यह भी मेरा कर्मफल है। इस आनन्दमय वातावरण में पिछले शेष कर्मों का फल हंसते हुए भोग लूं तो मेरे लिए सुखद ही है। कर्मफल भोगना और मृत्यु का आना दोनों सत्य है। अतः सत्य को मानना, उसकी सजगता बनाए रखना हमारा धर्म है। पिता जी बोलते जा रहे थे। और हम लोग सुन रहे थे। उनके वैचारिक क्रांति के मूल को व्यावसायिक जगत् में सच्चाई को स्वीकार करना एक अग्नि परीक्षा है। मुझे स्वच्छ व्यापार की नीति दीक्षा के रूप में मिली है पिता श्री से। साथ ही मिला है आदर्श परिवार, परिचालन का ढंग तथा शुद्ध और सात्विक भोजन का रहस्य। प्रातः नियम से उठकर भ्रमण, आसन, संध्या, अग्निहोत्र एवं अतिथि-सत्कार की परम्परा उन हुतात्मा की देन है।

प्रत्येक व्यक्ति की अपनी एक विशिष्टता होती है और वह उसी विशिष्टता के अनुसार अपनी पहचान बनाने के लिए संघर्षरत रहता है। पिताश्री की विशिष्टता थी मानवीय गुणों की पूजा और भटके मानव का सुधार। एक घटना याद आती है—पिताजी दूकान पर बैठे थे। समय सायंकाल का था। प्रौढ़ावस्था का एक सम्भ्रान्त बंगाली (सेल टैक्स इन्सपेक्टर) दूकान पर आया और पिता जी से नमस्ते की। फिर आराम से बैठकर आदतन सिगरेट निकालकर पीने लगा। पिता जी ने हँसते हुए कहा—महाशय, यह क्या कर रहे हैं? क्यों अपना स्वास्थ्य बिगाड़ रहे हैं? इसके पीने से कोई लाभ बता सकें तो मैं भी आरम्भ कर दूं। एक ही श्वांस में इतने सारे प्रश्न, वह पदाधिकारी घबरा गया। लेकिन वह पढ़ा-लिखा भद्र अधिकार समझदार और विवेकशील था। अपने को सम्भालते हुए संयमित आवाज़ में जवाब दिया—मैं शर्मिन्दा हूं, चीज तो बहुत बुरी है, लेकिन छूट नहीं रही हैं। पिता जी ने बड़े ही स्नेह भरे शब्दों में कहा—महाशय, पहले आप धीरे-धीरे कम करें, फिर इच्छा शक्ति को प्रबल कर सर्वथा त्याग दें। यह मन की कमजोरी है। आप जैसे पढ़े-लिखे व्यक्ति को इतना कमजोर तो नहीं होना चाहिए। मैं अनुभव कर रहा था, पिता जी की एक-एक बात उस व्यक्ति के हृदय पर हथौड़े की तरह पड़ रही थी। वे चले गये, काफी दिन बीत गये। बात आयी गयी हो गयी। लगभग आठ महीनों के पश्चात् अचानक एक दिन वे व्यक्ति दूकान पर आ पहुंचे और पिता जी का चरण-स्पर्श कर बोल उठे—महोदय! मै आपका कृतज्ञ हूं। आपकी आत्मिक शक्ति और प्रभावशाली व्यक्तित्व के आगे मै अपने को बौना समझता हूं। आपकी वाणी में इतनी ताकत है कि उस दिन के बाद से मैं सिगरेट छू न सका। छोड़ने के लिये मुझे कोई प्रयत्न करना नहीं पड़ा। बस यहां से जाकर आज तक सिगरेट हाथ लगाया ही नहीं। परीक्षण के लिये आठ महीना रुका रहा कि शायद मन की कमजोरी पुनः उभर आये। लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस अन्तराल में मेरी पुरानी खांसी, दमे की शिकायत आदि बिल्कुल दूर हो गई। मुझे नव-जीवन मिला हैं। मै आपका आभारी हूं। वे बोले जा रहे थे कि पिता जी ने बीच में रोका और बैठाया।

पिता जी जितने प्रतिबद्ध थे अपनी विशिष्टता के प्रति उतने ही सजग और सचेष्ट थे मानवीय-मूल्यों के प्रति। वे हमेशा मितव्ययिता की बातें करते और कहते जो व्यक्ति अपने प्रति कम से कम खर्च कर संचय करता है, वही परिवार, समाज और राष्ट्र को सुखी बना सकता है, कुछ दायित्व ग्रहण कर सकता हैं। ये सारी बातें संध्याकालीन पारिवारिक गोष्ठी में होतीं। गोष्ठी की अध्यक्षता स्वयं पिताश्री करते। हम सब भाई-बहनें तरह-तरह के प्रश्न और शंकाएं रखते और पिताजी शालीनता से समुचित समाधान किया

माता पृथिवी महीयम्। (ऋ० १।१६४।४३)
यह विस्तृत पृथ्वी हमारी माता है।

करते थे। वे प्रतिभा के धनी और मानव-मन के अद्भुत पारखी थे। हम भाई-बहनों के स्वभाव को अच्छी तरह जानते थे। अतः हर शंका का समाधान युक्ति से कर उचित सलाह भी देते थे।

अब सब कुछ समाप्त हो गया है। उनके निर्मल इतिहास को अक्षुण्ण बनाये रखना हम सब भाई-बहनों की उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि होगी। इतिहास की नींव पर ही वर्तमान का महल बनता है। अतः पिताश्री के इतिहास की रक्षा के लिए किसी भी तरह की कुर्बानी करनी होगी। ★
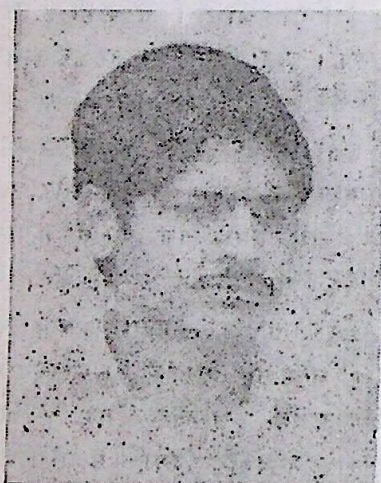
मेरे पूज्य पिता : एक आदर्श

रवीन्द्र आर्य

सामान्यतः उषावेला काफी सुहावनी होती है लेकिन १४ दिसम्बर १९८४ का वह प्रातःकालीन समय हमारे निजनिवास-स्थान आर्यनिवास के इर्द-गिर्द काफी मायूम लग रहा था। हमारे परिवार के सभी सदस्यों, रिश्तेदारों तथा प्रेमीजनों की आंखों में आंसू तथा गम्भीरता थी। इन सभी असामान्य परिस्थितियों का कारण था, हमारे परिवार का चमकता हुआ सूर्य समय से पूर्व ही अस्त हो गया था।

प्रकृति का भी यह अजीब नियम है। मरणोपरान्त भी पिताजी के चेहरे पर वह मुस्कराहट थी जिसे देखकर मन ही मन ऐसा लगता कि अभी पिताजी हमसे कुछ बोलेंगे, हमें कुछ आदेश देंगे। मन इस बात को मानने को तैयार नहीं हो रहा था—कि यह मुस्कराता हुआ चेहरा अब सदा के स्थिर हो गया है—मेरे पिता जी सदा-सदा के लिए मृत्यु शय्या पर सो गये थे। मेरे पिताजी एक आदर्श व्यक्ति थे। उन्होंने हमें सर्वदा सदाचार की बातें सिखायीं। वे हम सभी बहन-भाइयों को सुबह चार बजे उठने के लिए प्रेरित करते थे। उनकी शिक्षा के अनुसार हम सभी हमेशा सुबह उठते ही पिताजी-माताजी को चरण स्पर्श व नमस्ते करते और उनसे सदा हमें सन्मार्ग पर चलने का आशीर्वाद मिलता। आज उनके चले जाने के बाद सुबह माताजी को चरणस्पर्श नमस्ते करते समय पूज्य पिताजी की याद आती है। उनकी अनुपस्थिति दिल में चुभती है। ★

पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति ।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद् वरं रजः —महाकवि माघ

—पैर से ठोकर खाकर धूल भी सीधी सिर पर चढ़ती है। जो व्यक्ति बारम्बार अपमान सहकर भी व्यग्र नहीं होता, उससे तो धूल ही भली।

समय-समय पर श्री जवाहरलाल आर्य के मुख से निकले वचन

सुबुद्धि — बुद्धि से किसी भी कार्य को किया जा सकता है पर सुबुद्धि से मनुष्य सत्कार्य ही करता है।

यज्ञ — यह वह परोपकारी कार्य है जिससें सम्पूर्ण प्राणी-वर्ग लाभान्वित होता है।

स्वाध्याय — जिसप्रकार शरीर की त्वचा को स्वच्छ रखने केलिए स्नान किया जाता है, उसीप्रकार मन को स्वाध्याय स्वच्छ रखता है।

दृढ़ संकल्प — किसी भी कार्य को पूर्ण करने केलिए कर्ता को निश्चित रूप से दृढ़संकल्पी होना होगा।

पंचमहायज्ञ — मनुष्य को सुख, शान्ति एवं अच्छे विचार पंचमहायज्ञों के सम्पन्न करने से उपलब्ध होते हैं।

परोपकार — समाज अथवा राष्ट्र के प्रत्येक सदस्य में परोपकार की भावना का होना उस समाज एवं राष्ट्र के ही सुख व अमन चैन का प्रतीक है।

महात्मा — जिस मनुष्य की आत्मा महान् हो जाती है अर्थात् जो सुख एवं दुःख दोनों में ही समान रहे, वह महात्मा की संज्ञा पाता है।

व्यापार — शुद्ध भावना से किया गया व्यापार समाज व राष्ट्र केलिए वरदान है।

संयम — नागरिकों द्वारा समर्पण की भावना से किया गया संचय राष्ट्र का अनमोल खजाना होता है।

राम ! राम ! नहीं, नमस्ते !

प्रतिदिन के व्यवहार में प्रायः सम्पर्क में आने वाले व्यक्ति जवाहरलाल जी को अभिवादन केलिए जयराम जी की ! या राम-राम, किया करते थे। जिनका उत्तर वे नमस्ते कहकर देते थे।

एक दिन एक पढ़ा हुआ ग्राहक हमारे यहां आया एवं आते ही उसने जयरामजी की कहा। पिताजी ने बड़े प्रेम से उसका बैठाकर पूछा कि बेटा तुमने बुद्धि से कभी सोचा है कि अभिवादन में जयरामजी क्यों किया जाता है ? वह कुछ सकुचाता हुआ बोला कि इससे राम की जय की कामना की जाती है। पिताजी ने कहा कि देखो, यदि राम से तात्पर्य दशरथ के पुत्र राम से है तब तो राम एवं रावण की लड़ाई में सभी ने राम की विजय की कामना की थी एवं राम की जय का नारा लगाया था। अब न रावण है न राम। अब जय के नारे की क्या आवश्यकता ? अगर तुम ईश्वर के रूप में राम की जय का नारा लगाते हो तो जय-पराजय हमेशा दो बराबर के प्रतिद्वन्द्वियों में होती है, उस सर्वशक्तिमान् की कोई बराबरी का है ही नहीं। तब उनकी जय की कामना कैसी? इसलिए अभिवादन केलिए इसका उचित शब्द नमस्ते ही कहना चाहिए। वह नवयुवक इतना प्रभावित हुआ कि आगे से बराबर अभिवादन के लिए नमस्ते का ही प्रयोग करने का संकल्प करके उठा।
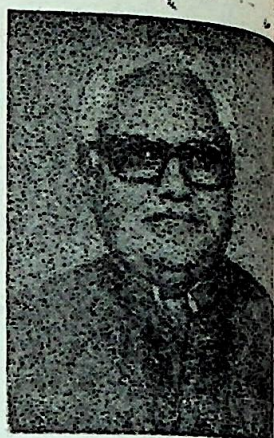
शाकाहार के पक्षपाती

एक दिन मैंने अपने पूज्य पिताजी से प्रसंग वश पूछा कि पिताजी खान-पान को लेकर आर्यसमाजियों में भी दो तरह के विचार के लोग हैं। कुछ मांसाहार का समर्थन करते हैं और कुछ विरोध? क्या यह सच है? अगर सच है तो कौन सा विचार ठीक है। उन्होंने उत्तर दिया कि भिन्न-भिन्न विचार के लोग तो सदा ही रहे हैं। सो आज के समाज में भी हो सकते हैं। हां जहां तक कौन सा ठीक है का प्रश्न है सो मेरी धारणा तो यह है कि इस सृष्टि में तीन अदालतें हैं-(१) मनुष्यों द्वारा सम्पादित अदालत (२) प्रकृति की अदालत और (३) परमात्मा की अदालत।

मनुष्यों द्वारा सम्पादित अदालत को कोई भी चतुर व्यक्ति धोखा दे सकता है किन्तु प्रकृति एवं परमात्मा की अदालत को धोखा नहीं दिया जा सकता, ये अपनी कार्यवाही अवश्य करती हैं। अर्थात् जो जैसा आहार लेगा वैसा ही प्रकृति उसे फल देगी। सात्विक आहार तथा पेय पदार्थ ही शरीर व मन को स्वस्थ रखते हैं।

संन्यासी का महत्त्व

मेरे एक मित्र ने एक बार मेरे पिताजी से प्रश्न किया कि बताइये जब आप आर्यसमाजी भगवान् रामचन्द्र तथा स्वामी दयानन्द दोनों को ही महान् पुरुष मानते हो तो दोनों में से बड़ा कौन है? पिताजी ने उसके प्रश्न का बड़े ही सुन्दर व सरल तरीके से उत्तर दिया-बेटे वैसे तो प्रत्येक महान् व्यक्ति अपनी-अपनी जगह पर होते हैं। उनकी तुलना करनी नहीं चाहिए। हां, फिर भी इतना जरूर है कि गृहस्थी को भी प्रेरणा संन्यासी ही देता है।

—सत्येन्द्र आर्य

मेरे पिता : मेरे गुरु : मेरे आदर्श !
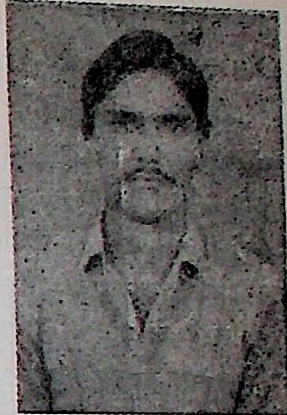
सत्येन्द्र आर्य

सम्पूर्ण सृष्टि के तीन तत्त्व हैं—परमात्मा, आत्मा एवं प्रकृति। इसमें परमात्मा सत्य है, चेतन है और आनन्दमय है, आत्मा सत्य और चेतन है तथा प्रकृति मात्र सत्य है। सृष्टि संचालन के नियमानुसार आत्मा भिन्न-भिन्न योनियों के रूप में इस प्रकृति का भोग करता है। इन विभिन्न योनियों में सर्वश्रेष्ठ योनि मनुष्य योनि होती है, जिसे विवेक-रूपी अनमोल दौलत विशेष रूप से प्रदान की जाती है, जिसके कारण वह प्रकृति का समुचित उपभोग करके आनन्द की प्राप्ति करता है। जो मनुष्य अपने विवेक को खो बैठता है, वह आनन्द प्राप्त नहीं कर पाता और इस प्रकृति मात्र के उपभोग करने में ही लीन हो जाता है। इसप्रकार के मनुष्य अपने अन्तिम समय में अपने किये पर पश्चात्ताप करते हैं, किन्तु उस समय कुछ करने को नहीं रह जाता और यह अनमोल मनुष्ययोनि निरर्थक सिद्ध होती है।

सामान्यतया यह देखा जाता है कि मनुष्य अपने कर्त्तव्य को समझ नहीं पाता और इसी वजह से वह अपने जीवन का लक्ष्य खाना, पीना और मौज करना बना लेता है। इसका कारण उसे उपयुक्त गुरु तथा आदर्श न मिल पाना होता है। किन्तु मैं यह अपना सौभाग्य समझता हूं कि ईश्वर ने मुझे मेरे पिता के रूप में एक विवेकशील गुरु तथा उपयुक्त आदर्श दिया। मुझे अच्छी प्रकार ध्यान है कि जब से मैंने होश सम्भाला तब से लेकर अपने स्वर्गवास तक उन्होंने मुझे हर कदम पर मानवता का पाठ पढ़ाया तथा उनके जीवन की हर छोटी-बड़ी घटनाओं से मुझे सदैव प्रेरणा मिलती रही है।

वैसे तो प्रत्येक माता पिता को अपनी सन्तान बेहद प्यारी लगती है, किन्तु फिर भी मैंने सदैव यह अनुभव किया कि मेरे पिताजी मुझे सभी भाइयों से ज्यादा ही स्नेह किया करते थे। वे सदैव मुझे "मेरा लाडला" कहा करते थे। इतना होने के बावजूद भी वे गलत सहन नहीं कर पाते थे। मुझे भली प्रकार याद है, एक दिन यज्ञ में मैं अज्ञानतावश प्रत्येक मंत्र के अन्त में आने वाले "इदन्न मम" को 'इदं मम' कह रहा था। उनका ध्यान इस अशुद्ध उच्चारण की ओर गया और उन्होंने अपने लाड़ले को (मुझे) इतनी जोर से डांटा कि सभी देखते रह गये और फिर काफी सुन्दर तरीके से उन्होंने अपनी विद्वत्ता से इस 'इदन्न मम' को परिभाषित किया, जिसे मैं आज भी भूल नहीं पाता। उन्होंने मुझसे कहा—'बेटा ! मैंने तुम्हें इसलिए नही डांटा कि तुम्हें इसका अर्थ नहीं मालूम, बल्कि इसलिए कि तुम्हारे हाथ में पुस्तक होते हुए भी तुम गलत पढ़ रहे हो। अर्थात्

अनागसो हत्या वै भीमा। अथ० १०।१।२९
निरपराध की हत्या करना बड़ा भयकर है।

यज्ञ का निरादर कर रहे हो । तब मैंने पूछा था कि पिताजी, क्या आप मुझे समझाएंगे कि यज्ञ का क्या महत्त्व है ! उन्होंने कहा था, कि प्राय: सभी अच्छे या बुरे कर्म इस प्रकार के हैं कि अगर तुम (कर्त्ता) न चाहो तो दूसरा प्राणी उससे प्रभावित नहीं भी हो । किन्तु यज्ञ एक ऐसा कार्य है जिसमें अर्पित किये गये उत्कृष्ट पदार्थों के प्रभाव से तुम न चाहकर भी दोस्त तो क्या तुम दुश्मन को भी लाभान्वित होने से नहीं रोक सकते । उससे होने वाली शुद्ध जलवायु (हवा) सभी को समान रूप से प्राप्त होगी । एक दिन उन्होंने मुझे अपने पास बैठाकर बड़े ही स्नेह से मेरी दिनचर्या ज्ञात की और सम्पूर्ण दिनचर्या में स्वाध्याय का कोई स्थान न पाकर, शायद उन्हें काफी कष्ट हुआ । फिर उन्होंने बहुत ही शान्तिपूर्वक विस्तार से मुझे स्वाध्याय की आवश्यकता एवं उसके महत्त्व के सम्बन्ध में जानकारी दी । उन्होंने कहा कि जिसप्रकार मनुष्य दिन भर दूषित हवा में रहने के कारण प्रातःकाल स्नान कर स्वच्छ होता है तथा मैले कपड़ों को साबुन आदि से साफ करता है, ठीक उसी प्रकार दिन भर अलग-अलग मत एव विचार वालों के सम्पर्क में रहने के कारण बुद्धि पर जो गन्दे विचार रूपी मैल जम जाता है, उसे साफ करने के लिए मनुष्य को प्रतिदिन नियमित रूप से स्वाध्याय रूपी स्नान से अपनी बुद्धि को स्वच्छ करना चाहिए । उनके द्वारा किया गया प्रत्येक क्रिया कलाप विवेक पूर्ण हुआ करता था । वे प्रतिदिन प्रातःकाल संध्या किया करते थे और संध्या के अन्त में कहा करते थे कि हे ईश्वर ! मुझे सुबुद्धि दे सन्मार्ग पर चला तथा दृढ़ संकल्पी बना ।

एक दिन मैंने उनसे कहा था पिताजी ! आप कृपया मुझे इन तीन शब्दों—सुबुद्धि, सन्मार्ग एवं दृढ़-सकल्पी का अर्थ स्पष्ट करने का कष्ट करें । तब वे कहने लगे कि मैं ईश्वर से सिर्फ बुद्धि न कहकर सुबुद्धि इसलिए कहता हूं, क्योंकि किसी भी प्रकार के कर्म में बुद्धि तो अनिवार्य है ही, मगर जिसके पास सुबुद्धि होगी वह कर्म भी अच्छे करेगा और जिसके पास कुबुद्धि होगी वह बुरे कर्म करेगा । अच्छी बुद्धि से सन्मार्ग पर चलते हुए मनुष्य दृढ़ संकल्प के अभाव में समाज केलिए हानिकारक हो सकता है । मान लो किसी ने कोई सामाजिक कार्य करने का बीड़ा उठाया और समाज का काफी धन व्यय करके भी उसे अपूर्ण अवस्था में छोड़ दे तो यह समाज का अहित ही होगा । इसीलिए मैं ईश्वर से सुबुद्धि और सन्मार्ग पर चलाने के साथ दृढ़ सकल्पी होने की अर्चना करता हूं ।

वे भोर वेला में उठकर भ्रमण करने जाते । फिर आसन, व्यायाम, स्नान, प्राणायाम, संध्या, यज्ञादि से निवृत्त होकर भोजन करके अपने दैनिक कार्य में लगते थे । जब कभी भी समय मिलता वे स्वाध्याय जरूर करते थे । उनमें किसी प्रकार का दुर्व्यवहार या दुराचरण नहीं था । उन्हीं की प्रेरणा से मुझ में भी अपने राष्ट्र, समाज एवं भाषा के प्रति प्रेम एवं श्रद्धा उत्पन हुई है । उनके जीवन, आचार-विचार और व्यवहार से ही मैंने भी यह अनुभव किया कि प्रत्येक मनुष्य का सबसे बड़ा धर्म और कर्त्तव्य अपनी व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय उन्नति करते हुए प्राणिमात्र का कल्याण करना है ।

मुझे तथा मेरे सम्पूर्ण परिवार को अपार दु:ख है कि हमारे गुरु और आदर्श आज हमारे नेतृत्व के लिए हमारे साथ नहीं हैं । साथ ही साथ इस बात का गर्व भी है कि मेरे पिता एक चिन्तनशील, विवेकशील मनुष्य थे, उनकी आत्मा महान् थी । उन्होंने स्वयं भी अपने जीवनकाल में आनन्द की प्राप्ति की और हमें भी ऐसे सन्मार्ग पर चलना सिखलाया है, जिससे हम भी सदैव आनन्दमय रह पायेंगे और कुकर्मों से अपने आपको बचा पाएंगे ।

अन्त में मैं ईश्वर से प्रार्थना करना हूं कि वह मुझे हर जन्म में इसी पिता का पुत्र होने का सौभाग्य प्रदान करें । ★

निन्दितारो निन्द्यासो भवन्तु । (ऋ० ०५।२।६
समाज में निन्दक लोग निन्दित हों ।

ऐसे थे मेरे पिता जी !

सुशीला गुप्ता

मेरे पूज्य पिताजी मेरे लिए प्रेरणा के वह स्रोत थे, जिनका प्रत्येक आदर्श हमें अपने जीवन में सफलतापूर्वक बढ़ने की राह दिखाता रहा एवं भविष्य में भी दिखाता रहेगा। वे एक आदर्श पिता के साथ-साथ आर्यसमाज के एक सक्रिय कार्यकर्ता भी थे। मैं उन्हें अपना मार्गदर्शक व गुरु मानती हूं। हमें उनके हँसमुख जीवन से आज पर्यन्त जो कुछ भी मिला है, वह वास्तव में उनकी धरोहर के रूप में सदा हमारे साथ रहेगा। बात-बात में मजाक करना तथा चुटकुले सुनाना उनकी हँसमुख प्रवृत्ति का परिचायक था। किन्तु इसके साथ ही वे गम्भीरतापूर्वक बैठकर कितनी ही बार हम भाई-बहनों के साथ विचार-विमर्श करते थे। उनके जीवन का यह नियम था कि वे न किसी की गलत बात सुनते थे और न कोई गलत बात स्वयं कहते थे। दूसरे की गलतियों को वे इसप्रकार उसके सम्मुख रखते कि वह अपनी भूल भी जान जाता तथा उसे किसी प्रकार की ठेस भी नहीं पहुंचती।

स्वदेशी वस्तुओं के प्रति उन्हें अथाह लगाव था। विदेशी चीजों का प्रयोग उन्हें अपने देश का अपमान लगता था। उनके अनुसार जब हमारा देश स्वावलम्बी है, अपनी जरूरत की चीजें स्वयं बना सकता है, तो हम अपने देश की बहुमूल्य मुद्रा विदेशी सामानों में व्यर्थ क्यों खर्च करें ? उनकी शिक्षा के प्रभाव से ही मैंने विदे ी साड़ियां पहननी छोड़ दीं।

पिताजी के जीवन के प्रति दृढ़ आस्था का पता मुझे तब चला, जब हम देहरादून में रहते थे। वहां हमें काफी आर्थिक विपन्नता का सामना करना पड़ा था। ऐसे समय में एक बार पिताजी वहां गये। तब उन्होंने कहा था कि बेटी, कभी हिम्मत मत हारना। ज़ीवन में कभी किसी का दिल मत दुखाना। परमात्मा तुम्हें जरूर कामयाब करेगा। उनकी इसी बात ने हमारा हौसला बढ़ाया था, इसी का परिणाम है कि आज हम उन कठिनाइयों को पार कर सफ़लतापूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

आज भी उनके साथ विताये हुए दिन हमारे सामने चलचित्र के समान घूमते रहते हैं तथा उन की बातें याद करके हमें ऐसा लगता है कि आज भी वे हमारे पास ही हैं। मेरे पिता एक प्रतीक के रूप में हमेशा मेरे सामने रहे हैं तथा रहेंगे। मुझे इस बात का गर्व है कि मैं उनकी पुत्री हूं। भगवान् मुझे इतनी शक्ति दे कि मैं सदा उनके आदर्शों पर चलूं तथा उन्हीं के समान 'सादा-जीवन उच्च विचार' वाली बनूं। ★

मेरे पूज्य पिताश्री

राजरानी अग्रवाल

अभी भी दिल यह मानने को तैयार नहीं कि मेरे पिताजी अब हमारे बीच नहीं रहे। परन्तु जो सच्चाई है—उसे तो मानना ही पड़ेगा। जब भी उनकी याद आती है, दिल में बड़ी ही टीस सी उठती है।

आज जब मैं अपने पूज्य पिताजी के विषय में लिखने बैठी हूं तो मुझे शब्द नहीं मिल रहे हैं। जो स्नेह, ममता, शिक्षा व सुरक्षा हमें उनसे मिली है वह केवल अनुभूति का ही विषय है, शब्दों में व्यक्त नहीं

अस्ति रत्नमनागसः। (ऋ० ८।६७।७)
निष्पाप लोगों को रत्न मिल कर रहता है।

की जा सकती। फिर भी मेरी स्मृति में जो कुछ भी सुरक्षित है उसे लिखने का प्रयास कर रही हूं। मेरे पूज्य पिताजी ने हमें अच्छी व आदर्श शिक्षा दी। उचित खर्च, सादा जीवन, उच्च विचार की जितनी भी भावना हमारे अन्दर हैं, उनकी शिक्षा का ही फल है। वे सास-श्वसुर व पति पक्ष के प्रति मेरे कर्त्तव्यों का बोध मुझे कराते रहे।

व्यक्तिगत व्यय में वे जितने मितव्ययी थे, दान देने में उतने ही उदार भी थे। एक बार मैंने उन्हें लिखा कि मद्रास अनाथालय के रसोईघर में कुछ मरम्मत का काम है जिसके लिए धन भेजिये। लौटती डाक से ही उन्होंने इक्कीस सौ रुपये भेज दिये। ईश्वर मेरे पूज्य पिताजी की आत्मा को शान्ति प्रदान करे। इस जीवन के बाद फिर कभी मनुष्य जन्म मिले तो ईश्वर से प्रार्थना है कि ऐसे ही पिता के घर जन्म मिले। ★

मेरे पिता एक आदर्श !

सुधा गुप्ता

प्रत्येक मनुष्य के चरित्र, आचार-विचार एवं व्यवहार को सुखकर एवं सर्वकल्याणकारी बनाने में उसके मां-बाप का योगदान होता है। और अगर किसी का व्यवहार रूढ़ हो तो भी मेरा विचार है कि उसमें भी उसके माता-पिता के संस्कारों का बहुत कुछ प्रभाव होता है। मेरे पूज्य पिताजी व्यावहारिक रूप में पञ्च-महायज्ञ का पालन करते थे। वे प्रातःकाल उठा करते, फिर परिवार के सभी सदस्यों को प्रातःकाल उठने का महत्त्व समझाते थे। यह उनकी प्रेरणा ही है कि हमारा सम्पूर्ण परिवार प्रतिदिन प्रातःकाल उठ जाता है। वे जगने के पश्चात् शौच इत्यादि करके भ्रमण को जाते एवं लौटकर स्नान करके व्यायाम, प्राणायाम, संध्या-हवन करते, फिर अपने दैनिक जीवन के अन्य कार्य-क्रम प्रारम्भ करते। दैनिक यज्ञ में परिवार के प्रत्येक सदस्य को अनिवार्य रूप से सम्मिलित होने को कहते एवं हवन में सभी को सम्मिलित देख अत्यधिक प्रसन्न होते। यज्ञ के अन्त में सभी को यज्ञ की महिमा समझाते हुए कहा करते थे कि यज्ञ वह शुभ कार्य है जिससे दुश्मन भी लाभान्वित होते हैं और मनुष्य में प्रत्येक आहुति के साथ अर्पण करने की भावना पनपती है।

किसी भी मेहमान या विद्वान् के पधारने पर तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहता। विद्वानों का आदर सत्कार करना उनका स्वभाव था, इससे हमें यह लाभ होता रहा कि हमें सदा विद्वानों की संगत मिलती रही और सन्मार्ग का ज्ञान भी होता रहा। मेरे पिता जी किसी भी प्रश्न का उत्तर अच्छी तरह समझाकर बताते थे। एक दिन मैंने जिज्ञासा वश उनसे पूछ ही लिया कि पिता जी स्वाध्याय का हमारे जीवन में क्या महत्त्व है? तब उन्होंने समझाया था– बेटी! जिस प्रकार दिनभर में तुम्हारे शरीर पर धूल लग जाती है और तुम धूल को स्नान करके साफ करती हो, ठीक उसी प्रकार मनुष्य दिन भर भिन्न-भिन्न विचार वालों के साथ समय व्यतीत करता है। उसके विचारों पर अच्छा-बुरा प्रभाव पड़ता है। शरीर की दैनिक सफाई की तरह ही मन पर पड़े बुरे विचारों की सफाई के लिए स्वाध्याय अनिवार्य है।

सं वै गुरुभारः शृणाति। (ऐत० ब्रा० ४।१७)
अधिक (कार्य)भार (व्यक्ति को) क्षीण करता है।

इस प्रकार वे हमें सदैव अच्छे कार्यों के लिए प्रेरणा देते रहे। विवाह के पश्चात् मैंने उनके एक-एक गुण को अपने जीवन में स्थान देने की कोशिश की। उन्होंने अपना जीवन हम बच्चों के सामने एक आदर्श के रूप में रखा है, जिसका अनुसरण हमें एक सुखी-जीवन प्रदान कर रहा है और करता भी रहेगा। ★

मुझे प्रत्येक जन्म में ऐसे ही पिता मिलें

उषा आर्य, सिलीगुड़ी

हम सभी नौ बहन-भाइयों पर से हमारे पिता जी का साया सदा-सदा के लिए उठ गया है। जब यह तथ्य हृदय के निकट आता है तो मन उसे स्वीकारने के लिये तैयार नहीं होता। लेकिन बाध्य होकर उसे यह स्वीकारना पड़ता है। सृष्टि का नियम अटल है, इसे कोई भी टाल नहीं सकता है। लेकिन साधारण मनुष्य तो मनुष्य ही होता है। यह सब जानने के बाद भी मन की उद्विग्नता शान्त नहीं होती।

जब मैं उनके बारे में लिखने बैठती हूं तो उनकी स्मृति को मेरा हृदय झेल नहीं पाता। मेरी आंखें भर आती हैं। बहन-भाइयों में सबसे छोटी होने के कारण वे मुझे हमेशा अपने साथ रखते थे। वे अपने प्यार भरे शब्दों से मुझे सदा 'आर्य कन्या' या गुड़िया' कहकर पुकारते थे।

यह मेरा और परिवार का सौभाग्य था कि मेरे पिताजी एक चिन्तनशील महात्मा थे। हमारे पिताजी हमें दैनिक जीवन में आवश्यकतानुसार सर्वदा शिक्षा तथा प्रेरणा देते रहते थे। मुझे आज भी वह घटना याद है, जब आर्यसमाज के किसी विशेष कार्यक्रम में हमारे ऊपर से अनेक सामानों के साथ कुछ मसनद भी लौटाये गये। मैंने एक मसनद को उठाकर अपने पास बैठे पूज्य पिता जी को उलाहना देते हुए कहा—देखिये न पिताजी! समाज वालों ने मसनद कितना गन्दा कर दिया है। मेरे इतना कहने पर उन्होंने मसनद का दूसरी ओर का हिस्सा दिखाते हुए कहा—बेटी यह तो साफ है। इतना कहने के साथ-साथ उन्होंने मुझे एक घटना सुनाई। दो शिष्य अपने गुरु के पास शिक्षा लेने गये थे। गुरु ने दोनों को एक गिलास देकर उसमें कुछ पानी लाने को कहा। इसके बाद क्रमशः उन्होंने दोनों शिष्यों से अलग-अलग उस गिलास की अवस्था के बारे में पूछा। एक शिष्य ने कहा गुरु जी! यह गिलास आधा खाली है। दूसरे ने उत्तर दिया—उसमें आधा गिलास पानी है। दोनों का उत्तर सुन गुरु जी ने पहले शिष्य से कहा— बेटे! तुमने गिलास की अवस्था का परिचय देते हुए अपने विचारों का भी परिचय दे दिया है। तुम किसी भी चीज में सिर्फ कमियां देखते हो। सिर्फ कमियां देखने वाला मनुष्य कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। इसप्रकार शिक्षा पाने का अधिकार तुम्हें नहीं। तुम्हारे मित्र को है जिसने गिलास की अच्छाई को देखा है। इसप्रकार उनके प्रत्येक मधुर वाक्य के पीछे कोई न कोई शिक्षा अवश्य छिपी रहती थी।

अक्सर परीक्षाओं के दिनों में मैं रात में काफी समय तक पढ़ती रहती थी, इसलिये मुझे सोने में काफी देर हो जाती थी। मेरे पिताजी हमेशा लगभग सुबह चार बजे उठते थे। वे मुझे उठाते तो मैं उन्हें अपने

मध्यमभयम्। (शत: ब्रा० १।१।२।२)
मध्यम मार्ग भयरहित है।

देर से सोने का कारण बताती। तब वे अंग्रेजों की निम्नलिखित पंक्तियों को दोहराते थे— अर्ली टु बेड,

अर्ली टु राइज, मेक्स ए मैन हैल्दी, वैल्दी एण्ड वाइज, अर्थात् रात्रि को जल्दी सोने और प्रातः जल्दी जागने से मनुष्य स्वस्थ, धनी और बुद्धिमान् बनता है। उन्होंने चाणक्य का उदाहरण देकर बताया कि वह चार बजे उठकर दैनिक कार्यक्रमों में निवृत्त होकर जब सन्ध्या हवन कराने लगता था, उस समय उसके चेहरे का ओज सूर्य की की लालिमा के समान चमकता था। इसलिये रात में १० बजे सोकर सुबह ४ बजे उठना चाहिये। इस तरह वे छोटी-छोटी बातों पर हमारा हमेशा ध्यान ले जाते थे।

मै उनकी सबसे छोटी पुत्री हूं। वे मुझे सभी बहन-भाइयों से अलग ही स्नेह करते थे। वे मेरी हर एक इच्छा की पूर्ति के लिये पूरी कोशिश करते थे। उन्होंने मुझे लड़कियों से सम्बन्धित सभी चीजें सिखलाई हैं। उन्हें संगीत का बड़ा शौक था। जब मैं हायर सैकेण्डरी के फर्स्ट इयर में पढ रही थी तव उन्होंने मेरे लिए हारमोनियम मंगवाया था। घर में जब भी मेहमान या विद्वान् आ जाते थे तो सबसे पहले मुझे बुलाकर हारमोनियम बजाने के लिए कहते थे। जब वे बीमार थे तब भी प्रायः शाम को मुझसे आरती तथा भजन अवश्य सुनते। ये अमिट यादें मेरे दिल से कभी नहीं मिट सकतीं। ऐसे स्नेहशील, चिन्तनशील पिता को पाकर मै अपने आप में गर्व अनुभव करती हूं।

मेरी परमात्मा से यही प्रार्थना है कि मुझे प्रत्येक जन्म में वही पिता मिलें। ★

पिता तुल्य मेरे श्वसुर !

देवराज, मद्रास

अभी तक मेरे जीवन-काल में कुछ ही पुरुष ऐसे हुए हैं, जिनके जीवन से मुझे कुछ शिक्षा व जो मेरे लिये आदर्श मिले हैं वे जीवन पर्यन्त रहेंगे। मेरे पूज्य श्वसुर उन आदर्श पुरुषों में से एक थे। आज वे हमारे बीच नहीं हैं, हैं तो सिर्फ उनकी यादें, बातें व हँसी विनोद के कहकहे। अपनी मृत्यु के ४-५ महीने तक वे पूर्ण स्वस्थ थे। हमें स्वप्न में भी यह ख्याल नहीं था कि उनका व हमारा अब थोड़े दिनों का ही साथ है।

किसी भी बात को दूर तक सोचने की व गहराई तक समझने की उनकी क्षमता असाधारण थी। उनकी इस असाधारण क्षमता का परिचय हमारी छोटी बहन सुषमा के रिश्ते के समय लगा। वे इस रिश्ते में मध्यस्थ थे। यह रिश्ता उन्हीं की व्यवहार कुशलता से तय हुआ।

वैदिक संस्कृति व आर्यसमाज के सिद्धान्तों पर उनकी अपार श्रद्धा थी। किसी भी सही बात को स्वीकार करने व गलत को छोड़ने में वे सदा तत्पर रहते थे। आर्यविचारों के वे एवं उनका परिवार तो प्रारम्भ से ही था, परन्तु घर में दैनिक यज्ञ नहीं होता था। मेरे पूज्य पिताजी ने उन्हें दैनिक यज्ञ की प्रेरणा दी तथा उन्होंने (मेरे श्वसुर ने) सहर्ष इसे स्वीकार कर अपने घर में दैनिक यज्ञ आरम्भ कर दिया।

ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे, हमें ऐसी प्रेरणा दें कि उनके आदर्श व उच्च विचारों को हम अपनी जिन्दगी में ला सकें।

पिता तुल्य मेरे श्वसुर को मेरी शत-शत श्रद्धाञ्जलि ! ★

संग्रामो वै क्रूरम्। (शत० ब्रा० १।२।५।१९)
युद्ध क्रूर होता है।

मेरे श्वसुर पिता समान थे

जगदीशप्रसाद गुप्त, कलकत्ता

मेरे पूज्य श्वसुर जी मेरे पिता के समान थे। मै जब भी उनसे मिलता था, मुझे हमेशा कोई न कोई नयी बात सीखने को मिलती थीं। वास्तव में मै उन्हें अपना मार्गदर्शक तथा गुरु मानता था। उनकी सादगी, कर्त्तव्यपरायणता, राष्ट्रभाषा के प्रति अपार प्रेम, ईश्वर में अटूट विश्वास, सत्यवादिता, स्वदेश प्रेम आदि गुण निश्चय ही अनुकरणीय थे।

पिताजी सदा चाहते थे कि हमारे आचार-विचार में समानता रहे। वे कहा करते थे कि विचार आचरण में प्रकट होने से ही जीवन की पूर्णता सिद्ध होती है।

उनका कहना था कि हमें उतना ही खर्च करना चाहिए जितनी हमारी कमाई हो। जब हमारे मन में बाहरी वस्तुओं के प्रति आकर्षण बढ़ जाता है, तब हम अनुचित ढंग से पैसा कमाना चाहते हैं। इस नीति के वे कट्टर विरोधी थे।

पूज्य पिताजी ने अपने जीवन काल में आर्य समाज की बड़ी लगन से सेवा की तथा उसके आदर्शों को ग्रहण किया। आर्य समाज के प्रति अपने इसी प्रेम के कारण वे रोज सवेरे संध्या-हवन करते थे तथा दूसरों को भी करने की शिक्षा देते थे।

दैनिक जीवन की प्रत्येक छोटी-बड़ी बातों में वे जागरूक रहे और अपने सिद्धान्तों पर दृढ़तापूर्वक चलते रहे। मृत्यु शय्या पर भी उनके चेहरे पर मुस्कराहट तथा अपार शान्ति थी। यह सच है कि जो अपने धर्म और सत्य पर दृढ़ रहते हैं, जिन्दगी में किसी का बुरा नहीं चाहते, वे हमेशा भगवान् की अपार कृपा प्राप्त करके अपना जीवन धन्य कर लेते हैं। उनका जीवन इसका ज्वलन्त उदाहरण था। ★

हमारे नाना जी !

अनुराधा आर्या, सुमन गुप्ता, सोमा गुप्ता (नतिनी)

मनीश गुप्ता (नाती)

पूज्य नानाजी के प्रति हमारे मन में अपार श्रद्धा व सम्मान है। आर्यसमाज के प्रति हमारा लगाव उन्हीं की देन है। वे ऐसे विद्वान् और श्रेष्ठ व्यक्ति थे कि छोटे-बड़े सभी उनका मान करते थे। वे सदा अपने धार्मिक विश्वासों पर अटल रहे और सन्मार्ग पर चलते रहे। उनका उच्च व्यक्तित्व और धनी चरित्र नि:सन्देह प्रशंसनीय व अनुकरणीय है। वे सर्वथा अपने पवित्र सिद्धान्तों के अनुसार चलने वाले महानुभाव थे। उन्होंने हम सब भाई बहनों को नित्य संध्या हवन करने की प्रेरणा व अपनी संस्कृति पहचानने की क्षमता दी। हम सब सदा उनके आभारी रहेंगे। ★

सर्वं वा इदमेति च प्रेति च। शत ब्रा० १।४।१।६
जो कुछ आता है, वह सब जाता भी है।

मेरे ससुर मेरे आदर्श !

राधा आर्य

मैं जिस परिवार में पली थी, उस परिवार के वातावरण से मेरे ससुर जी के परिवार का वातावरण बिल्कुल भिन्न रहा। शादी के पहले यह जानकर कि मैं आर्य विचारों वाले परिवार में जा रही हूं, मन में तरह-तरह की शंकाएं होने लगीं थीं। न जाने कैसा व्यवहार होता है आर्यों का। मुझे किस तरह से वहां रहना होगा आदि। लेकिन श्वसुर जी के घर आने के बाद उनका व्यवहार एव उनकी शिक्षाओं से मेरी सारी आशंकाएं मिट गईं और वहां मुझे एक नया, स्वच्छन्द एवं सम्मानयुक्त वातावरण मिला।

मैं अपनी अन्तरात्मा से कह रही हूं कि मनुस्मृति की सूक्ति, "यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:" का यथार्थ और व्यावहारिक रूप मुझे ससुराल में ही देखने को मिला। घर की छोटी-बड़ी समस्याएं हों या अन्य कार्यक्रम बिना सभी की सलाह के नहीं होता। वैदिक सिद्धान्तों के प्रति उनका विश्वास दृढ़ था तथा उन सिद्धान्तों को समझाने की उनकी शैली इतनी सरल और प्रभावोत्पादक थी कि मैं वैदिक सिद्धांतों को सही मानने लगी थी जबकि मैं कट्टर पौराणिक परिवार के उस वातावरण में पली थी, जहां मूर्तिपूजा करना, व्रत रखना, देवी देवताओं का आना और इष्ट-अनिष्ट करना आदि धर्म का आवश्यक अंग था, इस परिवार में आकर मुझे इन अवस्थाओं की कभी याद भी नहीं आयी। संध्या हवन करना ही अपना कर्त्तव्य समझने लगी।

जब मैं बहू बनकर उनके घर आयी तब मेरे श्वसुर जी ने बहुत ही प्यार भरे शब्दों में कहा था बेटी ! तुम इस घर में बढ़िया से बढ़िया खाओ, अच्छा पहनो एवं इच्छानुसार दर्शनीय स्थानों पर भ्रमण करो, लेकिन मेरी एक बात मानना कि सिनेमा देखने की ज्यादा चेष्टा मत करना, यह मुझे बिल्कुल पसन्द नहीं है। उनके इन प्यार भरे शब्दों ने मुझे इतना प्रभावित किया कि मैंने सिलीगुड़ी में कभी सिनेमा नहीं देखा। आज परिवार का सुन्दर वातावरण देखकर मुझे उनके उस आग्रह की सार्थकता का पता चलता है।

मुझे याद नहीं आता कि मेरे श्वसुर जी ने कभी कोई बात मानने के लिए मुझे बाध्य किया हो। मैंने कोई इच्छा प्रकट की हो एवं उन्होंने उसकी पूर्ति न की हो ऐसा ध्यान नहीं। क्या ही महान् व्यक्तित्व था उनका। उन जैसा श्वसुर पाकर मैं अपने को भाग्यशालिनी मानती हूं। ईश्वर मुझे उनके बताए मार्ग पर चलने की प्रेरणा दे, जिससे मैं उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकूं। ★

वाचो वा इदं सर्वं प्रभवति। शत०ब्रा० १।३।२।१६
वाणी से ही यह सब उत्पन्न होता है।

मुझे पिता जैसा ही प्यार उनसे मिला

उमादेवी आर्य, आर्यसमाज, सिलीगुड़ी

मेरे ससुर क्या थे —विचार करती हूं तो मुझ साधारण स्त्री के लिए उनके बारे में कुछ लिखना कठिन-सा प्रतीत होता है। आज से सात वर्ष पूर्व मुझे यह न मालूम था कि आर्यसमाज किसे कहते हैं ?

मैंने २५ नवम्बर १९७९ को सिलीगुड़ी के आर्यनिवास में कदम रखा, तब से देखती आ रही हूं कि वे कितने प्रयत्नशील और कर्मशील व्यक्ति थे। चाहे सर्दी हो या गर्मी मैंने उन्हें हमेशा ब्राह्ममुहूर्त में उठकर नियमित रूप से कुएं के पानी से नहाते देखा। मुझे तो देखकर थरथरी-सी छूटती थी, मन में कहे बिना न रह पाती थी कि कमाल कर दिया पिताजी। वे स्नान करने के बाद टहलने के लिए जाते थे। फिर संध्या करने ऊपर छत पर चले जाते थे, फिर सीधे हवन करने बैठते थे, घर के सभी सदस्यों को हवन में बैठने का आदेश था। उनकी हार्दिक इच्छा रहती थी कि सभी मिलकर हवन करें। किसी दिन कोई देर से पहुंचता था, तो वे उसे नम्रता एवं प्यार भरे गुस्से से उसे उलाहना देते थे। देर से पहुंचने वाले को स्वयं शर्मिन्दा होकर झुकना पड़ता था। उनकी इस दिनचर्या को देखते हुए वास्तव में मुझे यह दिव्य प्रकाश ज्ञान हुआ कि आर्यसमाज किसे कहते हैं।

जब मै नयी-नयी आई तो मुझे सब कुछ नया-सा लगता था। किसी ने ठीक ही कहा है कि जब कोई मनुष्य अपने से महान् व्यक्तित्व के सम्पर्क में आता हो तो उसे सब कुछ नया नजर आता है। मैं १२ वर्ष की आयु में पितृहीन हो गयी थी। मुझे पिता जैसा ही प्यार उनसे मिला।

वे हर किसी समस्या को चाहे घर की हो या बाहर की इतनी सुगमता से सुलझा देते थे कि सुनने वाला हर व्यक्ति चकित हो जाता था, उनके बोलने में जो गरिमा व गम्भीरता थी वह हर किसी में मिलनी असम्भव है। सुनने वाले को हरप्रकार से सन्तुष्टि होती थी। वह मन ही मन पिताजी की तीक्ष्ण बुद्धि की सराहना किये बिना न रहता होगा, मुझे खुद को इस बात पर गर्व है।

मेरे मायके में कोई दो-चार बार पिताजी कार्यवश वहां गये होंगे। वहां अड़ोस-पड़ोस के लोग देखते तो मुझ से कहते उमा ! ये तुम्हारे ससुरजी हैं ? ऐसे लगते हैं जैसे कहीं के नेता हो। चेहरे पर कितना तेज है, चाल में कितना रोब है। सुन-सुनकर मैं खुशी से मन ही मन फूली न समाती। सोचती हूं यूं हर आने वाले को जाना होता है पर बिरले ही कोई ऐसे होते हैं जिनकी अच्छाइयों को भुलाना कठिन होता है जिनकी यादें हर दिल पर एक अमिट छाप छोड़ जाती हैं जो कि रह-रह कर दिल में एक तस्वीर बनकर उभर आती है। पूज्य पिताजी उन्हीं बिरलों में से एक थे। उन्होंने अपने जीवन का लक्ष्य गरीबों की मदद करना, आये हुए विद्वानों की सेवा व आदर-सत्कार में जी जान से जुट जाना, गोशाला, धर्मशाला व स्कूलों में आवश्यतानुसार तन मन, धन से सहायता करना ही बनाया था।

पर प्रभु की लीला अजीब है। किसी न ठीक ही कहा है कि जिसकी यहां चाहना होती है उसकी वहां भी चाहना जल्दी हो जाती है। ईश्वर ने हम पर यह कैसा वज्रपात किया ? १४ दिसम्बर ८६ को पिता जी रूपी अनमोल रत्न को हमसे सदा-सदा के लिए जुदा कर दिया। उनकी शिक्षाप्रद बातें हमें जीवन भर अच्छे मार्ग दर्शाती रहेंगी। मेरे श्रद्धा के फूल उनके चरणों में अर्पित है। ईश्वर उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करे।

★

मत्स्य एवं मत्स्यं गिलति। (शत०ब्रा० ६।८।१।३)
मछली ही मछली को निगलती हैं। (मत्स्यन्याय)

उनमें दोष ही क्या था !

अर्पणा आर्य

मै १५ वर्ष तक अपने दादाजी के पास पली थी । लेकिन आज मुझ से कोई यह प्रश्न पूछ दे कि तुम्हारे दादा जी में गुण क्या थे, तो मैं वहीं उसकी आँखों में झांकने लग जाऊँगी । मेरी आंखें उस समय व्यक्ति से एक ही प्रश्न बार-बार दुहराती रहेंगी कि उनमें दोष ही क्या थे ?

उनके चरित्र के विषय में मेरे लिए ये पक्तियां लिखनी आवश्यक हो जाती हैं—

चरित में पूत, भुजा में शक्ति, नम्रता रही सदा सम्पन्न ।
हृदय के गौरव में था गर्व, किसी को देख न सके विपन्न ।।
उनके संचय में था दान, अतिथि थे सदा उनके देव ।
वचन में सत्य हृदय में तेज, प्रतिज्ञा में रहती थी टेव ।।

इन पंक्तियों में उनकी सारी विशेषताए झलक जाती हैं । उन्होंने कभी भी धनी को धनी मान कर सेवा तथा गरीब को गरीब मानकर अपमान नहीं किया । उनका कहना था—

धनवान् अगर है झूठा,
शैतान के बराबर ।
निर्धन अगर है सच्चा,
भगवान् के बराबर ।

उनका व्यक्तित्व इतना ऊँचा था कि उन्होंने कभी भी नौकर और बेटे में अन्तर नहीं समझा।

उनका व्यक्तित्व सरल, उदार, गम्भीर और भव्य था । उनके सम्पूर्ण जीवन का निर्माण स्वामी दयानन्द सरस्वती की सहन-शीलता, महावीर स्वामी की अहिंसा, महात्मा बुद्ध की करूणा, गांधी जी के मैत्री भाव और सर्वोदय की सबसे उत्थान की भावन के सम्मिश्रण से हुआ था । आप अध्ययनशील तो थे ही, किन्तु उससे भी बढ़कर चिन्तक और मननशील थे ।

★

दादाजी की मधुर याद में

अर्चना आर्य

एक दो को छोड़कर हर इन्सान एक फूल की तरह होता है, जिनके हटते ही सुगन्ध चली जाती है । दादा जी उन्हीं एक दो में से थे । मुझे उनकी बहुत याद आती है । जब भी मै अकेली रहती हूं, तो उनका हँसमुख चेहरा मेरी आंखों के सामने नाचने लगता है और उनकी प्यार भरी बातें याद आने लगती हैं । आप की कमी पूरे परिवार को ही नहीं बल्कि पूरे समाज को खल रही है, क्योंकि आपका सहयोग हर अच्छे काम में रहता था । स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सच्चाई का जो मार्ग दिखाया है उसका सही अनुसरण मेरे दादाजी ने किया और हमें भी बताया । बच्चों के लिए दादाजी के हृदय में जो प्यार था और हमें जिस तरह प्यार करते थे उसे में कभी नहीं भुला पाऊँगी । मैं कभी सपने में भी नहीं सोची थी कि इस तरह मेरे दादाजी का प्यार मुझ से बिछुड़ जायेगा ।

उनका मुस्कराता हुआ चेहरा ।
रहता है हरदम मेरे सामने,
पर किसका बस चलता है ।।
उस ईश्वर के सामने ।

★

द्वितीयवान् हि वार्यवान् । (शत०ब्रा० ३।७।३।८)
साथीवाला ही बली है ।

स्व० दादाजी के प्रति

वन्दना आर्य

दुनियां में बहुत से लोग आते हैं और चले जाते हैं, लेकिन बहुत से लोग ऐसे भी होते हैं, जो अपने पीछे एक निशानी छोड़ जाते हैं, उन्हीं स्मरणीय पुरुषों में से मेरे दादा जी भी एक थे। आप शान्ति और सरलता के प्रतीक थे। उन्होंने कभी भी धन वालों का सम्मान और निर्धन का अपमान नहीं किया। उन्होंने हमेशा सबको बराबर समझा। वे किसी को दुःखी नहीं देखना चाहते थे। वे दूसरों की भलाई में आपनी भलाई समझते थे। मेरे दादा जी का जीवन सरल था। उनकी श्रद्धा सत्य के प्रति थी। वे हम सब बच्चों को बहुत प्यार करते थे।

लेकिन, नहीं रहे मेरे दादा जी,
याद रहेगा उनका प्यार।
कैसे बतला सकती हूं,
वे करते थे कितना प्यार॥ ★

कहानी व कविताएं किसे सुनाऊँ ?

ज्योत्स्ना आर्या

मैं अपने दादा जी के पास ६ साल तक पली, लेकिन मुझे याद नहीं आता कि मेरे दादा जी ने मुझे कभी डांटा है। आप मुझे इतना प्यार करते थे कि मैं उन्हें भूल नहीं सकती। जब मुझे दादा जी की याद आती है तो आंखें गीली हो जाती हैं। उनका कहना था कि सदा सत्य बोलो, प्रतिदिन संध्या-हवन किया करो। जो लोग तुम्हें दुःख दें, उनकी भी अपनी तरफ से भलाई करते चलो। जो लोग तुमको दुःख पहुंचाते हैं उन्हें ईश्वर स्वयं देखता रहता है, वह उन्हें स्वयं ही उसका फल देगा। उनका यह भी कहना था कि अगर तुम बड़ा बनना चाहती हो, तो बन सकती हो लेकिन इसके लिये महान् कार्य करने पड़ेंगे। बड़ा बनने के लिये हमेशा काम करते रहना चाहिये। हर काम आत्मनिर्भर रहकर करना चाहिये, सफलता आज नहीं तो कल अवश्य मिलेगी। काम करते समय स्वयं पर पूरा भरोसा रखना चाहिये। बड़ों की सदा इज्जत करनी चाहिये।

उनका यह भी कहना था कि तुम काम करती रहो, यह मत सोचो कि इसका क्या फल मिलेगा? फल ईश्वर स्वयं देगा। और मुझे यह भी याद आता है कि शाम को संध्या खत्म होने के बाद कितनी अच्छी-अच्छी कहानी व कविताएं सुनाया करते थे। वह याद करती हूं तो मुझे बहुत रोना आता है, क्योंकि दादा जी इस दुनियां में नहीं रहे, मैं अपनी कहानी व कविताएं किसे सुनाऊँ? ★

जल उठती है छू जाने पर रवि-पद से रविमणि बेजान।
तो तेजस्वी जन फिर कैसे सह सकते पर-कृत अपमान॥ —महाभारत

पराभवस्य हैतन्मुखं यदतिमानः। (शत०ब्रा० ४।६।७।१)
अभिमान ही पराभव या तिरस्कार का द्वार है।

मेरे नाना जी

सुमन गुप्ता

सभी जनों के आप सहारे थे।
अन्य लोगों से आप न्यारे थे।
न जाने ऐसा क्या था आप में
जिस कारण आप हमको इतने प्यारे थे।

संकटों से आप कभी न डरे,
सदा सत्पथ पर ही कदम बढ़े।
नेकी कर मिलता था आपको सुख,
मन रहता था तत्पर, हरने को दूसरों के दुख

रहे सदा अपने पथ पर डटे,
किसी के सामने कभी न झुके।
दीनता कभी न आपके चेहरे पर दिखलाई देती,
दिव्यता, ओजस्विता ही सदा छाई रहती।

किया सबका पर कभी न कहा कि मैंने किया है,
दिया सबको कभी न किसी से कुछ लिया है।
दूसरों से जो लिया—वह था ज्ञान
जिसको पाकर निरन्तर रहे महान्।

याद आता है हमको आपका उज्ज्वल मुख,
जिसे देख मिलता था एक अद्भुत सुख।
न जाने उनमें कैसी थी कान्ति,
जो अन्य को प्रदान करती एक चिर शान्ति।

आप को याद कर नेत्र भर आते हैं,
किन्तु यही सोच सन्तोष कर लेते हैं।
मिटना है इक दिन सभी को,
आज नहीं तो, कल को।

●

मन एवं मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः। (मैत्रा० ६।३४)
मन ही मनुष्य के बन्धन और मोक्ष का कारण है।

वंशवृक्ष

सिलुराम
नथन राम
मोलुराम
दुलाराम
पूरनमल
जीवनराम
धर्मु
कृपाराम
खेमचन्द
वालाराम
परतराम
खुशहाल
तेजराम
जोधराज
केदारनाथ
गोविन्दराम
वनवारी लाल
जवाहरलाल
सत्यदेव आर्य
प्रयागचन्द
गजानन्द
खुशहालचन्द
जयदेव
इनकी सन्तानों का विवरण
पृष्ठ उलट कर देखें
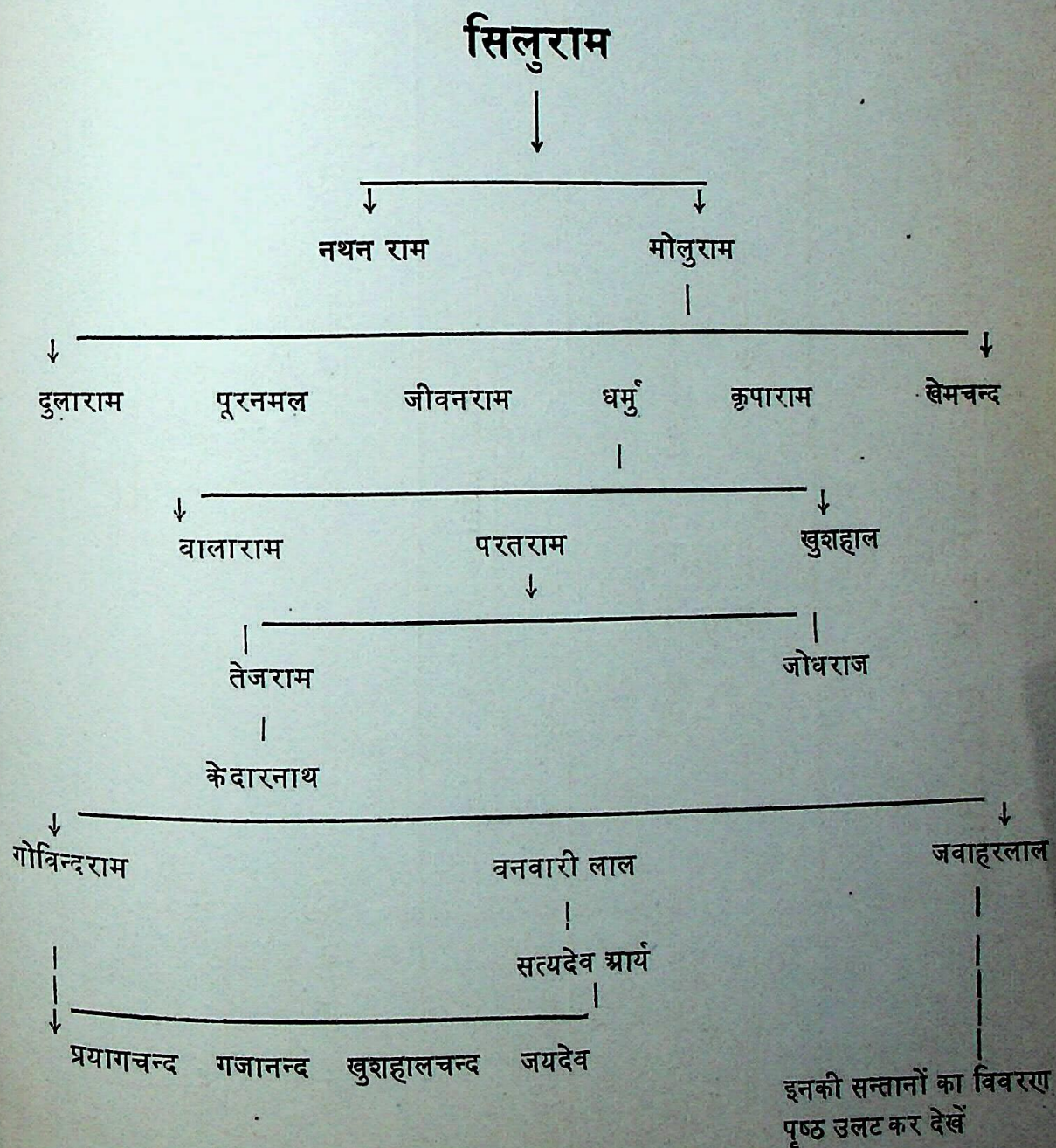
जवाहरलाल आर्य (धर्मपत्नी श्रीमती दुर्गादेवी)
1
श्रीमती सुशीलादेवी गुप्ता
(कलकत्ता)
(पति श्री जगदीश गुप्त सुपुत्र
श्री हरिकिशन गुप्ता, भिवानी)
अनुराधा (पति-अश्वनी), सुमन, सीमा, मनीष
2
श्री आनन्द देव आर्य
(कलकत्ता)
(पत्नी राधा)
अर्पणा अर्चना वन्दना ज्योत्स्ना यश:देव अरुणा
3
श्रीमती राजरानी अग्रवाल
(मद्रास)
(पति श्री देवराज पुत्र पुष्करलाल)
कलकत्ता
पीयूष
विवेक
4
श्री सुभाष चन्द्र आर्य
(सिलीगुड़ी)
(पत्नी–उमा)
मनीषा
वेदकुमारी
5
श्री अशोक आर्य (गोहाटी)
(पत्नी सुलोचना)
सत्यव्रत
वेदश्री
6
श्री रवीन्द्र आर्य
सिलीगुड़ी
7
श्रीमती सुधा देवी गुप्ता
दिल्ली (पति श्री सुरेन्द्र कुमार
पुत्र श्री जयकिशन लाल)
हांसी वाले
आशीष
वरुण
कविता
8
श्री सत्येन्द्र आर्य
सिलीगुड़ी
9
सुश्री उषा आर्या
सिलीगुड़ी

मेरे दादा जी

आर्यकुमार आर्य

पूज्य दादा जवाहरलाल जी के साथ मेरा निकट सम्पर्क बहुत कम रहा। जब दादा जी सर्वप्रथम बम्बई निजी कार्य हेतु आये उस समय मैंने बम्बई गद्दी आरम्भ की थी। एक-दो दिन उनको मैंने प्रातः भ्रमण हेतु नरीमन पोइंट एवम् चौपाटी जाते देखा। मुझे उन्होंने टोका नहीं। आखिर दो-दिन के बाद उन्होंने पूछ लिया कि बेटा! घूमने जाते हो? मैंने न की तो उन्होंने काफी आन्तरिक पीड़ा महसूस की। उनकी आन्तरिक पीड़ा को मैं सहन नहीं कर सका और उसी दिन से उनके साथ हो लिया। बड़ा ही आनन्द आया। हम दोनों दादा-पोता घूमे, आपस में काफी आन्तरिक एवं पारिवारिक बातचीत की। जितने दिन वे बम्बई ठहरे, मैं बराबर उनके साथ घूमने जाता रहा। मुझे उनके साथ घूमने जाने एवं बातचीत करने में काफी सुख मिला। उनके जाने के बाद फिर वह क्रम टूट गया। अब जब भी जाने की सोचता हूं, उनकी याद आ जाती है। वे जब भी मिलते तब स्वास्थ्य एवं आर्यसमाज की बातें करते। समाज के लिये वे बहुत चिन्तित थे।

जब वे उपचार के लिये बम्बई आये, तब मैं उनको लेने के लिये सान्ताक्रूज हवाई अड्डे गया था। मिलते ही उन्होंने मुझे चूमा। आलिङ्गन करते हुए कहा कि बेटा! अब मैं नहीं जिऊंगा। उस समय मेरा भी दिल भर आया। मैंने उनको ढांढ़स बँधाया तो भी वे बराबर यही कहते रहे कि मैं जिऊंगा नहीं। मेरा दिल टूट गया। मैं अपने आप को रोक नहीं पाया। यह था उनका पारिवारिक आन्तरिक प्रेम। सच है अपनों को देखकर आदमी का दिल भर आता है। मुझे उन्होंने जो सिखाया और आन्तरिक अनुभूति हुई उसके लिये मैं उनका ऋणी हूं। इस ऋण से मैं उऋण नहीं हो सकता।

परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि उनकी आत्मा को शान्ति प्रदान करें तथा हम लोगों इस महान् दुःख को सहन करने की क्षमता दें। ★

मेरे चाचा का व्यक्तित्व

खुशहालचन्द्र आर्य

मेरे स्व० चाचा जवाहर लाल जी आर्य एक अनुपम सच्चरित्रवान् व्यक्ति थे। उनके जीवन में मितव्ययिता, समझदारी, सहनशीलता एवं सदाचार के गुण कूट-कूट कर भरे थे। उनको महर्षि दयानन्द और वैदिक सिद्धान्तों में अगाध श्रद्धा थी। वे परिवार तथा समाज के अच्छे संचालक थे। वे अपनी कुशाग्र बुद्धि से कठिन से कठिन समस्या को बहुत सरल ढंग से सुलझा देते थे, इसीलिए उनके निर्णय का सब आदर करते थे। आप आर्यसमाज सिलीगुड़ी के कर्णधारों में से एक थे। वर्षों तक आप प्रधान तथा अन्य उच्च पदों पर सुशोभित रहे। ईश्वर ने अब आपको पारिवारिक जिम्मेदारियों से भी निवृत्त कर दिया था। सुयोग्य लड़कों ने व्यापार तथा गृहस्थी के सब काम अच्छे ढंग से सम्भाल लिए थे। अब आपने ज्यादा समय जीवन को संवारने व आर्यसमाज के कार्यों में लगा रखा था। समय और सादगी का आपने आजीवन निर्वाह किया।

चाचा जी में मेरी बहुत श्रद्धा थी। मैं जब कभी भी सिलीगुड़ी जाता था तो उनसे एक या दो घण्टे बातचीत करने पर ही मुझे आत्मसन्तुष्टि होती थी और मेरी जिज्ञासा-प्रवृत्ति को सन्तोष मिलता था। आर्य

श्रद्धा हि तद् यदद्य ।अनद्धा हि तद् यच्छवः। (श०ब्रा० २।१।३।१)
आज निश्चित है। जो कल है, वह अनिश्चित है।

समाज सिलीगुड़ी को आप से बहुत उम्मीद थी और उस उम्मीद को पूर्ण करने में आप पूरी योग्यता के साथ अग्रसर भी थे। आप पूरे तन, मन, धन से आर्यसमाज सिलीगुड़ी की सेवा कर रहे थे। लेकिन किसको क्या मालूम था कि विधि के विधान में कुछ और ही लिखा हुआ है! परमपिता परमात्मा ने अपनी न्यायव्यवस्था के अनुसार आपको १४-१२-८५ को हमसे सदा के लिए अलग कर दिया। इस वियोग से हम सब परिवार वाले बहुत दुखी हैं। परमपिता परमात्मा से प्रार्थना है कि हमें इस महान् असह्य दुःख को सहन करने की शक्ति दे तथा चाचा जी की महान् आत्मा को सद्गति प्रदान करे। उनके प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि भी यही होगी कि हम भी उन्हीं की तरह जीवन भर वैदिक प्रचार में जुटे रहें तथा उनके आचरण का अनुसरण करें—

जिसकी अभी जरूरत थी, वह असमय ही चले गये।
जिसकी सौरभ खिल रही थी, वे क्रूर काल से मले गये॥

मैंने अपने चाचाजी के आदर्श जीवन को कुछ पंक्तियों में कविता बद्ध करने की चेष्टा की है—

चाचा जी तुम अनुपम पुरुष थे, काफी गुण थे तुम में विद्यमान।
सच्चरित्रता, मितव्ययिता, संयमी, कुशाग्र बुद्धि, शरीर से बलवान्॥
सिलीगुड़ी समाज के कर्णधार थे विघ्नों को सुबुद्धि से करते पार थे।
सादा जीवन और उच्च विचार थे, वैदिक सिद्धान्त ही आपके आधार थे
जीवन आपका था महान्
संध्या हवन जिसका नित्यकर्म था, अन्धविश्वासों में जिसको नहीं भ्रम था
सत्य सदाचार को ही समझा धर्म था, वेद विरुद्ध बातों में न बना कभी नम्र था॥
आदर्श आपका था आलिशान······

★

जिनकी महक सदा रहेगी

संजय गोलछा, सिलीगुड़ी

मानव के प्रकृति विजय के अभियान में इस बात से बड़ी बाधाए आई हैं कि उसके जीवन में अचानक न जाने कैसे परिस्थितियां बदलती चली जाती हे और उसका अपनी परि-कल्पना का जीवन दूसरे ही आकार-प्रकार में ढल जाता है। मानव-जीवन की इसी विडम्बना का शिकार मेरे मित्र का परिवार हुआ है।

जब पहली बार अगस्त १९८५ में पूज्य ताऊजी के बीमार होने की चर्चा सुनी तो साधारण शारीरिक समस्या का विचार हुआ। लेकिन हम तो जैसे आसमान से गिरे। जब उस भीषण त्रासदी के उन पर आक्रमण की घोषणा सुनी, ईश्वर के प्रति मन हाहाकार कर उठा। यह विडम्बना तो हुई कि इस त्रासदी से उस व्यक्ति को झुकना पड़ रहा था, जिसके दैनिक जीवन में पुण्यकार्यों का एक लम्बा सिलसिला था।

लेकिन उस प्रकोप को ईश्वर प्रदत्त मान सीधे स्वीकार करना पुरुषत्व नहीं था और साधनों की भी कमी न थी। बड़े धैर्य व लगन के साथ उनके परिवार ने उनके साथ मिलकर नियति से युद्ध किया। लेकिन उस सूर्य की रोशनी कम होती चली गयी। और एक दिन हम अकेले हो गये।

पराभवस्य है तन्मुखं यदतिमानः। (श०ब्रा० ४।६।७।१)
अभिमान हीं पदभेव का द्वार है।

पूज्य ताऊजी का स्वर्गवास ईश्वर के अनादि काल से चले आ रहे जीवन-चक्र की निवृति का ही संस्करण है, परन्तु वे उन वीरानों में से थे जिनके पुण्यकार्यों की महक आने वाले कई वर्षों तक रहेगी। अत्यन्त सादगी व उच्चतम विचारों के धनी उस महान् व्यक्तित्व से मेरा सम्पर्क उनके सबसे छोटे पुत्र सत्येन्द्र की अन्तरंगता के कारण पिछले पांच सालों से था। लेकिन इन पांच सालों में मैंने उनसे जो कुछ पाया, वह अमूल्य है। आध्यात्मिक रूप से प्रबुद्ध धीर गम्भीर ताऊजी से मैं कई बार घंटों तक विभिन्न विषयों पर सुनता रहता था। मेरे स्वय के चरित्र-निर्माण के कई आयाम मैंने उनके सत्संग में पूर्ण किये। इस क्षेत्र में उनके अहसानों को याद कर मेरा मस्तक उनके सामने झुक जाता है और उनकी अनुपस्थिति का अहसास और तीव्र हो उठता है।

उनके द्वारा संस्थापित संस्कार के सम्बल से उनके परिवार की मजबूती सुदृढ़ रह सकी है। उनके परिवार की आने वाली पीढ़ियां उस महान् देवता के उपकारों को कभी विस्मृत न कर पाएंगी। उस महापुरुष को मेरा शतश: प्रणाम। ★

अविस्मरणीय सम्बन्धी

हरिराम गर्ग, सिलीगुड़ी

जवाहरलाल जी आर्य के साथ हमारे परिवार का व्यापारिक सम्बन्ध तो बहुत सालों से था, पर हमारे परिवारिक सम्बन्ध सन् १९६९ ई० में बने, जब मेरी चचेरी बहन का विवाह उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री आनन्द देव जी आर्य के साथ हुआ। इसके बाद हमारा सम्बन्ध काफी नजदीकी का हो गया और हमारे परिवार के सभी सदस्यों को उनके निकट आने के अगणित अवसर मिले। फिर जून १९८२ में मेरी सबसे छोटी बहन सुलोचना का विवाह उनके तृतीय पुत्र श्री अशोक आर्य के साथ सम्पन्न हुआ और सम्बन्ध निकट से निकटतर होते गये।

विवाह के दौरान और उसके बाद उनके व्यक्तित्व के कई पहलू हमारे सामने आए। अच्छे वक्ता, सादगी, न कोई दिखावा, न किसी से कोई द्वेष, बुराइयों से मीलों दूर, साधु प्रवृत्ति, परोपकार में तत्पर, निष्ठावान आर्यसमाजी, सज्जनों से मैत्री, समाज के प्रत्येक अच्छे कार्य में सबसे अग्रणी, ये सब उनके स्वभाव के सहज गुण थे।

किसी के कुछ कहने या बहकाने पर कभी कोई गलत काम नहीं किया उन्होंने। हमेशा अपने विवेक से ही काम लिया।

"सन्तः, परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते, मूढ़ः परप्रत्ययनेयबुद्धिः"

उदात्त पुरुष का लक्षण यह है कि उचित और अनुचित की स्वविवेक से परीक्षा करके उचित का चयन करे, दूसरे के कहने पर उचित अनुचित स्वीकार कर लेने वाले को मूढ़ कहते हैं।

समुद्र जैसी गम्भीरता थी उनमें। असाध्य रोग का सन्देह होने पर उनको कलकत्ता से बम्बई कैसे ले जाया जाय, कैसे उनको कहा जाय कि बम्बई जाना है, क्योंकि बम्बई के नाम से ही उन्हें पता चल जाने की आशंका थी—घर वालों के सामने परेशानी उठ खड़ी हुई। सबको परेशान देखकर उन्होंने पूछा कि बात क्या है? आनन्द जी ने बड़े ही संकोच के साथ कहा कि डाक्टर ने कहा है कि मामूली सा अलसर है पर बम्बई एक्स-रे वगैरह या और जांच करा ली जावे तो अच्छा रहे। इस पर समझकर भी नासमझ बन उन्होंने कहा कि इसमें परेशानी की क्या बात है। डाक्टर जैसा कहे, वैसा किया जावे। बम्बई भी तो अपना घर ही है।

न श्वः श्वमुपासीत। (शत०ब्रा० २।१।३।९)
कल के भरोसे मत बैठो।

बम्बई हास्पिटल में इलाज के दौरान सारे घर वालों के साथ उनका एक आंख मिचौनी-सा खेल होता रहा। न खुलकर उन्होंने प्रकट किया कि उन्हें सब पता है, न हम लोगों ने खुलकर कहा कि बीमारी क्या है ? वे भी अनजान बनने का नाटक करते हुए एक विशाल समुद्र की तरह सारा दर्द अन्दर समेटे हुए उसी मुस्कान के साथ सबसे मिलते रहे।

एक दिन दोपहर में मुझे अकेला पाकर कहा—"हरीराम, पर या बिमारी मेरे किस्तरां हुई ?" मैं कोई भी जवाब नहीं दे सका। अपने आंसुओं को रोक नहीं पाया और कमरे से बाहर निकल आया। आज भी जब उनकी याद आती है, तो ये शब्द मेरे कानों में गूंजने लगते हैं और अपने आप से यही प्रश्न पूछने लगता हूं कि यह बिमारी उन्हें कैसे हुई याद आते हैं गीता के ये श्लोक (अ० ६/१६, १७)—

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः ।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।

न ज्यादा खाओ न कम, न ज्यादा सोवो, न अधिक जागो। युक्ताहार, युक्तविहार, युक्तचेष्टा, युक्तकर्म, युक्तसोना और युक्तजागना—यह क्रम संसार यात्रा के दुःख को हर लेता है। यह श्री कृष्ण का कथन केवल पढ़ने की चीज नहीं, आचरण की चीज है। क्षति के त्याग से, सहज काम और सहज विश्राम से संसार यात्रा सुगम होती है, स्वास्थ्य अच्छा रहता है, उम्र लम्बी होती है और काम भी डटकर होता है।

ऊपर के इन श्लोकों को मौसाजी ने तो अपने जीवन में अपना रखा था। खान-पान व रहन-सहन में जो नियमितता उन्होंने अपने पूरे जीवन काल में बरती थी, उतनी कम लोगों ने बरती होगी। सो उनका सवाल कि "या बिमारी मेरे किस्तरां" एक दम सहज एवं स्वाभाविक था।

पर उसी का यह विधान भी तो बताया हुआ है कि यहां कोइ सदा के लिए ठहर नहीं सकता। कहा है—"आया है सो जायेगा, राजा रंक फकीर।"

मौसा जी का भौतिक शरीर तो गया, पर उनकी आत्मा अमर है। मानो कह रही हो—

'न भी रहे तो कोई बात नहीं,
आत्मा पर होता आघात नहीं।'

उनके विषय में कहा जा सकता है—
"युग पुरुष ही नहीं आप युग के हस्ताक्षर थे।
कर्म के अध्याय में विलक्षणतम अक्षर थे।"

अशनाया वै पाप्मा मतिः। (ऐत० ब्रा० २।२)
भूख ही पाप, बुद्धि है।

ईश्वर-स्तोत्र

त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्वं मम देव-देव ॥

मातु तुही गुरु तात तुही, मित भ्रात तुही धन-धान्य हमारो ।
ईश तुही जगदीश तुही, मम शीश तुही प्रभु राखन हारो ।
राव तुही उमराव तुही, सतभाव तुही प्रभु राखन हारो ।
सार तुही, करतार तुही घरबार तुही परिवार हमारो ॥

नमस्ते सते ते जगत्-कारणाय नमस्ते चिते सर्वलोकाश्रयाय ।
नमोऽद्वैत तत्त्वाय मुक्तिप्रदाय नमो ब्रह्मणे व्यापिने शाश्वताय ॥

नमस्ते निराकार निर्गुण निरूपम्, नमस्ते शिवं सत्य-सुन्दर-स्वरूपम् ।
नमस्ते अगोचर अगम ओजदायक, नमस्ते निरंजन निगम-नीतिनायक ।
नमस्ते महेश्वर महा मोक्षदाता, नमस्ते विभू विश्वव्यापी विधाता ।
नमस्ते सदा सच्चिदानन्द स्वामी, नमस्ते नियंता 'भवानी' नमामि ॥

त्वमेकं शरण्यं त्वमेकं वरेण्यं त्वमेकं जगत्पालकं स्वप्रकाशम् ।
त्वमेकं जगत्कर्तृ पातृ हर्तृ त्वमेकं परं निश्चलं निर्विकल्पम् ॥

हे वन्दनीय ईश्वर! तेरी शरण में आया, तू है स्वयं प्रकाशित, तेरी त्रिलोक माया ।
जग के तुम्हीं जनक हो पालक विनाशकारी, हे नाथ! अब दयाकर सुधि वेग लो हमारी ।

भयानां भयं भीषणं भीषणानां, गतिः प्राणिनां पावनं पावनानां ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥

भीषण तुझ से भीत और भय भी भय खावे, जीवन को गतिशील रसज्ञ पवित्र बनावे ।
सर्वोपरि सर्वेश सच्चिदानन्द स्वरूपम्, रक्षण के रखवार सभी में दिव्य अनूपम।

वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत्साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधिपोतं शरण्यं व्रजामः ॥

सुमिरन, भजन, साधना द्वारा तुमसे नेह लगाऊं ।
घट-घट व्यापी की छाया में श्रेय मार्ग पर जाऊं ।
एक मात्र अवलम्ब सभी का है तू आश्रय दाता ।
तेरे नाम निगम-नौका से भव-सागर तर जाता ॥

(अनु० पूज्य स्वामी भवानीदयाल जी वैदिक मिशनरी)

(स्व० श्री जवाहरलाल जी आर्य संध्या के बाद स्वामी शंकराचार्य जी द्वारा रचित उक्त स्तोत्रों को अत्यन्त रुचि और तन्मयता से गाया करते थे ।)

विशिष्ट जीवनपद्धति व दिनचर्या

आर्यसमाज ने व्यक्तित्व-निर्माण पर विशेष बल दिया है। स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व जो लोग आर्यसमाज के सम्पर्क में आए उनका जीवन, उनकी दिनचर्या, उनकी वेश-भूषा, बोलचाल का ढंग, रहन-सहन, सभी कुछ सामान्य जनता से भिन्न था। उनमें सादगी थी, सौम्यता व सरलता थी। वह अपनी आकृति और हावभाव से ही अपनी महानता को प्रकट करता था। उसका बाह्य और आन्तरिक जीवन बहुत ऊँचा था। श्री जवाहरलाल आर्य का जीवन भी उन्हीं महान् आर्यसमाजियों के समान बहुत ऊंचा रहा है। वे शुद्ध और ठोस आर्यसमाजी थे। शरीर और रहन सहन में भी और विचारों में भी।

उनकी दिनचर्या अद्‌भुत थी। प्रातः ४ बजे शय्या का त्याग, ५ बजे तक नित्य कर्मों से निवृत्ति। दाँतों की सफाई के लिए वे सदा कीकर अथवा नीम की दातुन का ही प्रयोग करते। सर्दी हो या गर्मी या बरसात प्रतिदिन प्रातःकालीन भ्रमण। ६ बजे तक वापिस आकर तेलमालिश तथा ठण्डे जल से स्नान। फिर छत पर जाकर सन्ध्या।

तब तक नीचे हवन की तैयारी हो जाती थी। वे सारे परिवार के साथ मिलकर हवन करते। अपनी गौओं की सेवा वे प्रतिदिन स्वयं अपने हाथों से करते। इसमें उनको विशेष आनन्द की प्राप्ति होती।

वे प्रतिदिन प्रातःकाल गाय का दूध तथा हलका नाश्ता लेते। सात्विक भोजन उनके जीवन का अंग था। रात्रि में १० बजे सोने से पूर्व भी गाय का दूध अवश्य लेते। उन्होंने कभी बाजार की वस्तु को नहीं छुआ। चाय, पान, धूम्रवर्तिका आदि के सेवन का तो प्रश्न ही नहीं।

दिन भर व्यापार के साथ आर्यसमाज व अन्य सामाजिक संस्थाओं के कार्यों में संलग्न रहते। घर के कार्यों में सबकी राय करने का उनका विशेष स्वभाव था। अभ्यागतों का स्वागत व अतिथि सेवा उनके जीवन का अंग था। स्वाध्याय तथा चिन्तन उनका मनोरंजन था। न किसी से ईर्ष्या न द्वेष, जिन्दादिली व प्रसन्नता उनके व्यक्तित्व में समायी हुई थी।

वस्तुतः व्यक्ति अपनी दिनचर्या व रहन-सहन से ही जीवन में महान् बनता है। श्री जवाहरलाल आर्य की जीवनपद्धति व दिनचर्या सचमुच विशिष्ट थी। अनुकरणीय थी।

प्राचीन कथन है, जिससे बेहतर कहा भी नहीं जा सकता—'तमसो मा ज्योतिर्गमय'। कोई भी व्यक्ति अपने भीतर झांक कर देखे, मालूम हो सकेगा कि उसकी कौन सी आकांक्षाएं अपने अथवा संगियों के कल्याण की ओर उन्मुख हैं। कुछ लोग तो इसे अपने सहज ज्ञान के कारण जान जाते हैं, लेकिन बहुत से लोगों में यह सहज ज्ञान नहीं होता। फिर भी, सतत अन्वेषण करते रहने पर वे अपनी अपूर्णताएं, खराबियां, बुराइयां कुछ भी नाम दीजिए, उन्हें जान पायेंगे। फिर वे भी जान जायेंगे कि उनके जीवन को अधिक स्वतंत्र और सुखी होने से रोकने वाली इन बाधाओं को क्योंकर हटाया जा सकता है।

—हेलेन केलर

विचार ! ! !

स्व० जवाहरलाल जी आर्य का जीवन आर्य-सिद्धान्तों का जीवन्त रूप था। उनके जीवन का अधिकाँश समय आर्यसिद्धान्तों के अध्ययन, मनन और निदिध्यासन के अतिरिक्त उसके प्रचार और प्रसार में व्यतीत होता था। उन्हें आर्य-विद्वानों की सत्संगति व उनके विचार विमर्श में व उनके उपदेश कराने में विशेष रुचि थी। यहां प्रसिद्ध आर्य-विद्वानों के लेखों को देने से हमें ऐसा लग रहा है मानो हम उन्हीं के कार्य को करने का एक लघु प्रयास कर रहे हैं....... ।

जिस दिन वेद नहीं रहेंगे उस दिन मनुष्य जाति भी नहीं रहेगी !

बुद्धिवाद की कसौटी पर इलहाम

—क्षितीश वेदालंकार
सम्पादक, आर्यजगत्, नई दिल्ली

स्वर्गीय पं० जवाहर लाल नेहरू अपनी "हिन्दुस्तान की कहानी" (डिस्कवरी ऑफ इंडिया) नामक विश्वविख्यात पुस्तक में लिखते हैं:–

"बहुत से हिन्दू वेद को इलहामी किताब या ईश्वरीय ज्ञान वाला धर्मग्रन्थ मानते हैं। मुझे यह बात ख़ास तौर से दुर्भाग्यपूर्ण लगती है, क्योंकि इसप्रकार हम उसके वास्तविक महत्त्व को नजरन्दाज कर देते हैं और विचार को आदिम अवस्था में मानव-जाति ने अपने मनोगत भावों को किस प्रकार व्यक्त किया है, उसे भुला देते हैं।"

आधुनिक सुशिक्षित बुद्धिवादी विचारक वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने के संबंध में जिस प्रकार की धारणा रखते हैं उसका सबसे अच्छा प्रतिनिधित्व श्री नेहरू का उक्त कथन करता है।

यों प्रत्येक धर्मावलम्बी अपने धर्मग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान की कोटि में गिनता है। उन मतों के प्रवर्तकों ने भी अपनी बात पर अपने अनुयायियों को सतत प्रगाढ़ बनाये रखने के लिए इसी प्रकार के प्रवाद को प्रचलित किया और प्रश्रय भी दिया। इसलिए इस प्रकार के प्रवाद के प्रचार में अनुयायियों का उतना दोष नहीं, जितना स्वयं इन मतों के प्रवर्तकों का है। अनुयायी तो अपने पैगम्बर को ही जब ईश्वर का अवतार या पैगाम लाने वाला, या साक्षात् उसका पुत्र था प्रतिनिधि ही मान बैठे, तब उनकी तर्क की आँख तो पहले ही बन्द हो गई। शायद ऐसे लोगों की ईश्वर-सम्बन्धी कल्पना भी ईश्वर को किसी सामन्त-कालीन राजा से अधिक नहीं गिनती। शायद क्या, निश्चय ही यही बात है। तभी तो लोगों ने ईश्वर के रहने के लिये सातवां आसमान या चौथा आसमान, या कैलाश पर्वत और क्षीरसागर अथवा स्वर्गलोक, वैकुण्ठलोक अथवा गोलोक नामक स्थान-विशेष कल्पित किये हैं। स्थान-विशेष तक ईश्वर को सीमित करने वालों के मन में निश्चय ही ईश्वर की सर्वव्यापकता की कल्पना नहीं है।

वदतोव्याघात दोष

यही बात मत-प्रवर्तकों द्वारा अपने लिखे ग्रन्थों को ईश्वरीय या इलहामी बनाने की है। यह तो वैसे ही वदतो व्याघात है। लिखे कोई, और लेखक के रूप में नाम किसी और का प्रचारित किया जाये—यह तो छल है, कानून की दृष्टि से अपराध भी है। या बहुत रियायत करनी हो तो यह कहा जा सकता है कि जैसे आजकल के विश्वविद्यालयों के अनेक प्राध्यापक अपने छात्रों द्वारा लिखी पुस्तक को अपने नाम से प्रचारित करते हैं या छात्रों के परिश्रम का शोषण करके प्रतिवर्ष अपने नाम से नई पाठ्यपुस्तक तैयार कर देते हैं, वैसी ही बात इन धर्मग्रन्थों के साथ भी है।

प्रत्येक मतावलम्वी द्वारा अपने धर्मग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान मानने में मोह की मात्रा ही अधिक है और वह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से स्वाभाविक भी है। परन्तु श्री नेहरू जैसे बुद्धिवादियों की दृष्टि में किसी ग्रन्थ को ईश्वरीय ज्ञान या उसे इलहामी मानना स्वयं उस ग्रन्थ के महत्त्व को कम करना है। नीतिकार तो कहते हैं कि—'बालादपि ग्रहीतव्यं युक्तियुक्तं मनीषिभिः'—अर्थात् उचित बात यदि किसी बालक के मुख से भी निकले तो मनुष्यों को उसे ग्रहण करना चाहिये–

किन्तु धर्मग्रन्थों के बारे में विचित्र स्थिति है। उनमें लिखी बात के औचित्य के बारे में उतना ज़ोर नहीं दिया

धियं वनेम ऋतया सपन्तः (ऋ०2।1।12)
सदाचरण से परस्पर प्रेम करते हुए हम बुद्धि प्राप्त करें।

जाता जितना इस बात पर दिया जाता है कि वह बात किसके मुख से निकली है।

गीता यद्यपि महाभारत का अंश है, और महाभारत के प्रणेता महर्षि व्यास हैं– यह सर्वविदित है, इसलिये गीता के प्रणेता भी महर्षि व्यास ही हुए। फिर भी गीता के बारे में "या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद् विनिस्सृता" स्वयं श्री कृष्ण के मुखकमल से उसके उच्चरित होने का प्रचार किया गया।

क्या वेद ऋषि-प्रणीत हैं ?

कहीं स्वयं वेदों के बारे में भी तो यही बात नहीं हैं ? उन्हें बनाया ही ऋषियों ने और कह दिया गया हो कि वे ईश्वर की वाणी हैं,, ईश्वर-कृत हैं, अपौरुषेय हैं–अर्थात् मनुष्य-कृत नहीं हैं।

(यहां हम "पौरुषेय" और अपौरुषेय" शब्दों के शास्त्रीय विवाद में नहीं पड़ेंगे, क्योंकि स्वयं मीमांसादर्शन और न्यायदर्शन में इन शब्दों के अर्थ और प्रयोग में अंतर है और मतभेद भी। अपौरुषेय शब्द का सामान्य अर्थ है—जो पुरुष अर्थात् मनुष्य द्वारा निर्मित न हो—जैसा कि योगदर्शन द्वारा 'क्लेश कर्मविपाकाशयैर परामृष्टः पुरुष-विशेष ईश्वरः—' इस सूत्र में की ईश्वर की परिभाषा से स्पष्ट है। इसलिये पौरुष का अर्थ भी ईश्वर-कृत ही हुआ। मीमांसा और न्याय दोनों आस्तिक दर्शन हैं—मीमांसा वेद को ईश्वर-कृत नहीं, ईश्वर की तरह ही नित्य मानता है। उसके मत में वेद को ईश्वर-कृत मानने से उसमें अनित्यत्व का दोष आ जायेगा। न्यायदर्शन वेद को ईश्वर-कृत ही मानता है।)

आजकल के जितने भी पौरास्त्य या पाश्चात्य बुद्धिवादी विचारक और लेखक हैं, वे सबके सब यही मानते प्रतीत होते हैं कि वेद ऋषि-प्रणीत हैं और प्राचीन आर्यों के जीवन के विविध क्रिया-कलापों को समझने के लिये वेद एक अच्छा विश्वकोष हैं। यही मन्तव्य अन्य लोगों का भी है। इसके प्रमाण-स्वरूप निरुक्त का यह वाक्य भी उद्धृत किया जाता है—"मन्त्रकृत ऋषयः" अर्थात् ऋषि ही मन्त्रकार हैं।

परन्तु इसका उत्तर तो यह है कि स्वर्णकार का अर्थ सोना बनाने वाला नहीं होता है, और न लोहकार (लुहार) का अर्थ लोहा बनाने वाला होता है। स्वर्णकार, चर्मकार या लोहकार बनी-बनाई चीज को अपनी कारीगरी और हस्तकौशल से जनता केलिये उपयोगी बनाते हैं। वैसे ही मंत्रकार का अर्थ है–मंत्रद्रष्टा। ऋषियों ने भी इन मंत्रों का साक्षात्कार किया और उन्हें जनता के लिये उपयोगी बनाया। "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बमूवुः" के साथ तभी उसकी संगति लग सकती है—अर्थात् ऋषि मंत्रद्रष्टा हैं, मंत्रनिर्माता नहीं।

बुद्धिवादियों का नया पैंतररा !

आधुनिक बुद्धिवादियों में जो कुछ उदार प्रकृति के हैं वे नये ढंग से पेश आते हैं। वे कहते हैं कि वेद ही क्यों, ज्ञानमात्र ईश्वरीय है। किसी भी व्यक्ति में प्रतिभा का जब असामान्य प्रकाश होता है तब वह ईश्वरीय ही होता है, ईश्वर की ही प्रेरणा से होता है। जब कोई वैज्ञानिक नया आविष्कार करते हैं, या कोई कवि नयी कविता लिखता है, तब दोनों स्थानों पर प्रेरणा का स्रोत ईश्वर ही होता है। आखिर कवि या वैज्ञानिक हमेशा तो उत्कृष्ट कृति नहीं तैयार कर सकते। विरले क्षण होते हैं जब उसका मन और बुद्धि एकाग्र होते हैं और उसी क्षण प्रतिभा का नया विस्फोट होता है, बिजली की तरह कोई नई सूझ अन्तस् में कौंध जाती है। उसी को ईश्वरीय प्ररेणा या ईश्वरीय ज्ञान कहा जा सकता है, और इसके लिये कोई समय निर्धारित नहीं है। यह विस्फोट चाहे जब हो सकता है और हमेशा होता रह सकता है। इस दृष्टि से यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं तो कुरान और बाइबल भी ईश्वरीय ज्ञान हैं। कल कोई नया धर्मग्रन्थ तैयार होगा तो वह भी ईश्वरीय ज्ञान होगा और धर्मग्रन्थ ही क्यों, संसार की प्रत्येक चीज जिसमें भी कुछ विशेषता नजर आती है, वह ईश्वरीय ही है।

इस विचार का जहां तक यह अंश है कि किसी भी विशेष चीज में जो दिव्यता आती है वह ईश्वर की प्रेरणा से आती है, उसे मानने में कोई आपत्ति नहीं। स्वयं गीता में कहा है—

> यद्यद् विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
> तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तजोशंसम्भवम्॥
>
> गीता 10।41

अर्थात् संसार में जो कुछ भी विभूति-सम्पन्न, 'श्री-सम्पन्न

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमग्ध्यस्मत् (ऋ०4।14)
हे प्रभो ! हमसे सब द्वेषों को पूरी तरह छुड़ा दो।

और ऊर्जस्वित् दृष्टिगोचर होता है उन सब में ईश्वरीय तेज का अंश होता है। आखिर दिव्यता का आधार तो दिव्य शक्ति ही होना चाहिये, और जब तक संसार रहेगा तब तक प्रतिभा और बुद्धि के नित नये चमत्कार दृष्टिगत होते रहेंगे। इसलिये उन सब चमत्कारों को भी दिव्यता की प्रेरणा मानना होगा।

परन्तु यदि यह बात भी उक्त विचार का अंग मानी जाये कि समय-समय पर इलहाम हो सकता है और भिन्न-भिन्न मनुष्यों पर भिन्न-भिन्न ढंग से ज्ञान का प्रकाश होता है तो उसमें अनवस्था दोष आ जायेगा, क्योंकि यह सिलसिला कभी समाप्त नहीं होगा। इसके अतिरिक्त अनेक छली लोग इस प्रकार इलहाम की बात करके संसार को सदा ठगने का उपाय करते रहेंगे। क्या पुराणों के कर्त्ताओं ने ब्रह्मा, विष्णु, महेश तथा अन्य अनेक देवी-देवताओं के चरित्र का ऊलजलूल वर्णन करके उससे अपने चरित्र-दोषों को उचित करार देने का प्रयत्न नहीं किया है? क्या इस्लाम के प्रवर्तक ने अपने व्यक्तिगत चरित्र के दोषों को छिपाने के लिये खुदा के इलहाम का सहारा नहीं लिया है? क्या आज भी उनके धर्मध्वजी अपनी वाणी को और आचरण को ईश्वर-प्रेरित कहकर पाखण्ड का प्रसार नहीं कर रहे?

इसलिये बुद्धिवादियों को विचार-परम्परा का कुछ अंशों तक समर्थन करने के बावजूद कुछ कठिनाइयां हैं, जिनका हल नहीं निकल पाता। आखिर विज्ञान के भी तो समस्त सिद्धांत कुछ कठिनाइयों का हल करने के लिये बने। इसी प्रकार अपनी कठिनाइयों के हल के लिए हमें किसी सिद्धांत को मान्यता देनी पड़े तो उसमें आपत्ति नहीं होनी चाहिये। परन्तु पहले वे कठिनाइयाँ क्या हैं, इसका दिग्दर्शन करें।

सबसे पहली कठिनाई यह है कि जिस प्रकार पशुओं और पक्षियों में सहज ज्ञान (Instinct) होता है, मनुष्य वैसा प्राणी नहीं है। बत्तख का बच्चा पैदा होते ही तैरना जानता है, उसे तैरना सिखाने की आवश्यकता नहीं। परन्तु मनुष्य को बिना सीखे तैरना नहीं आता। आहार-निद्रा-भय-मैथुन ये गुण तो मनुष्य और पशुओं के समान हैं, परन्तु जिस कारण से मनुष्य को ज्ञानवान् प्राणी (Rational-being) कहा जाता है, वह इससे अधिक कुछ है। नीतिकार की दृष्टि में वहीं "अधिक कुछ" मनुष्य का मनुष्यत्व है, वही मनुष्य का धर्म है?

ज्ञान कैसे प्राप्त होता है?

मनुष्य ज्ञानवान् प्राणी कैसे बनता है, ज्ञान कैसे प्राप्त होता है, यही प्रथम और विकट समस्या है, जिसका विभिन्न दार्शनिकों ने अपने-अपने ढंग से विवेचन किया है। इस विषय में वे सब "मुण्डे-मुण्डे मतिर्भिन्ना" के ही उपासक हैं। इस ज्ञान को प्राप्ति का आधार कोई अनुभव को बताता है जिसे (एम्पिरिसिज्म Empiricism) कहा जाता है, कोई संवेदना (सैन्सेशन Sensasion)को, कोई चिन्तन(Replection)को, कोई बुद्धि (Ratwnalim) को। जर्मन दार्शनिक काण्ट बुद्धि और अनुभव दोनों के सम्मिलित आधार पर ज्ञान की प्राप्ति को सम्भव मानता है। परन्तु इस विषय में सीरिया के राजा वनीपाल ने, स्काटलैंड के जेम्स चतुर्थ ने, तथा अकबर ने जो परीक्षण किये उनसे यही पता लगा कि यदि किसी मनुष्य को पैदा होते ही अपने माता-पिता से अलग करके पशुओं की संगति में रख दिया जाये तो वह पशु की तरह व्यवहार करना सीख जाएगा, उन्हीं की तरह बोली बोलेगा, वैसे ही चले-फिरेगा। सिवाय उसको मानवीय आकृति के उस मानव-शिशु में और उन पशुओं में कोई अन्तर नहीं होगा। आज भी चाहे जब यह परीक्षण किया जा सकता है। हाल की ही घटना है। भेडियों के बीच से प्राप्त रामू नामक बालक को लखनऊ के अस्पताल में कई वर्ष होने के पश्चात् भी भेड़ियों के आचार-व्यवहार से मुक्त करके उसे मानवीय आचार-व्यवहार पूरी तरह नहीं सिखाया जा सका।

ज्ञान की तीन कोटियां हैं—स्वाभाविक ज्ञान, नैमित्तिक ज्ञान और काल्पनिक ज्ञान। मनुष्य की रचना इस ढंग की है कि वह बिना निमित्त के ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता। वह निमित्त चाहे माता-पिता हों, चाहे गुरु हों, चाहे आस-पास के अन्य लोग हों। भेड़िया-बालक रामू के उदाहरण से स्पष्ट है कि अनुभव, संवेदना, चिंतन, बुद्धि इन सबके रहते हुए भी वह ज्ञानवान् नहीं बन सका, क्योंकि उसे कोई सिखाने वाला नहीं था।

आज भी जो जंगली जातियां हैं उनके विषय में यह कौन कह सकता है कि उनमें अनुभव, संवेदना, चिन्तन और

स नः पर्षद् अतिद्विषः (अथर्व० 6।34।1)
ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् कर दें।

बुद्धि नहीं हैं, परन्तु वे ज्ञान-विज्ञान की उन्नति नहीं कर सके हालांकि हजारों वर्ष उन्हें ज्ञान की उसी आदिम अवस्था में पड़े हो गये। जंगली जातियों के अलावा क्या आधुनिक सभ्य समाज में भी किसी बड़े-से-बड़े विद्वान् व्यक्ति का बालक बिना पढ़ाए विद्वान् बन सकता है? इतना आवश्यक है कि मनुष्य को आरम्भ में गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त हो जाये तो वह अपने अनुभव, मनन, चिन्तन, संवेदन और बुद्धि द्वारा उस ज्ञान का विकास कर सकता है। अर्थात् पशुओं की तरह केवल स्वभाविक ज्ञान के आश्रित न रहकर, नैमित्तिक ज्ञान प्राप्त करके उसका विकास कर सकें।

दूसरी कठिनाई

अब दूसरी कठिनाई यह है कि आधुनिक युग के लोग अपने पूर्ववर्ती गुरुओं से शिक्षा प्राप्त करके ज्ञानवान् बनते गये, परन्तु जो आदि मानव थे उन्हें यह ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ? क्योंकि उनसे पहले उन्हें और कोई सिखाने वाला नहीं था। आस्तिक लोग इसका यह उत्तर देते हैं कि आदि सृष्टि के उन लोगों को सीधा ईश्वर से ही ज्ञान प्राप्त हुआ। इसीलिये परमात्मा को "सः पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्" कहकर "गुरूणां गुरुः"—गुरुओं का भी गुरुः कहा गया है। जो नास्तिक हैं और ईश्वर जैसी किसी मानवेतर सत्ता में विश्वास नहीं करते, उनका इस उत्तर से समाधान नहीं होता। परन्तु ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले लोगों के लिये सचमुच ही इस उत्तर के सिवाय और कोई गति नहीं है।

तीसरी कठिनाई

आस्तिक बुद्धि के अनुसार यह मान लेने पर कि आदि-मानव को ज्ञान ईश्वर ने दिया, अगली कठिनाई यह उपस्थित होती है कि ज्ञान तो भाषा के बिना नहीं रह सकता, फिर ईश्वर ने जो ज्ञान दिया, वह किस भाषा में दिया, क्योंकि संसार की किसी भी भाषा का विकास तुरंत नहीं हो जाता, वह धीरे-धीरे ही विकसित हो सकती है। और फिर गुरु-शिष्य की तरह आमने-सामने बैठकर परमात्मा आदि-मानवों को पढ़ाता होगा—यह बड़ी ऊटपटांग कल्पना है। बिना भाषा के ज्ञान नहीं, और मुखादि अवयवों के बिना भाषा का उच्चारण सम्भव नहीं, और परमात्मा के भी मुखादि अवयवों की कल्पना की जाये तो उसमें और सामान्य मनुष्य में क्या अन्तर रह जायेगा?

इसी कठिनाई का समाधान यह है कि जैसे आदि कवि वाल्मीकि जब शोकावेग से आविष्ट हो गये तो उन का शोक ही श्लोक बनकर उनके मुख से फूट पड़ा ("श्लोकत्वमापद्यत यस्य शोकः" कालिदास) वैसे ही जब आदिम ऋषि भावाविष्ट हो गये, अर्थात् समाधि की अवस्था में पहुंचकर उन्होंने जो कामना की तो उनके मुख से वह ज्ञान मन्त्रों के रूप में फूट पड़ा। इसी को हम प्रतिभा का विस्फोट कहते हैं। महाभाष्य के अनुसार शब्द का मूल स्फोट है, यह स्फोट ही प्रतिभा का आदिम विस्फोट है या आदिम उन्मेष कहा जाना चाहिये। निःसंदेह प्रतिमा के इस आदिम उन्मेष के पीछे दिव्य (जिसे आस्तिक लोग "ईश्वरीय" कहना पसन्द करेंगे) प्रेरणा में काम करती थी।

आदिम ऋषियों को प्रतिभा का आदिम उन्मेष जिस में हुआ, वह देववाणी कहलाई। देववाणी ही वेदवाणी है। इस वेदवाणी को संस्कृति समझना भूल है। संस्कृति तो पीछे इस वेदवाणी के विकास से बनी है, यह तथ्य स्वयं "संस्कृति" शब्द के अन्दर ही छिपा है। वेदवाणी ही संसार की आदि भाषा है।

वैदिक भाषा की पूर्णता

वेदवाणी, देववाणी या आदिभाषा संसार की सब भाषाओं को जननी है या नहीं, इस पर विवाद हो सकता है, और है भी, परन्तु एक बात निर्विवाद है कि इस आदि-भाषा के अक्षरों का क्रम, उनका विकास और विन्यास, उनकी बनावट के साथ उनके अर्थों की संगति, उनके उच्चारण के स्थान और प्रयत्न—इन सब में जैसी पूर्णता और तालमेल है, वैसा संसार की और किसी भाषा में नहीं है।

महर्षि पाणिनि ने अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र लिखा है:- "अ अ इति" अर्थात् सारे व्याकरण का और समस्त ए, ओ, अं, अः आदि स्वर तथा क्, च्, ट्, त्, प् आदि व्यंजन और उनके वर्ग बने हैं। और इन सब अक्षरों के विवृत, संवृत तथा ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत के हिसाब से अलग-अलग भेद होते हैं। इन्हीं अक्षरों पर समस्त व्याकरण और समस्त

असपत्नाः प्रदिशो भवन्तु (अथर्व० 19।14।1)
सभी दिशायें मेरे लिए शत्रु-रहित हों।

साहित्य ग्राधारित है। इसीलिये शब्द को ब्रह्म कहा गया। इस विषय का जैसा गूढ़ विवेचन महाभाष्य में तथा प्रातिशाख्यों में हुग्रा है उससे इस विषय की महत्ता ग्रौर विशेषता स्पष्ट होती है। मूलरूप से "शिक्षा" शब्द का ग्रर्थ यही वर्णोच्चारण शिक्षा है ग्रौर वैदिकों ने इस विषय को कितना महत्त्व दिया है यह इससे विदित होता है कि उन्होंने व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष, छन्द ग्रौर कल्प के साथ शिक्षा को भी वेद के षडंगों में स्थान दिया है।

जब हम इस वर्णमाला को पूर्ण ग्रौर वैज्ञानिक कहते हैं तब इससे हमारा अभिप्राय यही होता है कि उच्चारण के स्थान-प्रयत्नादि की दृष्टि से इससे बढ़ कर सुसंगत भाषा ग्रौर कोई नहीं है। यह मनुष्य की स्वाभाविक भाषा है। यह भाषा मानव की प्रतिभा के विस्फोट का राजमार्ग है। यही इसका देवत्व है।

बुद्धिवादी की दृष्टि से विचार करने पर हमारे सामने जो कठिनाइयाँ आईं उनका हल करते हुए साम्प्रदायिक दुराग्रह से विचार न करके यदि केवल सामान्य बुद्धि से विचार किया जाये तो निष्कर्ष यह निकलता है कि मनुष्य बिना सिखाये ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता, इसीलिये दिव्य प्रेरणा से उसने ज्ञान प्राप्त किया। यह ज्ञान-प्राप्ति सृष्टि के आदिकाल में (अर्थात् जब मनुष्यों की उत्पत्ति हुई उसके साथ साथ) होनी चाहिये। यह ध्यान में रखना चाहिये कि सृष्टि में सबसे पहले मनुष्य की उत्पत्ति नहीं हुई। प्रलयकाल के पश्चात् जब नव सर्गारम्भ हुग्रा तब पहले पृथ्वी, सूर्य, चन्द्र तथा ग्रन्य ग्रह-उपग्रह बने, फिर वृक्ष-बनस्पतियां, फिर जलचर ग्रौर स्थलचर ग्रादि और ग्रन्ततः पृथ्वी का सर्वश्रेष्ठ प्राणी (जैसे विज्ञान की भाषा में हाइएस्ट अर्गनिज्म कह सकते हैं) मानव अवतरित हुग्रा। उस मानव की उत्पत्ति के साथ ही मानव ने ग्रपने चारों ग्रोर की दुनियां को देखकर जो प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त किया उसी को उसने दिव्य प्रेरणा से अपनी स्वाभाविक भाषा में प्रकट कर दिया। यही प्रत्यक्ष ज्ञान वेद है। ग्रौर वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने का भी यही तात्पर्य है।

"वेद" शब्द का ग्रर्थ

संस्कृत व्याकरण में विद् नामक चार, धातुएं हैं जिनसे "वेद" शब्द बन सकता है—विद् सत्तायाम् (विद्यते), विद् ज्ञाने (वेत्ति), विद् विचारणे (विनत्ति) ग्रौर विद् लाभ (विन्दति)। ऊपर जो विचार-सरणि हमने प्रतिपादित की है उसकी संगति इन चारों धातुओं से बनने वाले वेद शब्द के साथ जिस प्रकार बैठती है उसे देखकर हम स्वयं चकित रह गये हैं। मनुष्य जाति ने ग्रस्तित्व में आते ही (विद् सत्तायाम्) ज्ञानप्राप्ति के लिये (विद् ज्ञाने), विचार पूर्वक (विद् विचारणे) संसार के लाभ के लिये (विद् लाभे) ग्रपनी जो महान् विरासत छोड़ी है उसी का नाम वेद है।

ग्राश्चर्य यही है कि यह "वेद" शब्द फिर लिट् लकार में नहीं बनता, केवल लट् लकार में ही बनता है, जो वर्त-मान काल का द्योतक है। "वेद" भूतकाल से मुक्त है, उसका ग्रर्थ यही है कि वह सतत प्रत्यक्ष है। और जो सतत् प्रत्यक्ष है उसके ग्रस्तित्व से इंकार करने वाला ही ग्रसली नास्तिक है। इसीलिये मनुस्मृति ने "नास्तिको वेदनिन्दकः" कहा है क्योंकि वेद अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान का ग्रपलाप करने का अर्थ इसके सिवाय और क्या है कि अपनी बुद्धि को ग्रौर अपने ग्रस्तित्व को वेद पर आधारित किया है। जब तक वेद है तब तक मनुष्य जाति है। जिस दिन वेद नहीं रहेंगे उस दिन मनुष्य जाति भी नहीं रहेगी। पर यह क्या कभी सम्भव है? □

स्तुता मया वरदा वेदमाता
प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्
ग्रायुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं
द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्
मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

- ग्रथर्व० 19.71.1

स्तुति करते हम वेद ज्ञान की
जो माता है प्रेरक-पालक
पावन करती मनुज मात्र को
ग्रायु, बल सन्तति पशु कीर्ति
धन, मेधा, विद्या का दान
सब कुछ देकर हमें दिया है,
मोक्ष मार्ग का पावन ज्ञान।

मां नो द्विक्षत कश्चन
हमें कोई भी द्वेष करने वाला न हो

ज्ञान-विज्ञान के कोष : चारों वेद

डॉ0 सत्यदेव चौधरी
एफ 11/12, मॉडल टाउन, दिल्ली-9

'वेद' (विद् ज्ञाने) शब्द का अर्थ है ज्ञान अथवा ज्ञान-समूह।'वेदयति इति वेदः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो ग्रन्थ-इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं' (सायणः तैत्तिरीय संहिता-भाष्य की भूमिका)। वेद को निगम (अर्थबोधन) भी कहा जाता है क्योंकि यह साभिप्राय, सुसंगत और उत्तम अर्थ निर्दिष्ट करता है।

स्वामी दयानन्द आदि अनेक भारतीय विद्वान् वेद को अपौरुषेय एवं नित्य-स्वरूप मानते हैं अर्थात् वेद ईश्वरीय ज्ञान है जो कि मधुच्छन्दस्, मेधातिथि, अगस्त्य, विश्वामित्र आदि अनेक ऋषियों द्वारा सुना गया। अतः वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं। इन ऋषियों ने अपने अलौकिक सामर्थ्य अथवा प्रातिभ चक्षु से वेद-मन्त्रों का दर्शन किया था, अतः इन ऋषियों को वेदों का 'द्रष्टा' माना जाता है—'ऋषिर्दर्शनात्'(निरुक्त)।किन्तु इधर पाश्चात्य विद्वान् वेदों को 'पौरुषेय' मानते हुए इन ऋषियों को वेदों का कर्ता अथवा स्रष्टा मानते है। परम्परागत भारतीय चिन्तन-दृष्टि के अनुसार वेद 'ईश्वरीय ज्ञान'होने के कारण सृष्टि के आरम्भ में हुए,पर सृष्टि का आरम्भ कब हुआ इस पर विज्ञान अद्यावधि कोई निश्चित प्रकाश नहीं डाल सकता। किन्तु इधर अनेक आधुनिक विद्वान् विविध तर्कों के आधार पर ऋग्वेद के रचना-काल की अन्तिम सीमा 2500 ई० पू० तक स्वीकार करते हैं।

ऋग्वेद

ऋच् (ऋक्) का अर्थ है स्तुतिपरक मन्त्र—'अर्च्यते स्तूयते ऽनया इति ऋक् स्तुतिः'।

ऋग्वेद में 33 देवों की स्तुति की गयी है, किन्तु यास्क के अनुसार मूलतः तीन देवता हैं—अग्नि (पृथ्वी-स्थानीय),इन्द्र या वायु (अन्तरिक्ष-स्थानीय) और सूर्य (द्यु-स्थानीय) (निरुक्त 7.5), और इनके ही विभिन्न गुणों एवं कार्यों के कारण इनकी 33 नामों से स्तुति की गयी है, यथा—पृथ्वी, बृहस्पति, सोम, रुद्र, पर्जन्य, वरुण, मित्र विष्णु, उषस्,अश्विनौ आदि। उन्हीं के कथनानुसार देवों के आकार के सम्बन्ध में तीन मत हैं—कोई उन्हें पुरुषाकृति और चेतन मानते हैं, कोई अपुरुषाकृति और कोई उभय रूप (पुरुष और अपुरुष) निरुक्त 7.5-7)। परन्तु इधर पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार इन्द्र, अग्नि, मरुत्, उषस्, सूर्य आदि सभी प्रमुख देव प्राकृतिक वस्तुओं के मूर्त रूप हैं-प्राचीन ऋषियों ने प्राकृतिक पदार्थों को ही मानवोचित कर्तृत्व का रूप दे दिया और फिर ये देवता कहाने लगे। इन सभी देवताओं में अनेक गुण समान रूप से हैं, किन्तु फिर भी प्रत्येक देव में कुछ निजी विशेषताएं भी होती हैं। जैसे—रुद्र से भय भी आशंका है, वरुण को कठोर न्यायधीश के रूप में वर्णित किया गया है, वह कभी किसी के पाप क्षमा नहीं करता; फिर भी वरुण को सौम्य देवता माना गया है। अग्नि को गृहसुख,का देवता माना गया है, और इन्द्र को युद्ध का नेता तथा शत्रुओं का विध्वंसक। 'अश्विनौ' श्रेष्ठ चिकित्सक के रूप में वर्णित है। इस प्रकार ऋषिगण प्राकृतिक पदार्थों को मन्त्रों के माध्यम से देवता-रूप में वर्णित करते चले गये। इधर ऋषि दयानन्द जी ने 'देवता' शब्द से अनेक अर्थ ग्रहण किये हैं—कहीं उन्होंने परमेश्वर को देवता माना है, कहीं वेद-मन्त्रों को, कहीं यज्ञादि कर्म को। कहीं माता, पिता, विद्वान् अतिथि तथा आचार्य को। हाँ, यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर ही देवता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (यजु० 40।17)
स्वर्णिम पात्र से सत्य का मुख छिपा रहता है।

जो हो, फिर, धीरे-धीरे ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की समानताओं पर विचार करना प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप उनकी विचारधारा ने एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया तथा उन्होंने यह कहा कि विभिन्न देवता इस एक सर्वशक्तिमान् प्रमुख देव (ईश्वर) की ही अभिव्यक्ति हैं। पुरुषसूक्त तथा हिरण्यगर्भसूक्त इसी एक देव का स्वरूप निर्दिष्ट करते है। ऋषिगण उस विद्यमान सत्ता को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गुरुत्मान्, यम और मातरिश्वान् कहते हैं। इसी प्रकार 'अग्नि' को ही वरुण, मित्र, विश्वेदेव और इन्द्र कहा गया है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों को 'बहुदेवतावाद' (पालिथीज़म) की विचारधारा 'एकदेवतावाद' (मोनोथीज़िम) में परिणत होती चली गई, और इसी 'एकदेव' के सम्बन्ध में कहा गया कि इसे अनेक देवों के नाम से पुकारा जाता है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' किन्तु अनेक भारतीय चिन्तक ऐसे भी हैं जिनकी धारणा है कि ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान के आधार पर ऋषिगण के अन्तर्मन में 'एकदेवत्व' की कल्पना ही प्रथम रहनी चाहिए, जिससे धीरे-धीरे 'बहुदेववाद' का उदय हुआ और इन देवताओं में 'एकदेव' की विशेषताएं एवं गुण तो थे ही इनकी निजी विशेषताएं एवं गुणों के आधार पर इनका नामकरण होता चला गया। क्या इस समस्या का समाधान सरल है। इस सम्बन्ध में अनन्तः ए० ए० मैक्डोनल के शब्द ध्यातव्य हैं कि ऋग्वेद में कहीं भी देवप्रतिमा तथा देवमन्दिरों का उल्लेख नहीं है। कारण यह कि उस युग में प्राकृतिक पदार्थो के प्रतीक-स्वरूप इन्द्र, वरुण आदि देवों का बाह्य आकार अभी तक अस्पष्ट एवं धुंधले रूप में ही कल्पित था। प्रतिमा का उल्लेख तो सूत्र-साहित्य से मिलना आरम्भ होता है।

देवस्तुति के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य भी बहुविध विषयों से सम्बंद्ध सूक्त हैं जिनमें से दार्शनिक सूक्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसे नासदीय सूक्त, पुरुष-सूक्त, हिरण्यगर्भ-सूक्त आदि।

ऋग्वेद के अन्य महत्त्वपूर्ण सूक्त हैं–आख्यान-सूक्त जिनकी संख्या लगभग बीस है। इनमें से लगभग आधे संवाद-शैली में हैं। यथा– इन्द्र-मरुत्-संवाद (3) अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (4) विश्वमित्र-नदी-संवाद (5) यम-यमी-संवाद (6) इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद (7) पुरुरवस्-उर्वशी-संवाद और (8) सरमा-पणि-संवाद। इन सूक्तों को परवर्ती दृश्य-काव्य (रूपक, उपरूपक आदि) का स्रोत माना जा सकता है शेष आख्यान-सूक्तों में से कुछ के नाम हैं-- (1) त्रिविक्रम (विष्णु के तीन पैर)--सूक्त (2) इन्द्रवृत्त-युद्ध-सूक्त (3) श्यावाश्व-सूक्त (4) मण्डूक-सूक्त (5) अक्ष-सूक्त (6) सोम-सूर्या-सूक्त।

इन आख्यान-सुक्तों को परवर्ती भारतीय साहित्य में रचित महाकाव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि का आदिम स्रोत माना जा सकता है।

ऋग्वेद अन्य भी अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक दृष्टि से इसका महत्त्व यह है कि इसमें अनेकदेववाद तथा एकदेववाद के अतिरिक्त पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक पुनर्जन्म एवं मोक्ष, लोक-परलोक, आस्तिक-नास्तिक, सत्य-असत्य आदि विभिन्न विषयों की गम्भीर चर्चा यत्र-तत्र मिलती है, और इस प्रकार यह ग्रन्थ परवर्ती दर्शन-ग्रन्थों तथा विभिन्न मत-मतान्तरों का आदिम स्रोत है।

सामाजिक दृष्टि से ऋग्वेद का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इसमें वर्ण-व्यवस्था, समाज और व्यक्ति का संबंध, विवाहादि-विषयक विधियां, नगर-ग्राम आदि, खान-पान, वस्त्र एवं अलंकरण आदि से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस वेद में तत्कालीन आर्थिक अवस्था का भी उल्लेख मिलता है। कृषि और पशुपालन को जीवन का मुख्य आधार कहा गया है। पशुओं में गाय का स्थान सर्वोत्तम है। इसे अघ्न्या, अदिति, माता कहा गया है। बैलों से खेती होती है। बढ़ई, लोहार, जुलाहा आदि का भी उल्लेख मिलता है। तत्कालीन समाज में दो प्रकार की शासन-पद्धतियां प्रचलित थीं—राजतंत्र और प्रजातंत्र। ऋग्वेद का भौगोलिक दृष्टि से महत्त्व भी किसी भी रूप में कम नहीं है। इसमें कुल 25 नद-नदियों का उल्लेख है। इनमें से पंजाब की पांच नदियां पंजाब को सींचती

श्रद्धया सत्यमाप्यते (यजु० 19।20।)
श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

ज्ञान-विज्ञान के कोष : चारों वेद

डॉ0 सत्यदेव चौधरी
एफ 11/12, मॉडल टाउन, दिल्ली-9

'वेद' (विद् ज्ञाने) शब्द का अर्थ है ज्ञान अथवा ज्ञान-समूह।'वेदयति इति वेदः' इस व्युत्पत्ति के आधार पर जो ग्रन्थ-इष्ट-प्राप्ति और अनिष्ट-परिहार के अलौकिक उपाय बताता है उसे वेद कहते हैं' (सायणः तैत्तिरीय संहिता-भाष्य की भूमिका)। वेद को निगम (अर्थबोधन) भी कहा जाता है क्योंकि यह साभिप्राय, सुसंगत और उत्तम अर्थ निर्दिष्ट करता है।

स्वामी दयानन्द आदि अनेक भारतीय विद्वान् वेद को अपौरुषेय एवं नित्य-स्वरूप मानते हैं अर्थात् वेद ईश्वरीय ज्ञान है जो कि मधुच्छन्दस्, मेधातिथि, अगस्त्य, विश्वामित्र आदि अनेक ऋषियों द्वारा सुना गया। अतः वेद को 'श्रुति' भी कहते हैं। इन ऋषियों ने अपने अलौकिक सामर्थ्य अथवा प्रातिभ चक्षु से वेद-मन्त्रों का दर्शन किया था, अतः इन ऋषियों को वेदों का 'द्रष्टा' माना जाता है—'ऋषिर्दर्शनात्'(निरुक्त)।किन्तु इधर पाश्चात्य विद्वान् वेदों को 'पौरुषेय' मानते हुए इन ऋषियों को वेदों का कर्ता अथवा स्रष्टा मानते है। परम्परागत भारतीय चिन्तन-दृष्टि के अनुसार वेद 'ईश्वरीय ज्ञान'होने के कारण सृष्टि के आरम्भ में हुए,पर सृष्टि का आरम्भ कब हुआ इस पर विज्ञान अद्यावधि कोई निश्चित प्रकाश नहीं डाल सकता। किन्तु इधर अनेक आधुनिक विद्वान् विविध तर्कों के आधार पर ऋग्वेद के रचना-काल की अन्तिम सीमा 2500 ई० पू० तक स्वीकार करते हैं।

ऋग्वेद

ऋच् (ऋक्) का अर्थ है स्तुतिपरक मन्त्र—'अर्च्यते स्तूयते ऽनया इति ऋक् स्तुतिः'।

ऋग्वेद में 33 देवों की स्तुति की गयी है, किन्तु यास्क के अनुसार मूलतः तीन देवता हैं—अग्नि (पृथ्वी-स्थानीय),इन्द्र या वायु (अन्तरिक्ष-स्थानीय).और सूर्य (द्यु-स्थानीय) (निरुक्त 7.5), और इनके ही विभिन्न गुणों एवं कार्यों के कारण इनकी 33 नामों से स्तुति की गयी है, यथा—पृथ्वी, बृहस्पति, सोम, रुद्र, पर्जन्य, वरुण, मित्र विष्णु, उषस्,अश्विनौ आदि। उन्हीं के कथनानुसार देवों के आकार के सम्बन्ध में तीन मत हैं –कोई उन्हें पुरुषाकृति और चेतन मानते हैं, कोई अपुरुपाकृति और कोई उभय रूप (पुरुष और अपुरुष) निरुक्त 7.5-7)। परन्तु इधर पाश्चात्य विद्वानों के कथनानुसार इन्द्र, अग्नि, मरुत्, उषस्, सूर्य आदि सभी प्रमुख देव प्राकृतिक वस्तुओं के मूर्त रूप हैं-प्राचीन ऋषियों ने प्राकृतिक पदार्थों को ही मानवोचित कर्तृत्व का रूप दे दिया और फिर ये देवता कहाने लगे। इन सभी देवताओं में अनेक गुण समान रूप से हैं, किन्तु फिर भी प्रत्येक देव में कुछ निजी विशेषताएं भी होती हैं। जैसे—रुद्र से भय भी आशंका है, वरुण को कठोर न्यायधीश के रूप में वर्णित किया गया है, वह कभी किसी के पाप क्षमा नहीं करता; फिर भी वरुण को सौम्य देवता माना गया है। अग्नि को गृहसुख,का देवता माना गया है, और इन्द्र को युद्ध का नेता तथा शत्रुओं का विध्वंसक। 'अश्विनौ' श्रेष्ठ चिकित्सक के रूप में वर्णित है। इस प्रकार ऋषिगण प्राकृतिक पदार्थों को मन्त्रों के माध्यम से देवता-रूप में वर्णित करते चले गये। इधर ऋषि दयानन्द जी ने 'देवता' शब्द से अनेक अर्थ ग्रहण किये हैं—कहीं उन्होंने परमेश्वर को देवता माना है, कहीं वेद-मन्त्रों को, कहीं यज्ञादि कर्म को। कहीं माता, पिता, विद्वान् अतिथि तथा आचार्य को। हाँ, यज्ञ में मन्त्र और परमेश्वर ही देवता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् (यजु० 40।17)
स्वर्णिम पात्र से सत्य का मुख छिपा रहता है।

जो हो, फिर, धीरे-धीरे ऋषियों ने विभिन्न देवताओं की समानताओं पर विचार करना प्रारम्भ किया, जिसके फलस्वरूप उनकी विचारधारा ने एक ईश्वर की सत्ता को स्वीकार किया तथा उन्होंने यह कहा कि विभिन्न देवता इस एक सर्वशक्तिमान् प्रमुख देव (ईश्वर) की ही अभिव्यक्ति हैं। पुरुषसूक्त तथा हिरण्यगर्भसूक्त इसी एक देव का स्वरूप निर्दिष्ट करते है। ऋषिगण उस विद्यमान सत्ता को इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, गुरुत्मान्, यम और मातरिश्वान् कहते हैं। इसी प्रकार 'अग्नि' को ही वरुण, मित्र, विश्वेदेव और इन्द्र कहा गया है। इस प्रकार वैदिक ऋषियों को 'बहुदेवतावाद' (पालिथीज़म) की विचारधारा 'एकदेवतावाद' (मोनोथीज़िम) में परिणत होती चली गई, और इसी 'एकदेव' के सम्बन्ध में कहा गया कि इसे अनेक देवों के नाम से पुकारा जाता है—'एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्ति।' किन्तु अनेक भारतीय चिन्तक ऐसे भी हैं जिनकी धारणा है कि ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान के आधार पर ऋषिगण के अन्तर्मन में 'एकदेवत्व' की कल्पना ही प्रथम रहनी चाहिए, जिससे धीरे-धीरे 'बहुदेववाद' का उदय हुआ और इन देवताओं में 'एकदेव' की विशेषताएं एवं गुण तो थे ही इनकी निजी विशेषताएं एवं गुणों के आधार पर इनका नामकरण होता चला गया। क्या इस समस्या का समाधान सरल है। इस सम्बन्ध में अनन्तः ए० ए० मैक्डोनल के शब्द ध्यातव्य हैं कि ऋग्वेद में कहीं भी देवप्रतिमा तथा देवमन्दिरों का उल्लेख नहीं है। कारण यह कि उस युग में प्राकृतिक पदार्थों के प्रतीक-स्वरुप इन्द्र, वरुण आदि देवों का बाह्य आकार अभी तक अस्पष्ट एवं धुंधले रूप में ही कल्पित था। प्रतिमा का उल्लेख तो सूत्र-साहित्य से मिलना आरम्भ होता है।

देवस्तुति के अतिरिक्त ऋग्वेद में अन्य भी बहुविध विषयों से सम्बंद्ध सूक्त हैं जिनमें से दार्शनिक सूक्तों का महत्त्वपूर्ण स्थान है, जैसे नासदीय सूक्त, पुरुष-सूक्त, हिरण्यगर्भ-सूक्त आदि।

ऋग्वेद के अन्य महत्त्वपूर्ण सूक्त हैं—आख्यान-सूक्त जिनकी संख्या लगभग बीस है। इनमें से लगभग आधे संवाद-शैली में हैं। यथा— इन्द्र-मरुत्-संवाद (3) अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (4) विश्वमित्र-नदी-संवाद (5) यम-यमी-संवाद (6) इन्द्र-इन्द्राणी-वृषाकपि-संवाद (7) पुरुरवस्-उर्वशी-संवाद और (8) सरमा-पणि-संवाद। इन सूक्तों को परवर्ती दृश्य-काव्य (रूपक, उपरूपक आदि) का स्रोत माना जा सकता है शेष आख्यान-सूक्तों में से कुछ के नाम हैं-- (1) त्रिविक्रम (विष्णु के तीन पैर)--सूक्त (2) इन्द्रवृत्त-युद्ध-सूक्त (3) श्यावाश्व-सूक्त (4) मण्डूक-सूक्त (5) अक्ष-सूक्त (6) सोम-सूर्या-सूक्त।

इन आख्यान-सुक्तों को परवर्ती भारतीय साहित्य में रचित महाकाव्य, नाटक, कथा, आख्यायिका आदि का आदिम स्रोत माना जा सकता है।

ऋग्वेद अन्य भी अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। धार्मिक दृष्टि से इसका महत्त्व यह है कि इसमें अनेकदेववाद तथा एकदेववाद के अतिरिक्त पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म, स्वर्ग-नरक पुनर्जन्म एवं मोक्ष, लोक-परलोक, आस्तिक-नास्तिक, सत्य-असत्य आदि विभिन्न विषयों की गम्भीर चर्चा यत्र-तत्र मिलती है, और इस प्रकार यह ग्रन्थ परवर्ती दर्शन-ग्रन्थों तथा विभिन्न मत-मतान्तरों का आदिम स्रोत है।

सामाजिक दृष्टि से ऋग्वेद का महत्त्व इस तथ्य में निहित है कि इसमें वर्ण-व्यवस्था, समाज और व्यक्ति का संबंध, विवाहादि-विषयक विधियां, नगर-ग्राम आदि, खान-पान, वस्त्र एवं अलंकरण आदि से सम्बद्ध पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। इस वेद में तत्कालीन आर्थिक अवस्था का भी उल्लेख मिलता है। कृषि और पशुपालन को जीवन का मुख्य आधार कहा गया है। पशुओं में गाय का स्थान सर्वोत्तम है। इसे अघ्न्या, अदिति, माता कहा गया है। बैलों से खेती होती है। बढ़ई, लोहार, जुलाहा आदि का भी उल्लेख मिलता है। तत्कालीन समाज में दो प्रकार की शासन-पद्धतियां प्रचलित थीं—राजतंत्र और प्रजातंत्र। ऋग्वेद का भौगोलिक दृष्टि से महत्त्व भी किसी भी रूप में कम नहीं है। इसमें कुल 25 नद-नदियों का उल्लेख है। इनमें से पंजाब की पांच नदियां पंजाब को सींचती

श्रद्धया सत्यमाप्यते (यजु० 19।20।)
श्रद्धा से सत्य की प्राप्ति होती है।

हुई आगे जाकर सिन्धु नदी के साथ बहने लगती हैं। सिन्धु नदी के अतिरिक्त सरस्वती नदी का भी उल्लेख ऋग्वेद में अनेक बार किया गया है। सूक्त 10.75 (9 मन्त्र) सिन्धु की प्रशंसा में है, तथा इस सूक्त के दो मंत्रों में 18 अन्य नदियों का भी उल्लेख है। जिनमें से अधिकतर सिन्धु की सहायक नदियां हैं। ऋग्वेद में उल्लिखित 'सप्तसिन्धवः' शब्द से तात्पर्य है भारतीय आर्यों की सात नदियों—कुभा (काबुल), सिन्धु और पंजाब की पांच नदियों से—युक्त बस्ती। आगे चलकर कुभा के स्थान पर सरस्वती नदी को जोड़कर 'सप्तसिन्धवः' से तात्पर्य हो गया सिन्धु से सरस्वती तक का भूभाग।

इस प्रकार ऋग्वेद में अनेकानेक विषयों का समावेश है जिन्हें स्वामी दयानन्द जी ने चार मुख्य रूपों में विभक्त किया है—विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान। ऋग्वेद विश्व-साहित्य में अपनी प्राचीनता के कारण तथा भारत के प्राचीनतम सांस्कृतिक इतिहास को अद्यावधि सुरक्षित रखने के कारण निःसन्देह अपना अद्वितीय स्थान रखता है।

यजुर्वेद

'यजुष्' यज्ञ-सम्बन्धी मन्त्रों को कहते हैं। जिन मन्त्रों में पद्यों(ऋचाओं) के समान अक्षर-संख्या नियत नहीं रहती उन्हें भी यजुष् कहते हैं। इस प्रकार यजुर्वेद प्रायः गद्य-बद्ध रचना है जिस का प्रमुख विषय यज्ञ है। इस वेद की मुख्यतया दो परम्पराएं हैं—शुक्ल यजुर्वेद और कृष्ण यजुर्वेद। शुक्ल वजुर्वेद आदित्य सम्प्रदाय का प्रतिनिधि माना जाता है, और कृष्ण यजुर्वेद ब्रह्म सम्प्रदाय का। इन दोनों में भेद यह है कि शुक्ल तजुर्वेद में केवल मन्त्र, प्रार्थनाएं एवं यज्ञीय सूक्त हैं जिनका उच्चारण अध्वर्यु नामक ऋत्विज द्वारा होता है, जबकि कृष्ण यजुर्वेद में मन्त्रों के अतिरिक्त यज्ञ की विधि का विवरण, व्याख्या एवं विनियोग भी है—अर्थात् इसमें मन्त्र-भाग के साथ-साथ तन्नियोजक ब्रह्मण-भाग का भी सम्मिश्रण है। 'शुक्ल' से यहां तात्पर्य है अमिश्रित, स्वच्छ अर्थात् केवल संहिता-भाग, और 'कृष्ण' से तात्पर्य है मिश्रित, अस्वच्छ अर्थात् संहिता एवं ब्राह्मण-भाग। इस लेख में आगे केवल संहिता-भाग पर ही विचार किया जा रहा है।

शुक्ल यजुर्वेद की 2 शाखाएं उपलब्ध हैं, और कृष्ण यजुर्वेद की 4, और इन छहों शाखाओं की छः संहिताएं उपलब्ध हैं। शुक्ल यजुर्वेद की अधिक प्रसिद्ध संहिता 'वाजसनेयी संहिता' है। इस संहिता में 40 अध्याय हैं। अध्याय-क्रम से यजुर्वेद का प्रतिपाद्य विषय इस प्रकार है—

(1, 2) दर्श (अमावस्या) तथा पौर्णमास्य इष्टियां, (3) अग्निहोत्र तथा चातुर्मास्य इष्टियां, (4-8) सोमयाग तथा उससे सम्बद्ध अग्निष्टोम और तीनों सवन (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल के यज्ञ) : सोमयाग तीन प्रकार का—(क) एकाह (एक दिन का), (ख) अहीन (दो से बारह दिन का), (ग) सत्र (तेरह दिनों से एक वर्ष तक या एक हजार वर्षों तक (9-10) वाजपेय और राजसूय यज्ञ, (11-18) अग्नि-चयन अर्थात् वेदि-निर्माण (इन अध्यायों में से 16 वां अध्याय 'रुद्राध्याय' कहलाता है), (19-21) सौत्रामणी यज्ञ, (22-25) अश्वमेध यज्ञ, (26-29) में 'खिलमन्त्र' (परिशिष्ट) संकलित है जिनमें पूर्व-निर्दिष्ट अनुष्ठानों के विषय में नवीन मन्त्र दिये गये हैं, (30) पुरुष-मेध, (31) पुरुष-सूक्त, (32-33) सर्वमेध (32 वें अध्याय के आरम्भ में हिरण्यगर्भ सूक्त के भी कुछ मन्त्र उद्धृत हैं), (34) शिव-संकल्प सूक्त, (35) पितृमेध, (36-38) प्रवर्ग्य-भाग, (39) नरमेध या अन्त्येष्टि, (40) ईशोपनिषद्।

आइए, अब उक्त विषय-सूची में कुछ विषयों की चर्चा करें—इनमें (1) **राजसूय यज्ञ** का उल्लेख है, इसके अन्तर्गत द्यूतक्रीड़ा, अस्त्रक्रीड़ा आदि राज्योचित क्रीड़ाएं भी वर्णित हैं। (2) **'अग्निचयन'** से तात्पर्य है यज्ञीय होमाग्नि के लिए वेदि का निर्माण। इसकी रचना 10800 ईंटों से होती है। इसकी आकृति पंख फैलाये पक्षी के समान होती है। ब्राह्मण-मन्त्रों में इस प्रसंग के आध्यात्मिक रूप का व्याख्यान बड़ी मार्मिकता के साथ किया गया है।

सत्यमेव जयते नाऽनृतम् (मुण्डक० 3।1।6)
सत्य की ही जीत होती है, झूठ की नहीं।

(3) **शतरुद्रीय होम प्रसंग** (रुद्राध्याय : अध्याय 16) में रुद्र की कल्पना का साँगोपांग विवेचन मिलता है। इस अध्याय के 17-43 मन्त्रों में रुद्र के स्थपति, ककुभ, अश्वपति, शिव, नीलग्रीव, शितिकण्ठ आदि लगभग एक सहस्र विशेषण दिये गये हैं। (4) कहा जाता है कि अधिक सोमपान करने से इन्द्र को रोग हो गया था जिसकी अश्विनों ने इस यज्ञ के द्वारा चिकित्सा की। राज्य से च्युत राजा, पशुओं की कामना रखने वाले यजमान आदि के लिए इस याग का अनुष्ठान विहित है। (5) **अश्वमेध** सार्वभौम राज्य के अभिलाषी सम्राट् के लिए विहित है। अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध आदि में 'मेध' शब्द ब्राह्मण-ग्रन्थों के अनुसार बलि का वाचक न होकर 'श्रीवृद्धि' का वाचक है। इसी प्रसंग में 'आ ब्रहन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे……' (22-23) यह प्रसिद्ध प्रार्थना उपलब्ध होती है जिसमें यजमान ने अपने लिए विभिन्न पदार्थों की उन्नति तथा वृद्धि की कामना की है। (6) **'पुरुषमेध'** (एक प्रकार के काल्पनिक यज्ञ) के वर्णन के अन्तर्गत 184 वृत्तिजीवियों के 'आलम्भन' (बलि देने) का निर्देश है, किन्तु यह आलम्भन वस्तुतः प्रतीक-रूप ही है, न कि सचमुच की बलि देना। (7) **'सर्वमेध'** से भी तात्पर्य वस्तुतः सर्वजन-संहार नहीं है अपितु सर्वजन-कल्याण ही है। (8) **शिव-संकल्प सूक्त** अथवा उपनिषद् में मन की महत्ता निर्दिष्ट करते हुए प्रार्थना की गयी है कि यह 'शिव-संकल्प' बने—जैसे एक सारथि अपने चाबुक के द्वारा घोड़ों को (अभीष्ट स्थान को जाने के लिए) प्रेरित करता हैं, उसी प्रकार हमारा यह मन भी हम मनुष्यों को सब क्रियाओं के लिए प्रेरित करता है। हमारे हृदयों में प्रतिष्ठित होने वाला, गतिशील एवं प्रेरक सर्वाधिक शीघ्रगामी यह मन शिव-संकल्प होवे।' (9) **ईशोपनिषद्** (यजुर्वेद का 40 वां, अन्तिम, अध्याय) के विषय में उल्लेख्य है कि एक तो सम्पूर्ण यजुर्वेद में यही एक अकेला स्थल है जिसका साक्षात् सम्बन्ध कर्मकाण्ड से न होकर आत्मज्ञान से है, और दूसरे यही एक अकेली ऐसी उपनिषद् है जो संहिता का भाग है। अतः इसे उपनिषदों में आदिम माना जाता है। इसका पहला मन्त्र है—'इस विश्व में जो भी गतिशील (चेतन एवं जड़) पदार्थ हैं वे ईश द्वारा व्याप्य हैं, अर्थात् ईश उनमें रमा हुआ है। हमें पदार्थों का उपभोग त्यागपूर्वक करना चाहिए, किसी और के उपभोग्य पदार्थ के प्रति हमें लोभ नहीं करना चाहिए।'

उल्लेखनीय है कि मनुष्य जीवन के विकास की तीन सीढ़ियां मानी गयी हैं—कर्म, उपासना और ज्ञान। इनमें से कर्म की सीढ़ी या कर्मकाण्ड का प्रतिपादन यही वेद ही करता है। मैंबडोनल के कथनानुसार ऋग्वेद और यजुर्वेद में कर्मकाण्ड की दृष्टि से एक स्पष्ट अन्तर यह है कि 'ऋग्वेद में अर्चा का विषय देवता होते थे जो कि मानव-जाति पर अनुग्रह करने में समर्थ थे और यज्ञ-यागादि देवताओं का प्रसाद प्राप्त करने के साधन मात्र थे, किन्तु यजुर्वेद में यज्ञ ही विचार एवं अनुष्ठान का केन्द्र हो चला और उसी के विधिवत् अनुष्ठान (प्रयोग) की जटिलता सर्वोपरि मान्यता का विषय बन गई। यज्ञ का महत्त्व इतना बढ़ गया कि उसके द्वारा न केवल देवता प्रभावित होते थे, अपितु पुरोहित के संकल्पानुसार देवता अभीप्सित वर प्रदान के लिए बाध्य भी समझे जाते थे। यज्ञ के द्वारा मानो देवता तो पुरोहितों की मुट्ठी में थे। यज्ञों की सत्ता प्रकृति पर स्थापित हो अलौकिक शक्ति मानी जाती थी। शत्रु पर विजय-प्राप्ति भी इनके द्वारा संभव बतायी गई।' इस प्रकार यजुर्वेद ऋग्वेद की तुलना में एक पृथक्, यों कहें कि विलोमरूपीय, चिन्तनधारा का अवलोकन हमें कराता है जो कि परवर्ती साहित्य में विभिन्न रूपों में प्रस्फुटित होती चली गई। हाँ, यज्ञिय विधि-विधानों द्वारा देवताओं के प्रसादन के माध्यम से सुवृष्टि, धन-धान्य-वृद्धि, पुत्रोत्पत्ति, दीर्घ आयुष्य आदि बहुविध अभीष्ट-प्राप्ति को आज का वैज्ञानिक युग कितना स्वीकार अथवा अस्वीकार करता है—यह यहां हमारा विवेच्य विषय नहीं है।

सत्यमेव देवाः (शत० ब्रा० 1।1।4)
सत्य ही देवता है।

अब यजुर्वेद से कुछ स्फुट मन्त्र लें जो यज्ञिय विधानों से प्रायः असम्पृक्त होकर जीवन-दर्शन की विविध झांकियां प्रस्तुत करते हैं—

— हे दृते ! मैं सब को मित्र की आंख से देखूं, हम सब (औरों को) मित्र की आंख से देखें, ताकि मुझे भी सभी जीव मित्र की आंख से देखें। (36-18)

— मैं उस महान् पुरुष को जानता हूं जो सूर्य के समान वर्ण वाला है और अन्धकार से परे है। उसी को जानकर मानव मृत्यु को लाँघ जाता है। उससे अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग अभीष्ट स्थान की प्राप्ति का नहीं है। (31-18)

— हे वाजिन् ! तुम्हारा श्रेष्ठ जन्म द्युलोक में हुआ है, अन्तरिक्ष-लोक में तेरी नाभि (धुरी, मध्यस्थल) है और इस पृथ्वी पर तेरी योनि (मूलाधार) है। तुम अत्युत्तम तथा सम-विभाजित शीघ्र गमन-वृत्ति (चाल) पर चलते चले जाओ। (11-12)

— हे जल ! जैसे वृक्ष से (पका फल) गिर पड़ता है, जैसे स्वेद-युक्त व्यक्ति स्नान करके अपनी मैल से मुक्त हो जाता हैं, जैसे घी पवित्र करने वाले उपायों से स्वच्छ हो जाता है, उसी प्रकार तुम भी मुझे मेरे अपराधों (दोषों, कुवृत्तियों) को धोकर मुझे शुद्ध कर दो। (20-20)

— अग्नि, आदित्य, वायु, शुक्र, ब्रह्म, जल, प्रजापति आदि विभिन्न देवता उसी एक परमात्मतत्त्व की विभूतियां हैं। (इस प्रकार अन्ततः परमात्मा को ही समस्त विश्व का संचालक माना गया है।) (32-1)

इस प्रकार यजुर्वेद काव्यरूप की दृष्टि से विश्व का सर्वप्रथम गद्य-ग्रन्थ है, तथा इस में वैदिक कर्मकाण्ड का यज्ञीय विधि-विधान का सर्वप्रथम प्रतिपादन हुआ है और परवर्ती कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थों का यह आदिम स्रोत है। इसके अतिरिक्त इसमें जीवन-दर्शन की विविध एवं मनोरम झांकियां भी यत्र-तत्र उपलब्ध होती हैं।

सामवेद संहिता

सामन् शब्द—'सामन्' का अर्थ है—शान्तिदायक या मृदु उपाय, इसी कारण यह शब्द संगीत, छन्द अथवा गान के अर्थ में भी रूढ़ हो गया है। ऋग्वेद के मन्त्र जब विशिष्ट पद्धति से गाये जाते हैं तो वे साम (सामन्) कहाते हैं। बृहदारण्यक के अनुसार साम की व्युत्पत्ति है—सा+अम्, सा=ऋचा, 'अम'=गान्धार आदि स्वर। इस प्रकार साम का अर्थ हुआ ऋक् के साथ सम्बद्ध स्वरप्रधान गान। सामवेद के मन्त्रों का गायक ऋत्विज् 'उद्गाता' कहाता है।

शाखाएं—सामवेद की तेरह शाखाएं मानी जाती है जिनमें से अब केवल तीन उपलब्ध हैं- कौथुम, राणायनीय और जैमिनीय या तवलकार। कौथुम और राणायनीय शाखाओं में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। दोनों में वे ही मन्त्र उसी क्रम से हैं। केवल गणना-पद्धति में अन्तर है। कौथुम शाखा में मन्त्रों की गणना का प्रकार है— (1) अध्याय, (2) खंड, (3) मन्त्र, और राणायनीय शाखा का प्रकार है— (1) प्रपाठक, (2) अर्धप्रपाठक, (3) दशति, (4) मन्त्र।

दो भाग, मन्त्र संख्या और छन्द—सामवेद दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्चिक और उत्तरार्चित। इनमें क्रमशः 650 और 1225 मन्त्र हैं। इस प्रकार सामवेद में कुल 1875 मन्त्र हैं, किन्तु इनमें से 1771 मन्त्र ऋग्वेद के हैं। शेष(1875–1771=)104 मन्त्र सामवेद में नये हैं। इनमें से 5 मन्त्र पुनरुक्त हैं। इस प्रकार इस वेद में केवल

पवित्रवन्तः परिवाचमासते (ऋ० 9।73।3)
पवित्रता के इच्छुक वेदविद्या का आश्रय लेते हैं।

99 मन्त्र ऐसे हैं जो ऋग्वेद में नहीं हैं। ऋग्वेद के उपयुक्त 1771 मन्त्रों में से 267 पुनरुक्त हैं। इस प्रकार सामवेद में (1771—267=)1504 ऋचाएं हैं और99 साम हैं, अर्थात् कुल 1603 मन्त्र हैं। सामवेद की अधिकांश ऋचाएं गायत्री और जगती छन्दों में है। इन दोनों छन्दों की व्युत्पत्ति गा गाने से होती है।

साम और ऋक्—गीति-तत्त्व के समावेश के कारण ही ऋग्वेद के मन्त्रों को 'साम' संज्ञा प्राप्त होती है। साम का आधार ऋचा ही है। एक रूपक के माध्यम से ऋक् और साम में दाम्पत्य भाव की कल्पना की गयी है, जिससे प्रजा (आनन्द) की सृष्टि होती हैं। जिन ऋचाओं के ऊपर ये साम गाये जाते है उन्हें 'सामयोनि' कहते हैं। अतः 'सामवेद संहिता' सामयोनि ऋचाओं का संग्रहमात्र है।

प्ररिपाद्य विषय एवं सामगान-पद्धति— सामवेद में सोम, सोमरस, सोमपान के अतिरिक्त सोमयाग का विशेष महत्त्व है, अत: इसे सोमप्रधान वेद कह सकते हैं। सामवेद का प्रमुख प्रतिपाद्य विषय उपासना है। इसमें मुख्यत: सोमयोग से सम्बद्ध मन्त्रों का संकलन है। पूर्वाचिक में अग्नि, इन्द्र और पवमान सोम से सम्बद्ध मन्त्र हैं।

इन मन्त्रों में सामगान की दृष्टि से प्रत्येक मन्त्र की लय स्मरण करनी होती है, जिसका प्रयोग उत्तरार्चिक में होता है। उत्तरार्चिक में 2,3 या 4 मन्त्रों के समूह (जिन्हें क्रमशः द्विक, त्रिक या चतुष्क आदि कहते हैं) में इन लयों का प्रयोग करना होता है। प्राय: त्रिक आदि का प्रथम मन्त्र पूर्वाचिक का होता है जिसकी लय पर वह पूरा सूक्त (त्रिक आदि) गाया जाता है।

सामवेदीय मन्त्रों पर दिये गये 1,2,3 अंकों से क्रमशः उदात्त, स्वरित और अनुदात्त अभिप्रेत हैं। 'ऊंचा स्वर' (आरोह) उदात्त कहता है और 'नीचा स्वर' (अवरोह) अनुदात्त, 'उदात्त और अनुदात्त के समाहार' को स्वरित कहते हैं। उदात्त और अनुदात्त के समाहार से बने हुए स्वरित स्वर में जो आरम्भिक अर्धमात्रा का अंश है वह उदात्त होता है, शेष अंश 'प्रचय' (निघात, अनुदात्त)। उदात्त पर कोई चिह्न नहीं होता, स्वरित पर ऊपर खड़ी लकीर होती है, और अनुदात्त पर नीचे पड़ी लकीर होती है।

गान चार प्रकार के हैं...(1) वेयगान (ग्रामे गेय गान), (2)आरण्यगान, (3) ऊहगान, तथा (4) ऊह्यगान। प्रथम दो गान योनि गान हैं और अन्तिम दो विकृति गान। सामगान की पद्धति के साधारण ज्ञान के लिए यह जानना आवश्यक है कि सामगान के पांच भाग हैं— (1) प्रस्ताव —जो 'हुं' से आरम्भ होता है, इसे प्रस्तोता गाता है। (2) उद्गीथ—इसके आरम्भ में 'ॐ' लगाया जाता है, इसे उद्गाता गाता है।(3)प्रतिहार अर्थात् दो को जोड़ने वाला, इसे प्रतिहर्ता गाता है। इसके कभी-कभी दो टुकड़े कर दिये जाते हैं। (4) उपद्रव—इसे उद्गाता गाता है। (5) निधन—जिसमें मन्त्र के दो पद्यांश या ॐ रहता है। इसका गान उक्त तीनों ऋत्विज एक-साथ मिलकर करते हैं।

उल्लेख्य है कि सामयोनि मन्त्रों (ऋग्वेद की ऋचाओं को सामगानों के रूप में ढालने पर अनेक संगीतानुकूल शाब्दिक परिवर्तन किये जाते हैं। इन्हें सामविकार कहते हैं, जो कि6 हैं—(1)विकार—'अग्न' के स्थान पर 'आग्नायि'। (2) विश्लेशरण (3) विकर्षण—अर्थात् दीर्घ काल तक विभिन्न उच्चारण (4) अभ्यास (5) विराम और (6) स्तोभ।

महत्त्व—सामबेद ऋचाओं का गानवद्ध संकलन है। इस वेद की यही निजी विशिष्टता है। इस वेद की

पश्येम शरदः शतम्।
हम सौ वर्ष तक देखें।

महिमा अन्य वेदों के अतिरिक्त ब्राह्मणग्रन्थों से लेकर महाभारत तक कई स्थानों पर वर्णित की गयी है। छान्दोग्य उपनिषद् में 'उद्गीथ को' 'सामवेद का रस या सार' कहा गया है, तथा इसे पुष्प के तुल्य बताया गया है। गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है कि 'मैं वेदों में सामवेद हूं।' (10-12) सामवेद की गेयात्मकता का महत्त्व स्वतः स्पष्ट है। ऋग्वेद के मन्त्र (योनि-मन्त्र), सामवेद के अनुसार, नाना प्रकार के स्वर, ताल और ध्वनि के उत्पादक होकर अनेक रूप में गाये जाते हैं। एक ही मन्त्र अनेक स्वरों में गेय होने के कारण अपने मूल रूप से सर्वथा भिन्न रूप में सुनायी पड़ने पर नया प्रतीत होने लगता है। यह नवीनता मन्त्रगत न होकर स्वरगत होती है, किन्तु प्रभाव और देवता (विषय) की दृष्टि से इसमें नवीनता मानी जाती है। स्वर अर्थात् गीतिशैली का यह प्रभाव सामवेद की विशेषता है। इस वेद का संकलन भी इस बात का द्योतक है कि ऋग्वेद आदि अन्य वेदों से मन्त्रों का चयन करके उन्हें इस वेद में गीतिशैली में ढालने के उद्देश्य से ही ऋषियों ने इन्हें एकत्र किया, और स्वर-संधान के ही बल पर इन मन्त्रों की प्रभविष्णुता एवं आहलादकता में वृद्धि हो गयी। निःसन्देह सामवेद विश्व भर में संगीतशास्त्र का आदि स्रोत है जो कि अपने आप में सुविकसित है।

अथर्ववेद संहिता

अनेक नाम—इस वेद के अनेक नाम हैं। (1) 'अथर्व' (थर्व कौटिल्ये हिंसायाम्) का अर्थ है कुटिलता और हिंसा से रहित वृत्ति से युक्त व्यक्ति। इस प्रकार की वृत्ति के उपायों का निर्देशक यह वेद अथर्ववेद कहाता है। (2) आथर्वण तथा आंगिरस ऋषियों के द्वारा इस वेद के अनेक मन्त्र दृष्ट हुए। अतः इसे **अथर्वाङ्गिरस** वेद भी कहते हैं। पश्चिमी विद्वानों के अनुसार इस वेद के दो स्वरूप हैं—वरदान और अभिशाप (अथवा अभिचार-क्रिया)। इन दोनों का सम्बन्ध क्रमशः 'अथवन्' और आंगिरस मन्त्रों के साथ है। (3) इस वेद में ब्रह्मा द्वारा दृष्ट मन्त्र भी हैं जिनकी संख्या 967 है, अतः इसे **'ब्रह्मवेद'** भी कहते हैं। ब्रह्मा नामक ऋत्विज् को चारों वेदों का, विशेष रूप से अथर्ववेद का—ज्ञाता माना जाता है, परम ब्रह्म की प्राप्ति है, इसलिए इसे ब्रह्मवेद कहते हैं। इसके अनेक मन्त्रों में ब्रह्म का वर्णन होने के कारण भी यह ब्रह्मवेद कहाता है। (4) क्षत्रियों के कर्तव्य के निर्देशक मन्त्रों के कारण इसे **'क्षत्रवेद'** कहा जाता है। (5) आयुर्वेद, चिकित्सा और ओषधि से सम्बन्ध मन्त्रों के कारण इसे भैषज्य वेद कहते हैं। (6) छन्दःप्रधान होने के कारण यह छन्दोवेद कहाता है। (7) महती ब्रह्म विद्या का उपदेशक होने अथवा अपने एक प्रसिद्ध 'पृथ्वीसूक्त' के कारण यह वेद महीवेद भी कहाता है।

इस वेद के 20 कांडों में से पहले 13 कांडों का संकलन विषय के आधार पर न कर प्रायः मन्त्रों की संख्या के आधार पर किया गया है, किन्तु बाद के 7 काण्डों में विषयों में जिस प्रकार थी एकरूपता एवं क्रम-बद्धता है वैसी पहले 13 काण्डों में अप्राप्य है। काण्ड 14 में विवाह- संस्कार, 15 में व्रात्य-वर्णन, 16-17 में सम्मोहन और 18 में अत्येष्टि। काण्ड 19-20 बाद में जोड़े गये हैं—अतः 'खिलकांड' कहाते हैं। 19 वें कांडों में भैषज्य, राष्ट्र-वृद्धि तथा अध्यात्मविषयक मंत्र संकलित हैं। लगभग सारे 20 वें काण्ड के सूक्त इन्द्र-स्तुतिपरक हैं, जिनके मन्त्रों की संख्या लगभग एक हजार है—अर्थात् सारे वेद का छठा भाग। ऋग्वेद के दशम मण्डल से गृहीत ये मन्त्र विशेष रूप से सोमयाग के लिए आवश्यक होते हैं। वस्तुतः सोमयाग का वर्णन अथर्ववेद की परम्परा के विरुद्ध है। इस वेद में सोमयाग का समावेश इसे चौथा वेद मानने के लिए किया गया प्रतीत होता है।

सत्येनोत्तभिता भूमिः
इस भूमि का धारण सत्य के आश्रय से ही हो रहा है।

वेदत्रयी' शब्द के आधार पर अथर्ववेद को वेद न मानने के अनेक कारण दिये जाते हैं—(1) पूर्वमीमांसा के अनुसार 'पद्यबन्ध' को ऋक् कहते हैं, 'गीति' को साम और 'शेष' अर्थात् गद्य को यजुष्। इस कथन में 'अथर्व' का उल्लेख नहीं हैं। किन्तु अथर्ववेद को चौथा वेद मानने के पक्षधरों का कहना है कि इस वेद में उक्त तीनों विधाओं का समावेश है अतः 'वेदत्रयी' में इस वेद का पृथक् उल्लेख नहीं किया गया। (2) ऋक्, यजु और साम ये तीनों वेद साक्षात् यज्ञ में प्रयुक्त होते हैं। किन्तु अथर्ववेद यज्ञ-प्रधान वेद नहीं है, अतः इसके मन्त्रों का पाठ यज्ञों में नहीं होता। इसलिए उसका तीनों वेदों के साथ सर्वत्र उल्लेख नहीं मिलता। (3) ऋग्वेद के पुरुष-सूक्त में तीनों वेदों का तो उल्लेख है पर अथर्ववेद का उल्लेख नहीं है, यद्यपि ऋग्वेद में 'अथर्वा' का उल्लेख अनेक बार हुआ है, तथा इसे अग्नि का आविष्कारक और यज्ञविद्या का प्रवर्तक कहा गया है। (4) मैक्डोनल के कथनानुसार 'अथर्ववेद' का प्रतिपाद्य विषय सर्वसाधारण—अर्थात् सामान्य जनता का—होने के कारण इसे धर्म-प्रमाण ग्रन्थों में स्थान मिलने में पर्याप्त समय लगा। इस कथन से उनका आशय यह है कि अथर्ववेद को काफी देर बाद चौथा वेद माना गया, किन्तु साथ ही वह यह भी लिखते हैं कि 'यद्यपि ऋग्वेद प्रधानतः यज्ञिय देवताओं की स्तुतिपरक संहिता है तथापि उसमें कुछ सूक्त ऐसे भी हैं जो यह दर्शाते हैं कि भूत-प्रेत विद्या भारत में बहुत प्राचीन काल से घरेलू कर्मकाण्ड के साथ जुड़ी हुई थी।' इस कथन से उन्हें अभिप्रेत है कि अथर्ववेद की रचना न सही पर इसका उक्त महत्त्वपूर्ण विषय बहुत पहले से जनजीवन का अंग अवश्य बन चुका था।

अथर्ववेद का वर्ण्य विषय—इस वेद में दार्शनिक, राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक, विषयों के अतिरिक्त शिक्षा, आयुर्वेद अभिचार-कर्म आदि पर अनेकानेक रूप में सामग्री प्रस्तुत की गयी है।

(1) **दार्शनिक विषय**—(1) ब्रह्म (काण्ड 13), जीवात्मा, माया, प्रकृति, पुनर्जन्म, स्वर्ग, नरक, व्रात्य प्रजापति (काण्ड 15), मनोविज्ञान, स्वप्नविज्ञान आदि दार्शनिक विषय हैं! कुछ स्थल लीजिए :

—13वें काण्ड में 'रोहित' को सूर्य का प्रतीक मानते हुए एक स्थल पर इसका जो रूप प्रस्तुत किया गया है उसमें 'राजा' का अर्थ भी व्यंजित हो रहा है—जिस प्रकार सूर्य उदित होकर ऊंचे से ऊंचा उठता चला जाता है, उसी प्रकार राजा भी अधिकार-सम्पन्न होता चला जाता है। जिस प्रकार गर्भ माता की गोद में रोपित होकर वृद्धि को प्राप्त होता है उसी प्रकार राजा राज्य-शक्ति के बल पर प्रजाओं में उच्चतम स्थान प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार सूर्य छहों विशाल दिशाओं में अपने गमन-मार्ग को देखता हुआ समस्त राष्ट्र को वश में कर लेता है' इसी प्रकार राजा भी प्रजाओं के प्रयत्न से निर्मित राष्ट्र को उन (प्रजाओं) की अनुकूलता में ही प्राप्त करता हुआ समस्त राष्ट्र को वश में कर लेता है।

—ऋषि-आश्चर्य-चकित हो पूछता है—वह स्कम्भ (सर्वाधार : ब्रह्म) कितने अंश से भूतकाल में प्रविष्ट है और कितने अंश से भविष्यत् काल में? जिस एक अंग (अर्थात् प्रकृति) को इस (स्कम्भ) के सहस्रों रूपों में प्रकट किया है उस (प्रकृति) में स्कम्भ कितने अंश से प्रविष्ट है। (107.9)

—जिस प्रकार बालक के अंग माता के गर्भ में (पुष्ट होते) हैं उसी प्रकार इन्द्र और अग्नि-सम्बन्धी (सामवेद के

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वियौष्ट (अथर्व० 3।60।5)
विद्या प्राप्ति से कदापि बिछुड़ो नहीं।

भाग), पवमान-सम्बन्धी (सामवेद के भाग), महानाम्मी नामक ऋचाएं और (साम का) 'महाव्रत' नामक प्रकरण (जो कि सब) यज्ञ के अंग हैं (ये सभी उसी) उच्छिष्ट (ब्रह्म) के भीतर (पुष्ट होते) हैं (11.7.6)। उच्छिष्ट=दृश्य प्रपंच के निषेध करने पर जो वस्तु अवशिष्ट रहे, अर्थात् नेति नेति ब्रह्म।)

(2) **राजनीति** से सम्बद्ध विषय हैं···राष्ट्र, राष्ट्रीय एकता, संसद् के सात विभाग, मित्र-राष्ट्र, राजा के कर्तव्य, समिति के द्वारा राजा का निर्वाचन, ग्राम-पंचायत, न्याय एवं दण्ड-विधान, सेना, शस्त्रास्त्र आदि। पृथ्वी-सूक्त (12.1, कुल 63 मन्त्र) राष्ट्रीय दृष्टि से अति महत्त्वपूर्ण है। कुछ स्थल—'सृष्टि की उत्पति से पूर्व पृथ्वी समुद्र के भीतर जल-ही-जल स्वरूप थी।' 'भूमि माता है और मैं उसका पुत्र हूं।' 'यह विविध-भाषा-भाषी एवं नाना धर्मों वाले जनों को धारण किये हुए है।' 'जिस भूमि पर समुद्र, नद-नाले और (नाना प्रकार के) जल हैं, जिस पर अन्न और खेतियां होती हैं, जिस पर यह जीता-जागता और चलता-फिरता संसार (अन्न-जल के द्वारा) प्राण धारण किये हुए है वह भूमि हमें पूर्वपुरुषों द्वारा प्राप्य पद पर स्थापित करे। यह पृथ्वी विश्व का भरण-पोषण करती है, धन-दौलत का खजाना है, इसकी कोख में स्वर्ण (आदि धातुएं) हैं, यह जगत् का आवास-स्थान है। इस पर तो हमारा सर्वस्व निछावर है।'

(3) पंचजन, स्त्री के अधिकार, दहेज, स्वर्ण, वस्त्राभरण, शाला-निर्माण आदि इस वेद में **सामाजिक** विषय हैं। (4) कृषि, खाद, बैलों वाला हल, व्यापार, बाणिज्य, समुद्री व्यापार आदि **आर्थिक** विषय हैं। (5) शिक्षा-विधि, ज्योतिष, नक्षत्र, आकाश-मार्ग से यात्रा आदि **शिक्षा** से सम्बन्धित विषय हैं। (6) आयुर्वेद (आयुर्विज्ञान) से सम्बन्धित विषय हैं —शरीर के अंग, रोगों के नाम, औषधि एवं चिकित्सा, वाजीकरण आदि। उदाहरणार्थ, प्रथम काण्ड के सत्रहवें सूक्त में हमारे शरीर में स्थित 'धमनी', 'हिरा' और 'अन्त' नामक तीन प्रकार की नाड़ियों का उल्लेख है। धमनियां सैंकड़ों हैं, हिराएं हज़ारों हैं, और इनके बीच में स्थित अन्ताएं भी अनेक हैं। धमनियां हमारे शरीर के अधोभाग ऊर्ध्वभाग और मध्य भाग में स्थित हैं। हिराएं(रक्तवाहिनी नाड़ियां) शरीर में सदा ऐसे गतिशील (रक्त को प्रवाहित रखने में सहायक) रहती हैं जैसे कि लाल रंग के वस्त्रों को धारण करने वाली अर्थात् विवाहित नारियां —किन्तु साथ ही ये बिना भ्राता वाली स्त्रियों के समान एक स्थान पर टिकी भी रहती हैं। ऋषि की प्रार्थना है कि ये सभी नाड़ियां प्रवहमान होती हुई हमारे शरीर में यथास्थान रहकर हमें सुख प्रदान करें। अन्तिम मन्त्र में एक बड़ी और धनुषाकार 'सिकतावती' (संभवत: आशय रजोधर्म की नाड़ी से है) का उल्लेख विशेष रूप से किया गया है कि यह भी सदा गतिशील रहे।

वृष्टि सूक्त (4.15) काव्य-सौन्दर्य का एक अद्भुत निदर्शन है। 'हे वायुओ! समुद्र के मध्य से ऊपर उठ-उठ कर आओ और मेघों को उड़ा लाओ। चमकता हुआ सूर्य भी मेघ को ऊपर उड़ाए। हे मेघ! गर्जना कर, बिजली कड़का, अपने 'उदधि'(जल को धारण करने वाले स्वरूप) को पीड़ित कर (जिससे खूब पानी बरसे) और उस पानी से भूमि को सींच दे। तुझ से बरसाया गया बहुत सारा जल नीचे की ओर आ जाए। 'कृशगु:' अर्थात् दुबले बैलों वाला अथवा (हल द्वारा) भूमि-कर्षक किसान (अपने घर (निश्चिन्तता-पूर्वक) लौटे। हे मण्डूकी, हे मण्डूक की बिटिया, वर्षा को (देखकर) खूब टर्रा, और तालाब के बीच में अपने चारों पैरों को फैलाकर तैर।

(7) **मांगलिक तथा जनहित के साधक** प्रयोग—कौटुम्बिक सहयोग, पौरजन-जनपदों में पारस्परिक स्नेह,

जीवेम शरदः शतम
हम सौ वर्ष तक जीएं।

शत्रुओं के आपसी वैर का शमन, दीर्घ जीवन, स्वास्थ्य-लाभ, कुशलक्षेम के साथ यात्रा, भौतिक अभ्युदयों से सम्बन्धित अनेकानेक उपाय।

(8) इस वेद का बहुचर्चित एवं विवादास्पद विषय है **अभिचार कर्म**। इसके अन्तर्गत इन्द्रजाल, जादू (संस्कृत शब्द 'यातु'), कृत्या-प्रयोग (जादू-टोने के प्रयोग-विशेष, कृत्या नामक एक राक्षसी के माध्यम से), कृत्या-परिहार असाध्य रोगों की विविध मणियों से चिकित्सा, वशीकरण, संमोहन आदि। इनका दोहरा उद्देश्य बताया जाता है—दूसरे के द्वारा किये गये अनिष्ट से आत्मसंरक्षण और शत्रु का विनाश। किन्तु इन विषयों से सम्बन्धित सूक्तों अथवा मन्त्रों के बारे में एक मन्तव्य यह भी है कि इनसे किसी भी रूप में यह सिद्ध नहीं होता कि ये जादू-टोना या मन्त्र-तन्त्र आदि से जुड़े हुए हैं। सर्वप्रथम कौशिक (एक तान्त्रिक) ने अपने 'कौशिक-सूत्र' में इस वेद के कुछ सूक्तों के साथ बहुविध विनियोगों का निर्देश किया था, और इस प्रकार से ये विनियोग इन सूक्तों पर आरोपित कर दिये गये, मूल मन्त्रों से इन विनियोगों का—स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से—कुछ भी सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता, अतः ये विनियोग इन सूक्तों पर ओढ़ाये गये प्रतीत होते हैं। कौशिक के ही अनुकरण में सायण ने भी अपने भाष्य में इन सूक्तों के आरम्भ में उक्त विनियोगों का उल्लेख कर दिया है पर इन मन्त्रों के अपने भाष्य में इनकी कहीं चर्चा तक नहीं की। आगे चलकर पश्चिमी विद्वानों और उनके ही अनुकरण में अनेक भारतीय विद्वानों ने भी अथर्ववेद में जादू-टोना (Black majic) की स्वीकृति विनियोग वाले सूक्तों के माध्यम से करली है।

इस प्रकार यह वेद लौकिक आचार-विचारों का विशद कोष होने के कारण अन्य वेदों की तुलना में अपना विशिष्ट एवं महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि चारों वेद विविध ज्ञान-विज्ञानों के कोष है। ये भारतीय संस्कृति व साहित्य के मूलाधार हैं। विश्व भर में सबसे प्राचीनतम ग्रन्थ होने के कारण इनका महत्त्व और भी बहुत अधिक है। □

यज्जाग्रतो दूरमुदति दैवं
तदु सुप्तस्य तथैवैति।
दूरङ्गमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु॥

अर्थात् मेरा मन विचित्र प्रकाश है। जब मैं दिन को जाग रहा होता हूं, तो यह दूर निकल जाता है। जब रात को सोता हूं, तब भी यह वैसे ही घूमता है। दूरगामी, ज्योतियों में अद्भुत ज्योतिरूप यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

नो वेद आ भर (अथर्व० 20।61।1)
हमें वेदज्ञान प्रदान कर।

वेद-व्याख्या को महर्षि दयानन्द की अद्भुत देन

— डॉ० रामनाथ वेदालंकार
वेदमन्दिर, ज्वालापुर, (हरिद्वार)

वेदों में आस्था रखने वाले प्राचीन भारतीय मनीषियों ने निरुक्त, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यक, उपनिषद्, वेदभाष्य आदि के माध्यम से वेदमन्त्रों की स्वाभिमत व्याख्याएं प्रदर्शित की हैं। वेदार्थ में यास्कीय निरुक्त का महत्त्वपूर्ण योगदान है। भाष्यकारों में स्कन्द, महेश्वर, उद्गीथ, वेंकटमाधव, आनन्दतीर्थ, आत्मानन्द, रावण, उवट, सायण, महीधर, भरतस्वामी आदि के भाष्य मिलते हैं, जो चारों वेदों पर, किसी एक वेद पर या वेदों के किन्हीं स्थलविशेषों पर हैं। इनमें से अधिकतर भाष्यकारों ने वेदमन्त्रों के अर्थ कर्मकाण्डपरक किये हैं, तो भी उनके भाष्यों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे वेदार्थ की अन्य पद्धतियों को भी स्वीकार करते थे।

वेदार्थ की विविध पद्धतियां

वेदार्थ की अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ पद्धतियां वैदिक साहित्य में विशेष रूप से प्रचलित रही हैं। अध्यात्म-पद्धति में मन्त्रों के परमात्मा-परक या शरीर-परक अर्थ किये जाते हैं। शरीर में आत्मा, मन, बुद्धि, प्राण, इन्द्रियां आदि शरीरस्थ तत्त्व भी सम्मिलित हैं। अधिदैवत पद्धति में सायण आदि भाष्यकार अग्नि, वायु, सविता प्रभृति वैदिक देवों को प्राकृतिक आग, पवन, सूर्य आदि के अधिष्ठाता चेतन देवता-विशेष मानकर मन्त्रार्थ करते हैं, किन्तु दूसरे आचार्य वैदिक देवों को जड़ प्राकृतिक पदार्थों के वाचक मानकर मन्त्रार्थ-योजना करते हैं। अधियज्ञ पद्धति में मन्त्र का यज्ञ में विनियोग करते हुए यज्ञ-संबद्ध अर्थ किया जाता है, अथवा यदि मन्त्र में यज्ञ की बात कुछ न हो तो अर्थ सामान्यतः अध्यात्म, अधिदैवत आदि ही किया जाता है, केवल मन्त्र के यज्ञ में विनियुक्त होने के कारण उस मन्त्रार्थ को अधियज्ञ कह दिया जाता है।

इन वेदार्थ-पद्धतियों की चर्चा या इसका उपयोग प्राचीन वेदव्याख्या-ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर मिलता है। उदाहरणार्थ, यास्क के निरुक्त में अनेक मन्त्रों की व्याख्या अध्यात्म तथा अधिदैवत[1] पद्धतियों से की गई है और कुछ मन्त्रों की अधिदैवत तथा अधियज्ञ[2] पद्धतियों से। सायण ने भी अपने वेदभाष्य में कई स्थानों पर अधियज्ञ या अधिदैवत व्याख्या के साथ अध्यात्मपरक व्याख्या भी दी है[3]। सायण-पूर्व भाष्यकार आत्मानन्द ने ऋग्वेद के सम्पूर्ण अस्यवामीय सूक्त (ऋग्० 1.164) की व्याख्या अध्यात्म पद्धति से की है। यजुर्वेद तैत्तिरीय संहिता के भाष्यकार भट्टभास्कर ने एक मन्त्र 'हंस; शुचिषद्' आदि की व्याख्या अध्यात्म, अधिदैवत और अधियज्ञ तीनों पद्धतियों से की है।[4]

उपर्युक्त तीन पद्धतियों के अतिरिक्त एक अन्य महत्त्वपूर्ण वेदार्थ-पद्धति है 'अधिभूत-पद्धति'। इस पद्धति में वेदमन्त्रों के मनुष्यपरक, प्राणिपरक, समाजपरक या राष्ट्रपरक अर्थ किये जाते हैं। इस पद्धति का नामनिर्देश वैदिक साहित्य में बहुत कम हुआ है तथा वेदभाष्यकारों ने वेदार्थ में इसका प्रयोग भी बहुत कम किया है। वे अधिभूत अर्थ प्रायः वहीं करते हैं, जहाँ कोई वैदिक स्थल स्पष्ट-रूप से समाज-व्यवस्था या राष्ट्र-व्यवस्था पर प्रकाश डाल रहा होता है। व्यापक रूप से मन्त्रों के अधिभूत अर्थ करना दयानन्द की ही देन है।

दयानन्द-सम्मत वेदार्थ-पद्धतियां

दयानन्द ने वेदमंत्रों के दो ही प्रकार के अर्थ स्वीकार किये हैं—पारमार्थिक तथा व्यावहारिक। उनके अनुसार परमेश्वर का स्वरूप उसके गुण-कर्म-स्वभाव, स्तुति-प्रार्थना-उपासना, योग, मुक्ति आदि पारमार्थिक

मा नो द्विक्षत कश्चन (अथर्व० 12,1,18)
हमसे कोई भी द्वेष करने वाला न हो।

विषय हैं। इनके अतिरिक्त सब विषय व्यावहारिक विषय कहलायेंगे, जिनमें वर्ण-आश्रम, राजधर्म, भौतिक विज्ञान, शिल्प, अर्थशास्त्र, चिकित्साशास्त्र, वाणिज्य, कृषि आदि आ जाते हैं। इसप्रकार दयानन्द के अनुसार पारमार्थिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाली वेदार्थ-पद्धति, परमार्थ-पद्धति तथा व्यावहारिक विषयों का प्रतिपादन करनेवाली पद्धति व्यावहारिक-पद्धति कहला सकती है। दयानन्द-स्वीकृत इन दो वेदार्थ-पद्धतियों में पूर्व आचार्यों द्वारा अभिमत अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ एवं अधिभूत वेदार्थ-पद्धतियां अन्तर्भूत हो जाती हैं।

महर्षि अपनी ऋ० भा० भू० के प्रतिज्ञा-विषय में लिखते हैं कि जिन मन्त्रों के श्लेष आदि अलंकार से पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार के अर्थ संभव हैं, उन मन्त्रों के अपने वेदभाष्य में मैं दोनों अर्थ करूंगा, तदनुसार उन्हें अपने वेदभाष्य में अनेक वेद-मन्त्रों के दोनों प्रकार के अर्थ किये हैं, इसी तथ्य को हम इस रूप में कह सकते हैं कि पूर्व आचार्यों द्वारा स्वीकृत अध्यात्म, अधिदैवत, अधियज्ञ एवं अधिभूत पद्धतियों का प्रयोग करते हुए मन्त्रों की अनेकार्थता का जितना अधिक पल्लवन दयानन्द ने किया है उतना उनसे पूर्व किसी भाष्यकार ने नहीं किया था। जहाँ उन्होंने मन्त्रों के एक-ही-एक अर्थ किये हैं, उनमें से भी कोई अध्यात्म-पद्धति का है, कोई अधिदैवत पद्धति का, कोई अधियज्ञ पद्धति का और कोई अधिभूत पद्धति का है। वेद-मन्त्रों के अधिभूत-पद्धति के जितने अधिक अर्थ उन्होंने अपने भाष्य में किये हैं उसे देखकर तो यह मानने केलिए वाध्य होना पड़ता है कि वेदों में समाज-व्यवस्था का अत्यन्त विस्तार से चित्रण किया गया है। वेदों के सम्बन्ध में यह दयानन्द की एक नवीन देन है।[5]

वेदों में विविध विद्याएं

दयानन्द अपनी ऋ० भा० भू० के "ब्रह्मविद्या" विषय का आरंभ करते हुए प्रश्न उठाते हैं कि—वेदों में सब विद्याएं हैं वा नहीं? फिर उसका उत्तर देते हैं कि "बीजरूप में सब विद्याएं वेदों में विद्यमान हैं"। स्कन्द, सायण आदि भाष्यकारों के भाष्यों से पाठक को यह भ्रान्ति होती थी कि वेदों में कर्मकाण्ड के अतिरिक्त कुछ नहीं है। किन्तु दयानन्द की वेदभाष्य भूमिका तथा वेद-भाष्य पढ़ने के उपरान्त पाठक का यह विश्वास हो जाता है कि वेद विविध विद्याओं के स्रोत हैं। ऋ०भा०भू० में उन्होंने नमूने के रूप में वेदों में प्रतिपादित ब्रह्मविद्या, सृष्टिविद्या, पृथिव्यादिलोकभ्रमण, सूर्य द्वारा पृथिव्यादि लोकों के आकर्षण-धारणा एवं प्रकाशन, जलपोत, वायु-यान, विद्युत्-तार, चिकित्सा-विज्ञान, स्तुति-प्रार्थना-उपासना, पुनर्जन्म, मुक्ति, राज-प्रजा-धर्म, वर्ण, आश्रम, पंचयज्ञ आदि विषयों का दिग्दर्शन कराया है। साथ ही उनकी मान्यता है कि वेदों में मानवों के कर्त्तव्य-कर्मों का भी विस्तार से उल्लेख हुआ है, जिसकी चर्चा उन्होंने ऋ० भा० भू० के 'वेदोक्त धर्म' प्रकरण में की है।

वेद-व्याख्या के आधारभूत सिद्धांत

जिन प्रमुख आधारभूत सिद्धान्तों को सम्मुख रखकर दयानन्द वेद-व्याख्या में प्रवृत्त हुए हैं, वे निम्नलिखित है :-

1. वेदों के शब्द यौगिक हैं; किसी एक अर्थ में रूढ़ नहीं हैं - इस कारण वे अनेकविध अर्थों को प्रकट करने में समर्थ हैं। यह आग्रह करना उचित नहीं है कि लोक में किसी शब्द का जो अर्थ है, केवल वही सर्वत्र वेद में भी अभिप्रेत हैं।

2. वेदों में अनेक देवों की पूजा का वर्णन नहीं है, प्रत्युत वेद-वर्णित अग्नि, इन्द्र, मित्र, वरुण, अर्यमा, सूर्य, सविता आदि देवता एक ही परमेश्वर के गुणवाची विभिन्न नाम हैं। साथ ही वे श्लेषालंकार द्वारा आग, सूर्य, आत्मा, प्राण, राजा, सेनापति, विद्वान्, उपदेशक, अध्यापक आदि अर्थों को भी देते हैं।

3. वेद-वर्णित अदिति, उषा, इडा, सरस्वती, भारती, पृथिवी, द्यौ, आपः आदि स्त्रीलिंगी देवता परमात्मा के मातृरूप का चित्रण करने के साथ-साथ नारी, पत्नी, अध्यापिका, गृहिणी, विद्युत्, वाणी, क्रियाशक्ति आदि के भी वाचक हैं।

असपत्नाः प्रदिशो भवन्तु (अथर्व० 19,1,41)
सभी दिशायें मेरे लिए शत्रु रहित हों।

4. वेदार्थ करते हुए पूर्वकृत विनियोगों का अनुसरण करना अनिवार्य नहीं है। उनसे स्वतन्त्र होकर भी वेद-मन्त्रों के अर्थ किये जा सकते हैं।

5. वेदों में किन्हीं ऋषियों, राजाओं, देशों, नगरियों, नदियों आदि के इतिहास का वर्णन नहीं है। ऐतिहासिक प्रतीत होनेवाले नामों का यौगिक अर्थ है। अतएव वेदोक्त आर्य-दस्यु-युद्ध से आर्य और द्रविड़ जातियों के मध्य होनेवाला कोई ऐतिहासिक संग्राम अभिप्रेत नहीं है।

6. वेदों में पशु-बलि, नर-बलि, गो-हत्या, मांस-भक्षण, मदिरा-पान, व्यभिचार आदि अमानवोचित तथा निन्दनीय कार्यों का समर्थन एवं अश्लील वर्णन नहीं है। जो वेदभाष्य या जो व्यक्ति वेद में इनका समर्थन करते हैं, वे भ्रान्त हैं।

7. वेदमन्त्रों के यथायोग्य पारमार्थिक, व्यावहारिक अथवा दोनों प्रकार के अर्थ करते हुए उनमें आध्यात्मिक, भौतिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि विविध तत्त्वों का अन्वेषण किया जा सकता है।

दयानन्द का वेद-भाष्य

इन्हीं आधारभूत सिद्धान्तों को अपने सम्मुख रखते हुए दयानन्द ने वेद-भाष्य का प्रणयन किया है। ऋग्वेद का भाष्य सप्तम मण्डल के 61 वें सूक्त के 2 य मन्त्र तक तथा वाजसनेयी-माध्यन्दिन-शुक्ल-यजुर्वेद-संहिता सम्पूर्ण का भाष्य उन्होंने कर दिया है। शुक्ल-यजुर्वेद की इस संहिता का भाष्य उवट और महीधर इससे पूर्व कर चुके थे। किन्तु उनका भाष्य पूर्वप्रचलित कर्मकाण्डिक पद्धति के अनुसार था तथा उसमें दर्शपौर्णमास, अग्निष्टोम, वाजपेय, राजसूय, अश्वमेध, पुरुषमेध, सर्वमेध, पितृमेध आदि श्रौतयज्ञों की प्रक्रिया का ही प्रतिपादन था। उसमें कहीं-कहीं भ्रष्ट अर्थ भी किये गये थे, जिनका यज्ञों की श्रौतपद्धति से कोई सम्बन्ध नहीं था। दयानन्द ने अपना यजुर्वेद-भाष्य पूर्व कर्मकाण्डिक विनियोगों से सर्वथा स्वतन्त्र होकर किया है तथा अनेक स्थानों पर उन्होंने अपने नवीन विनियोग प्रदर्शित किये हैं।

जो वैदिक देव सायण आदि के वेदभाष्यों में केवल इस रूप में आदृत थे कि वे चेतन देवता-विशेष हैं, जो यज्ञों में आकर यज्ञिय हवि से प्रसन्न होकर यजमान को धन-दौलत, स्त्री, पशु एवं पुत्र आदि प्रदान करते हैं, वे ही देव दयानन्द के भाष्य में यौगिक प्रक्रिया के आधार पर विविध क्षेत्रों में विभिन्न गौरवास्पद अर्थों को देते हुए वेद की गरिमा को प्रकाशित कर रहे हैं। यहाँ हम कतिपय वैदिक देवों के दयानन्द-कृत अर्थों का उल्लेख तथा मन्त्र-व्याख्या में उनके प्रयोग का दिग्दर्शन करायेंगे।

अग्नि

दयानन्दभाष्य में 'अग्नि' के प्रमुख अर्थ परमेश्वर, जीवात्मा, विद्वान् मनुष्य, सेनापति, गृहपति, न्यायाधीश, गुरु, पुरोहित, राजा, शिल्पी, वीर पुरुष, योगी, यज्ञाग्नि, यान आदि में प्रयुक्त भौतिक अग्नि या विद्युत्, आग्नेयास्त्र और जाठराग्नि किये गये हैं। ऋग्० 1.13.4 में 'अग्नि' से भौतिक अग्नि का ग्रहण करके मन्त्र का यह आशय लिया है कि भौतिक अग्नि का जलादि के साथ भूमियान, जलयान और व्योमयान में प्रयोग करके उन यानों को सरलता से चलाया जा सकता है। ऋग्० 3-24-1 में 'अग्नि' का अर्थ दुष्टों का दाहक वीर पुरुष लेकर मन्त्र इस रूप में व्याख्यात किया है कि–हे वीर, तू शत्रु-सेनाओं को और अभिमानी दुष्ट-जनों को पराजित कर। ऋग्० 1.27.3 में 'अग्नि' का अर्थ श्लेषालंकार से परमेश्वर तथा विद्वान् पुरुष दोनों लेते हुए मन्त्र का यह भाव लिया है कि परमेश्वर और विद्वान् पुरुष दोनों पापेच्छु मनुष्य से हमारी रक्षा करें। ऋग्० 3.10.4 में 'अग्नि' का अर्थ यज्ञाग्नि तथा विद्वान् पुरुष लेते हुए यह व्याख्या की है कि जैसे यज्ञाग्नि सात ऋत्विजों के साथ अहिंसामय यज्ञ में यजमान के कल्याणार्थ आता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष पंच प्राण, मन और बुद्धि इन सात होताओं के साथ आवे। ऋग्० 7-17-3 में 'अग्नि' का अर्थ तीव्रप्रज्ञ विद्यार्थी करते हुए यह आशय प्रकट किया है कि तीव्र-बुद्धि विद्यार्थी विद्वान् अध्यापकों का संग करके पुरुषार्थ से विद्याओं को तथा अहिंसामय कार्यों को करे। यजु० 27.5 में 'अग्नि'

सुगा ऋतस्य पन्थाः (ऋ० 8।3।13)
सत्य का मार्ग सुगन व सरल है।

का अर्थ न्यायकारी राजा लेकर मन्त्र का यह भाव बताया है कि इसमें राजा को कहा गया है—आप वादी-प्रतिवादी के बीच मध्यस्थ बनकर न्याय कीजिए।

इन्द्र

दयानन्द-भाष्य में 'इन्द्र' के प्रमुख अर्थ परमेश्वर, जीवात्मा, वीर राजा, विद्वान् पुरुष, सेनानी, शूरवीर योद्धा, विद्युत्, यज्ञ, सूर्यलोक, किसान एवं किये वैद्य गये हैं। ऋग्० 1.11.4 में 'इन्द्र' के दो अर्थ किये हैं—सूर्य और सेनापति। सूर्य-पक्ष में मन्त्रार्थ किया है कि यह सूर्य अपरिमित जल को बरसानेवाला, बहुत सी किरणों वाला, पदार्थों को जोड़ने-तोड़ने वाला तथा सब लोकों को अपनी आकर्षण-शक्ति से धारण करने वाला है। सेनापति-पक्ष में अर्थ किया है कि सेनापति अपरिमित बलवाला, छेदक शस्त्रों से युक्त, शत्रु-नगरों का भेदन करनेवाला, राजनीतिशास्त्र का ज्ञाता तथा राष्ट्र के कार्यों को अपने पराक्रम से पूर्ण करने वाला है। ऋग्० 1.33.4में'इन्द्र' के तीन अर्थ लिये हैं—ईश्वर, सूर्य और शूरवीर योद्धा। मन्त्र का अभिप्राय यह वर्णित किया है कि जैसे परमेश्वर आजातशत्रु है तथा सूर्य भी वृत्र (बादल) का संहार करके शत्रु-रहित हो जाता है, वैसे ही शूरवीर मनुष्यों को चाहिए कि वे दस्युओं का विनाश करके अजातशत्रु बने। ऋग्०3,45,2 में 'इन्द्र' शब्द के विद्युत्-सूर्य, वायु और राजा अर्थ करते हुए विद्युत्, सूर्य एवं वायु के दृष्टान्त से राजा के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला है।

रुद्र

दयानन्द-भाष्य में 'रुद्र' देवता के प्रमुख अर्थ परमात्मा, जीवात्मा, प्राण, शत्रु-रोदक सेनापति, स्तोता, विद्वान्, 44 वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करने वाला ब्रह्मचारी तथा वैद्य किये गये हैं। ऋग्० 2,33,2 में रुद्र का अर्थ वैद्य करते हुए भाष्य इस प्रकार है—हे वैद्यराज, आपकी दी हुई ओषधियों से मैं सौ वर्ष की आयु प्राप्त करूं। आप हमारे अन्दर से राग, द्वेष, उन्माद आदि दोषों को तथा विभिन्न रोगों को दूर कर दीजिए। ऋग्० 1.43,1 में 'रुद्र' का अर्थ परमेश्वर, जीवात्मा तथा वायु लेते हुए उनके गुणों का वर्णन किया गया है। यजु० 3.57 में यह उल्लेख मिलता है कि 'अम्बिका' रुद्र की बहिन (स्वसृ) है और चूहा (आखु) रुद्र का पशु है जो पौराणिक परंपरा से मेल नहीं खाता, क्योंकि वहाँ अम्बिका रुद्र की पत्नी है और चूहा गणेश का वाहन है, रुद्र का नहीं। दयानन्दभाष्य में यहाँ 'रुद्र' का अर्थ एक तो स्तोता किया है, जो निघंटु-सम्मत[6] है, और दूसरा अर्थ प्राण लिया है। 'अम्बिका' ओर 'आखु' को यौगिक मानकर 'अम्बिका' का अर्थ स्तोतृ-पक्ष में वेदवाणी तथा प्राण-पक्ष में जिह्वा लिया है। चूहे-वाची 'आखु' शब्द का अर्थ स्तोतृ-पक्ष में 'खोदनेवाला शस्त्र' तथा प्राण-पक्ष में खोदा जानेवाला 'भोज्य पदार्थ' किया है। 'अम्बिका' में शब्दार्थक 'अबि' धातु तथा 'आखु' में आङ् उपसर्ग पूर्वक खोदने-अर्थक 'खनु' धातु है। यजु० 16.3 में महीधर ने रुद्र का अर्थ कैलासवासी शिव किया है, किन्तु दयानन्द-भाष्य में सेनापति अर्थ लेकर सेनापति को प्रेरणा दी गई है कि जो तूने अपने हाथ में शस्त्र पकड़ा हुआ है, उसे राष्ट्र के लिए मंगलकारी बना, उससे जगत् का व्यर्थ ही संहार मत कर।

पितरः

वैदिक 'पितरः' से सायण, महीधर आदि मृत पितर अर्थ ग्रहण करते हैं। उनके अनुसार श्राद्ध-यज्ञ में मृत पितरों का आह्वान न कर उन्हें भोजन द्वारा तृप्ति प्रदान की जाती है। परन्तु दयानन्द वयोवृद्ध एवं ज्ञानवृद्ध जीवित मनुष्यों को ही 'पितर' मानते हैं। पितरों के लिए वेद में 'अग्निष्वात्ताः' और 'अनग्निष्वात्ताः'[7] विशेषण आते हैं। इन शब्दों का अन्य भाष्यकारों ने 'जिनका अग्नि स्वाद ले चुका है और जिनका अग्नि स्वाद नहीं ले पाता है, अर्थात् श्मशान में जिनका दाह-संस्कार हो चुका है तथा किसी कारण जिनका दाह संस्कार नहीं हो सका' यह अर्थ किया है। 'ष्वात्ताः' में उन्होंने स्वादार्थक 'स्वद' धातु मानी है परन्तु दयानन्द 'सु-आत्त' ऐसा पदच्छेद करके उक्त शब्दों का यह अर्थ करते हैं कि जिन्होंने

वाचः सत्यमशीय (यजु० 39.4)
मैं वाणी से सत्य को प्राप्त करूं।

अग्निविद्या को सम्यक् प्रकार से ग्रहण किया हुआ है अर्थात् जो कर्मकाण्डी है, और जिन्होंने अग्नि-भिन्न विद्या को ग्रहण किया है अर्थात् जो ज्ञानकाण्डी हैं। इस दृष्टिकोण से देखें तो 'पितरः' देवतावाले सब वेदमन्त्र सर्वथा नवीन आशय को ही प्रकट करते हैं। उदाहरणार्थ, दयानन्द-भाष्य में यजु० 2,33 में 'पितरः' का अर्थ रक्षक, विद्वान् गुरुजन लेकर मन्त्रार्थ इस प्रकार किया गया है— "हे विद्यादान देकर रक्षा करनेवाले विद्वान् गुरुजनो, कमल-माला धारण किए हुए इस कुमार को तुम अपने गर्भ में धारण करो अर्थात् गर्भस्थ शिशु जैसे माता के सान्निध्य में रहता है वैसे ही इस कुमार को तुम अपने निकट संपर्क में रखो, जिससे यह विद्या ग्रहण करके मनुष्य बन जाये।

अश्विनौ

'अश्विन्' युगल देव है। आख्यान-परंपरा के अनुसार ये देवों के वैद्य हैं। निरुक्त के अनुसार कुछ के मत में ये द्यावापृथिवी हैं, कुछ के मत में सूर्य-चन्द्रमा हैं और कुछ के मत में दिन-रात हैं। वहीं यह भी लिखा है कि ऐतिहासिक सम्प्रदाय के अनुसार ये कोई दो पुण्यकर्मा राजा थे।[8] दयानन्द-भाष्य में 'अश्विनौ' से जल-अग्नि, राजा-अमात्य, राजा-प्रजा, राजा-राजपुरुष, सूर्य-चन्द्र, वायु-विद्युत्, वायु-सूर्य, गुरु-शिष्य, शिल्पी, स्त्री-पुरुष, अध्यापक-उपदेशक, वैद्य-शल्यचिकित्सक, द्यावापृथिवी, सभाधीश-सेनाधीश, पति-पत्नी, पशुपालक-कृषक, प्राण-उदान आदि युगलों का ग्रहण किया गया है। उदाहरणार्थ, ऋग्० 1,22,2 में 'अश्विनौ' का अर्थ 'अग्नि और जल' लेकर मन्त्र का अभिप्राय यह गृहीत किया गया है कि रथों में अग्नि और जल को प्रयुक्त कर आकाश में वायुयानों को चलाया जा सकता है। ऋग्० 1,118,1 में 'अश्विनौ' का अर्थ 'शिल्पवेत्ता 'स्त्री-पुरुष' लेते हुए यह मन्त्रार्थ किया है—'हे शिल्पवेत्ता स्त्रीपुरुष, जो तुम्हारा बनाया हुआ बाज पक्षी के समान उड़ने वाला, अतिशय सुख देनेवाला, सवारियों और सामान से भरा हुआ, मन से भी अधिक वेगवान्, नीचे-मध्य-ऊपर तीनों स्थानों पर बन्धनों वाला, वायुवेगी विमानादि यान है, वह हमें प्राप्त हो।" ऋग् 1.120.3 में "अश्विनौ" का अर्थ अध्यापक-उपदेशक लेकर मन्त्र का आशय यह प्रकट किया गया है कि 'तुम दोनों को हम बुलाते हैं, जिससे तुम हमें ज्ञान का उपदेश करो'।

उषा

सामान्यत: वेद-वर्णित उषा से प्राकृतिक उषा ही गृहीत की जाती है। परन्तु दयानन्द ने अपने वेदभाष्य में स्थान-स्थान पर उषा का अर्थ 'उषा के समान ज्ञान-प्रकाश से युक्त नारी' किया है तथा नारी को कैसा होना चाहिए यह उषा के वर्णनों से संदेश ग्रहण किया है। उदाहरणार्थ, ऋग्० 1.113.14 की यह व्याख्या की है— "जैसे उषा दिशाओं में व्याप्त होती है, वैसे ही कन्याएं विद्याओं में व्याप्त होवें। जैसे उषा अपनी कान्तियों से सुशोभित होकर सुरम्य रूप के साथ भासित होती है, वैसे ही नारियां अपने शील आदि से तथा सुन्दर रूप से सुशोभित हों। जैसे उषा अंधकार का निवारण कर प्रकाश को उत्पन्न करती है वैसे ही नारियां मूर्खता का निवारण कर सभ्यता आदि का प्रसार करें।" ऋग्० 1.113.12 में भी उषा का अर्थ उषा के तुल्य स्त्री लेकर मन्त्रार्थ प्रदर्शित किया है—"हे उषा तुल्य स्त्री, तू द्वेष-भावों को दूर करने वाली, सत्य का पालन करने वाली सत्य से नवजीवन पाने वाली, प्रशस्त सुखों को भोगने वाली, मधुर सत्य वाणियों को बोलने वाली, मंगलमयी, विद्वानों की विशिष्ट नीति को ग्रहण करने वाली तथा श्रेष्ठतम होती हुई संसार का दुःख दूर कर।"

अदिति

आख्यान-परम्परा में 'अदिति' देवों की माता है, इसीलिए देवता आदित्य अर्थात् अदिति के पुत्र कहलाते हैं। निघण्टुकोश में 'अदिति' शब्द पृथिवी, वाणी और गाय के वाची शब्दों में पठित है।[9] वेदभाष्यकारों ने प्राय: देवमाता के रूप में ही अदिति को लिया है। परन्तु दयानन्द भाष्य में 'अदिति' के पृथिवी, अविनाशी आत्मा, अविनाशिनी प्रकृति, अखंडित नीति, विद्या, क्रिया, विदुषी स्त्री, राज-रानी, अविनाशिनी जगदम्बा, माता,

चोदय धियमयसो न धाराम् (ऋग्० 2.11.12)
हे प्रभो! मेरी बुद्धि को लोहे के बने शास्त्र की धार के समान अति तीक्ष्ण बना।

राजसभा, अवध्य गाय आदि अर्थ किए गए हैं। यथा, ऋग्० 1,43,2 में 'अदिति' का अर्थ माता और राजसभा लेकर मंत्र का यह भाव लिया है—"जैसे माता के बिना संतान की और राजसभा के बिना प्रजा को सुख नहीं मिलता है, वैसे ही लोगों को विद्या और पुरुषार्थ के बिना सुख प्राप्त नहीं हो सकता।"

मरुतः

वैदिक मरुत् देवों को सायण आदि भाष्यकारों ने पवनों के अधिष्ठाता देव-विशेषों के रूप में गृहीत किया था। निघण्टुकोष में ये ऋत्विज् हिरण्य तथा रूप के वाची पठित हैं[10]। दयानन्द-भाष्य में इन्हें वायु और प्राण के अतिरिक्त मरणधर्मा मनुष्यों के रूप में भी गृहीत किया गया है। वहां मरुतों को विशेषतः पुरुषार्थी, शिल्पी धार्मिक, शूरवीर या योगाभ्यासी मनुष्य माना है। कई स्थलों पर मरुतों का अर्थ विद्वद्गण, राज-पुरुष, राजा-प्रजा-जन, ऋत्विज और अतिथिगण, भी लिया है। उदाहरणार्थ, ऋग्० 1,37,12 में मरुतों को वायुसदृश राजपुरुष मान कर मंत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—"हे सभाध्यक्ष, सेनाध्यक्ष, आदि राजपुरुषो! जैसे पवन मेघों को इतस्ततः प्रेरित करते हैं, वैसे ही तुम लोग प्रजाजनों को अपने अपने कर्त्तव्य-कर्म में प्रेरित करो।" ऋग्० 1,38,11 में मरुतों का अर्थ योगाभ्यासीजन लेते हुए मंत्र का आशय यह लिया है कि—"हे योगाभ्यासी जनो! तुम लोग बल आदि की सिद्धि के लिए उन प्राणों से महान् उपकार ग्रहण करो, जो नाड़ियों में पहुंच कर रुधिर, रस आदि को शरीर के अवयवों में पहुंचाते हैं।" असल में मरुतों के वैदिक वर्णनों में उनका मनुष्य होना इतना स्पष्ट है कि उन्हें केवलमात्र वायु या वायु के अधिष्ठाता देव मानने से हम उन वैदिक रहस्य से वंचित ही रह जाते हैं, जिसके अनुसार वेद के मरुत् एक साथ दो अर्थों को देते हैं—एक पवन और दूसरे मनुष्य, और अन्ततः इन दोनों की उपमानोपमेयभाव में परिणति होकर 'पवन के तुल्य क्रियाशील, पराक्रमी, परोपकारी मनुष्य' यह अर्थ निकल आता है।

उपसंहार :

यहां केवल दिग्दर्शन के लिए कतिपय वैदिक देवों के दयानन्द-कृत अर्थों को तथा तदनुसारी मन्त्रार्थों को प्रदर्शित किया गया है, जिससे यह आभास हो सके कि वेदार्थ करने में दयानन्द ने कैसी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। दयानन्द कृत अर्थों से सचमुच वेद एक गौरवास्पद स्थान पर प्रतिष्ठित हो गए हैं और एक संकुचित क्षेत्र से निकल कर एक व्यापक धरातल पर पहुंच गए हैं। दयानन्द ने वैदिक देवों के जो अर्थ लिए हैं वे कोरे काल्पनिक नहीं हैं, अपितु स्वयं वेद से तथा निरुक्त एवं ब्राह्मणग्रन्थों के संकेतों से उनकी पुष्टि हो जाती है। दयानन्द के वेदभाष्य में जो सूत्र बिखरे हुए हैं उन्हें पकड़ कर ही आज का अनुसंधान-कर्त्ता वैदिक अनुसंधान की दिशा में आगे बढ़ जाता है।

---

1. यथा, ऋग्०1.164.21,36,37,39, (निरु० 3.12; 14.21;14.22; 13.10)। ऋग्० 4.40.5(निरु० 15,29)। ऋग्०10.5.6 (निरु०6.27)। ऋग्०10. 55.5(निरु० 14.18)। यजु०34.55 (निरु० 12. 35)। अथर्व० 10.8.9 (निरु०12.36)।
2. यथा ऋग्०10.85.3,5 (निरु० 11,3,4)
3. यथा ऋग्०1.50.4; 1.86.10; 6.47.18; 10. 81. 1; 10. 114, 3,4; 10, 177, 1-3; अथर्व० 10, 4, 21।
4. तै०सं० 1,8,15,2।
5. विभिन्न वेदार्थ-पद्धतियों तथा उन पर दयानन्द की देन के विषय में द्रष्टव्य : लेखक की पुस्तक "वेद भाष्यकारों की वेदार्थ प्रक्रियाएं" वि०वि० संस्कृत-भारती-शोध संस्थान, पंजाब विश्वविद्यालय होशियारपुर, 1980।
6. द्रष्टव्य निघण्टु 3.16।
7. द्रष्टव्य, यजु० 19,60।
8. निरुक्त 12,1।
9. निघण्टु 1-1, 1-11, 2-11।
10. वही, 3-18, 1-2, 3-10।

अभयं मित्रादभयममित्राद् (अथर्व० 19।15।6)
मित्र से हमें अभय हो, अमित्र से हमें अभय हो।

व्यक्ति के सुख का साधन : जीवन का वैदिक आदर्श

मनोहर विद्यालंकार

वेदों को अपौरुषेय और सृष्टि के प्रारम्भ में प्रदत्त माना गया है। इस का वास्तविक अर्थ क्या है ? इस विवाद में पड़े विना एक बात निर्विवाद प्रतीत होती है कि वेद में निर्दिष्ट-विधि विधान सार्वदेशिक और सार्वकालिक है, यत्र तत्र परस्पर-विरोधी दिखने वाली स्थापनाएं भी उपदिष्ट हैं; किन्तु समय और स्थान-भेद से इन में से दोनों को ही उपयोगी और सत्य मानना पड़ता है।

सार्वकालिक स्थापनाएं

1. अग्निं द्वेषो योत्तवै नो गृणीमसि,अग्निं शंयोश्च दा वते। ऋक् 8-71-15 द्वेषभाव को दूर करने, कल्याण को प्राप्त करने और दुःखों को दूर करके सुख देने वाले अग्नि की हम स्तुति करते हैं।

2. न ऋते श्रान्तस्य सख्याय देवाः। ऋक् 4-33-11 पूर्ण प्रयत्न करके थके बिना स्तुति करने वाले के देव न सखा बनते है, और न सहायता करते हैं।

3. अमर्त्यं चिद्दासं मन्यमानमवाभिनत्। ऋक् 2-11-2 दूसरों को कष्ट देने वाले दस्यु को जो अपने को अजर-अमर मानने लगा है, वह छिन्न भिन्न कर देता है। अभिमान किसी का बचता नहीं।

4. ऋजुः पवस्व वृजिनस्य हन्ता। ऋक् 9-97-43

सरल बन कर रहो, चलो, पाप-दुःख नष्ट हो जाएंगे। ये और ऐसी हजारों बातें, ऐसी कहीं गई हैं, जो सदा और सर्वत्र सत्य हैं। इनका कोई विरोध या खण्डन नहीं कर सकता।

परस्पर-विरोधी स्थापनाएं

इसी प्रकार विरोधी प्रतीत होने वाली स्थापना का उदाहरण है—बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश। ऋक् 1-164-32 अधिक सन्तान उत्पन्न करने वाला कष्ट भोगता है, पापी बनता है। 'और दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि।' ऋक् 10-85-45 इस पत्नी में दस पुत्र तक उत्पन्न कर सकता है।

यद्यपि ये दोनों स्थापनाएं बिलकुल विरोधी प्रतीत होती हैं, किन्तु यदि विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वर्तमान काल की स्थिति में पहला संकेत भारत-वासियों के लिये है, और दूसरा उपदेश रशिया-वासियों के लिये है।

सामान्यतया वेद में सार्वकालिक और सार्वदेशिक स्थापनाएं की गई हैं। ऐसे विधि-विधानों का वर्णन किया है, जो सदा और सर्वत्र सत्य हैं। जिन विधि-विधानों में समय और स्थान की दृष्टि से विकल्प की संभावना रहती हैं, उन्हें वह छोड़ देता है। उनके लिये स्मृतियां अथवा तद्देशीय आप्त पुरुष नियम निर्धारित करते हैं।

इस दृष्टि से मनुष्य का दिन-प्रतिदिन चलने वाला वैयक्तिक जीवन वेद के अनुसार कैसा होना चाहिये, इसे देखने का प्रयत्न करते हैं।

जीवन का वैयक्तिक आदर्श

प्रातःजागरण

वेद के अनुसार सूर्योदय से पूर्व अथवा उषाकाल में जागना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है। क्योंकि उषा-कालीन सूर्य किरणों का सेवन अत्यन्त लाभदायक है। इस से अनजाने में ही सब रोगों की निवृत्ति होती है, सब प्रकार के जीवनोपयोगी विटामिन सुगमता से प्राप्त होते हैं। उषाकाल में क्षितिज में उदित होते हुए सूर्य की किरणें दिल और दिमाग की विकलताओं को दूर करके शान्ति स्थापित

शृणुयाम शरदः शतम्।
हम सौ वर्ष तक भलीभांति सुनें।

करती हैं। उषाकाल में जागने वाले ही देव बनते हैं, उन्हें रत्नों की प्राप्ति होती है।

'तत्सवितुर्वृणीमहे वयं देवस्व भोजनम्। श्रेष्ठं सर्वधातमं तुरं भगस्य धीमहि ॥ ऋक् 5-82-1
आ देवो याति सविता परावतोऽप विश्वा दुरिता बाधमानः। ऋक् 1-35-3

'अपसेधन् रक्षसो यातुधानान्। ऋ० 1-35-10
स नो देवः सविता शर्म यच्छतु। ऋ०4-53-6

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः ॥
उपन्नादित्य रश्मिपः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥' अथर्व 9-13-22

सा नो रयिं विश्ववारं सुपेशसमुषा ददतु सुरम्यम्। ऋक् 1-58-13 क्योंकि यह उषा 'चित्रामधा राय ईशे वसूनाम्'। ऋक् 9-95-5 है इसलिये इससे प्रार्थना की है।

'अन्तिवामा दूरे अमित्रमुच्छ, उर्वीगव्यूतिमभयं कृधी नः। यावय द्वेष आभरा वसूनी चोदय राधो गृणते मघोनी ॥ ऋक् 7-77-4

स्नान

जो वेद प्रातः जागरण पर इतना बल देता है, उसका लाभ बताता है वह स्नान के सम्बन्ध में बिलकुल मौन है। स्नान कब करना चाहिये ? कितनी बार करना चाहिये ? क्या स्नान करना आवश्यक है ? इस सम्बन्ध में वेद में कोई संकेत नहीं मिलता।

केवल एक बार स्नान की चर्चा है, वह भी उपमा-रूप से। जैसे स्नान के द्वारा मल से छुटकारा मिलता है-'स्विन्नः स्नात्वा मलादिव'। अथर्व 6-115-3. इसका अर्थ हुआ कि स्नान, जागरण और संध्या की तरह आवश्यक कृत्य नहीं है। ऋतु, काल और देश के अनुसार तथा अपनी इच्छा और शक्ति के अनुसार मानव प्रातः, मध्याह्न या रात्रि में चाहे जब स्नान कर सकता है। दिन में एक बार, दो बार या चाहे जितनी बार स्नान कर सकता है। और चाहे तो दिन में, सप्ताह में, पक्ष में या मास में भी एक बार स्नान करके सन्तुष्ट हो सकता है। इसके अतिरिक्त चाहे तो उष्ण जल से और चाहे तो शीतल जल से, नदी, कूप, तड़ाग या समुद्र जहां इच्छा हो और सुगमता हो, स्नान कर सकता है।

वेद की दृष्टि में स्नान का समय, संख्या और प्रकार गौण हैं। बड़ी विचित्र बात यह है कि वेद की तरह मनु में भी प्रातःकाल उठने का तो ज़िक्र है, संध्या करने और जप का भी ज़िक्र है किन्तु स्नान की कोई चर्चा नहीं है। देखिये—

ब्राह्मे मुहूर्ते बुध्येत धर्मार्थौ चानुचिन्तयेत्। मनु 4-92
उत्थायावश्यकं कृत्वा कृतशौचः समाहितः।
पूर्वां संध्यां जपंस्तिष्ठेत्स्व कालेच परां चिरम्॥ मनु 4-83

यहां केवल सफ़ाई करने का विधान है। कोई नहाकर सफ़ाई मानता है, और कोई मुख, हाथ धोकर ही सन्तुष्ट हो जाता है, और कोई केवल आंख धोकर ही सन्तोष कर लेता है।

इसी तरह योग-दर्शन में भी नियमों में केवल 'शौच' सफ़ाई की चर्चा हुई है। वह शौच क्या है ? या कितना है, यह व्यक्ति समय और स्थान के अनुसार स्वयं निर्धारित कर लेगा।

संध्या, ध्यान, जप, याग, यज्ञ, स्तुति

शारीरिक शुद्धि के अनन्तर मानसिक शुद्धि और शान्ति के लिये किसी न किसी प्रकार की मानसिक या प्राण-सम्बन्धी क्रिया भी सबके लिये आवश्यक है। इसमें भी कोई प्रकार निर्दिष्ट नहीं हुआ है। अपनी रुचि या परम्परा के अनुसार प्राणायाम, जप, संध्या, ध्यान, गान, याग, यज्ञ कुछ भी ऐसा कृत्य करने का विधान है, जिससे मानसिक समता या शान्ति बनी रहे। यद्यपि 'ध्यान' शब्द वेद में नहीं प्रयुक्त हुआ है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वेद की सम्मति में 'ध्याया' ध्यन (ध्यै चिन्तायाम्) से

प्रबवाम शरदः शतम्।
हम सौ वर्ष तक बोलने में समर्थ रहें।

शरीर सन्तुलित होता है, चित्त प्रसन्न होता है, और मन की कुटिलता दूर होकर, मानसिक स्थिति सरल होती है— 'रथं ये चक्रुः सुवृत्तं सुचेतसोऽविह्वरन्तं मनसस्परि ध्यया'। ऋक् 4-36-2

इसी तरह जप शब्द भी वेद में नहीं है। किन्तु इसके पर्याय 'उपांशु' द्वारा स्वास्थ्य और दीर्घायुष्य तथा शान्ति की प्राप्ति और हृदय में माधुर्य की लहरी के प्रादुर्भाव की चर्चा हुई है :–

समुद्रादूर्मिर्मधुमाँ उदारद् उपांशुना सममृतत्वमानट्।
ऋक् 4-58-1

अग्निहोत्र और यज्ञ की चर्चा पर्याप्त है। अग्नि होत्र द्वारा रोगकृमियों के नाश का स्पष्ट वर्णन है। यदि रोगकृमि उत्पन्न हो भी जाएं तो अग्निहोत्री उन्हें सुगमता से पार कर जाता है, जैसे नाविक अपनी नाव को जल के पार ले जाता है—'अग्नेर्होत्रेण प्रणुदे सपत्नान्, शम्वीव नावमुदकेषु धीरः।' अथर्व 9-2-6

वायु-प्रदूषण का इससे बहुत अंशों में परिहार हो सकता है।

वेद में **यज्ञ** शब्द बहुत व्यापक अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रत्येक शुभ कर्म और परोपकारार्थ निष्काम कर्म को यज्ञ कहा जा सकता है। यज्ञ द्वारा सभी उत्तम पदार्थ प्राप्त करके सब तरह से समृद्ध हुआ जा सकता है—

'उत्तिष्ठ ब्रह्मणस्पते देवान् यज्ञेन बोधय।
आयुः प्राणं प्रजां पशून् कीर्तिं यजमानं च वर्धय॥
अथर्व 19-63-1

वेद में **प्राणायाम** शब्द का भी प्रयोग नहीं हुआ है। किन्तु ऋग्वेद के दशम मंडल का 186 वां सूक्त प्राणायाम या प्राणसाधना की महिमा गाता प्रतीत होता है। इसके तीन मन्त्रों में तीन बातें कही हैं—

1. वात (प्राण) भेषज-स्वरूप है, हृदय को शान्त और सुखी करके आयु को दीर्घ करता है।
2. वात (प्राण) पिता की तरह पालन, भाई की तरह भरण, और मित्र की तरह स्निग्धता देकर जीवन में उत्साह का संचार करता है।
3. प्राण-साधना में अमृत का खजाना भरा पड़ा है। यदि उसका उचित रूप में उपयोग किया जाए तो जीवन सरस और सञ्चरणशील बनता है।

स्तुति का निर्देश करने वाले मन्त्रों की वेद में बहुलता है—

'स्तोत्रमिन्द्राय गायत' ऋ० 8-45-21

'स्तुहि श्रुतं विपश्चितम्' ऋ० 8-13-10

'स्तुहीन्द्रं व्यश्ववत्' ऋ० 8-24-22

'स्तुहि भोजान्—गिरा गृणीहि कामिनः' ऋ० 5-53-16

स्तुति के अनुरूप कर्म करने से कामनाएं पूर्ण होती हैं, और मनुष्य दुरितों से बचता है—

'सेमं नः काममापृण। स्तवाम त्वा स्वाध्यः।'
ऋक् 1-16-9

'अतः पाहि स्तवमान, स्तुवन्तमग्ने, माकिर्नो दुरिताय धायि।'
ऋक् 1-149-5

४. भोजन

वेदों में भोजन के सम्बन्ध में विस्तार से किसी एक स्थान पर विशेष उल्लेख नहीं मिलता। किन्तु यत्र-तत्र आए हुए उल्लेखों से जो परिणाम निकलते हैं, यहां उनका दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया जा रहा है—

1. वेद की दृष्टि में दूध, घृत, मधु और रस (उकदम्), ये चार पदार्थ सर्वोत्तम भक्ष्य हैं। मनु ने इस मन्त्र का भाव प्रदर्शित करते हुये उदक के स्थान में 'दधि' लिखा है। इसलिये उदक का अर्थ दधि या रस या आसव (आसुति) कुछ भी किया जा सकता है।

अदीनाः स्याम शरदः शतम्।
हम सौ वर्ष तक अदीन बने रहेंगे।

ऋक् मन्त्र है—पावमानीर्योऽध्येत्यृषिभिः संभृतं रसम् ।
तस्मै सरस्वती दुहे क्षीरं सर्पिर्मधूदकम् ।।
ऋक् 8.67.32

इसी मन्त्र का भावानुवाद करते हुए मनु ने कहा है—

यः स्वाध्यायमधीतेऽब्दं विधिना नियतः शुचिः ।
तस्य नित्यं क्षरत्येष पयो दधि घृतं मधु ।।
मनु 2.82

पावमानी और स्वाध्याय दोनों शब्दों का प्रयोग वेद मन्त्रों के लिए होता है ।

आयुर्वेद के अनुसार इन चारों पदार्थों को क्रमशः तृप्तिकर, पुष्टिप्रद, आयुवर्धक और शरीर-दोष-नाशक माना गया है ।

2. वेद के अनुसार मनुष्य का मुख्य भोजन यव (जौ) और व्रीहि (चावल) है । ये दोनों सात्त्विक और सुपच भोज्य पदार्थ हैं । इनमें से एक रोग को दूर करके शरीर को शुद्ध करता है, और दूसरा शरीर को पुष्ट करता है—'व्रीहि यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ।' अ. 8.9.20 'व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम् ।' अथर्व 6.140.3

इनके अतिरिक्त भोज्य पदार्थों की गणना के प्रसंग में गेहूं, चना, माष, तिल इत्यादि वस्तुओं का भी ज़िक्र तो है किन्तु बहुत उपयोगी या तृप्तिकर के रूप में उनकी चर्चा नहीं हुई है ।

3. वेद में फलों और सब्जियों का वर्णन न के बराबर है । फलों में केवल उर्वारुक और द्राक्षा की चर्चा है, लेकिन केवल उपमा के रूप में । भोज्य के रूप में इनकी भी चर्चा नहीं हुई है । इसलिये दो ही परिणाम निकाले जा सकते हैं कि या तो 1. वेद-रचना-काल में ये वस्तुएं होती ही नहीं थीं । या 2. वेद इनकी मनुष्य के लिये विशेष उपयोगिता स्वीकार नहीं करता ।

4. मांस को, वेद ने, खाने का न विधान किया है, न निषेध किया है । इससे प्रतीत यह होता है कि वेद की दृष्टि में मांस-भक्षण न तो लाभकर है; और न ही इसमें कोई पाप है, क्योंकि मांस-भक्षण के लिये कहीं दण्ड का विधान भी नहीं किया है ।

अथर्ववेद के अतिथि-प्रकरण में एक मन्त्र आया है—

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा
तदेव नाश्नीयात् । अथर्व 9.6.(3)9

जिसमें स्पष्ट कहा है कि जो जो स्वादु पदार्थ दूध, दधि, घृत आदि अथवा मांस आदि हों, उन्हें अतिथि से पहले नहीं खाना चाहिए ।

इस मन्त्र को लेकर आमिषभोजी और निरामिषभोजी वेद में 'मांस-भक्षण का विधान है या नहीं' विषय पर विवाद करते रहते हैं ।

वस्तु-स्थिति यह लगती है कि—

1. मांस का अर्थ 'मनोऽस्मिन्सीदतीति वा' निरु. 4-3 के अनुसार स्वादु या मन-पसन्द पदार्थ करना चाहिये । अथवा—

2. जिन स्थानों में मांस के अतिरिक्त कुछ नहीं मिलता, अथवा जो अतिथि मांस को अपना मन-पसन्द मुख्य भोजन मानते हैं, उनके लिये यह प्रसंग है । ऐसा समझना चाहिये ।

इस प्रसंग में एक बात का ज़िक्र कर देना अनुचित न होगा । मनु को उद्धृत करके 'वर्जयेन्मधुमांसं च' । मनु 2.199, प्रायः निरामिषभोजी मनु के विधान को मांस-विरोधी दर्शाते हैं । लेकिन उन्हें यह समझ लेना चाहिये कि यह श्लोक ब्रह्मचारियों के कर्तव्यों और नियमों के प्रसंग का है, गृहस्थियों के प्रसंग का नहीं है । 'पयः पशूनां रसमोषधीनाम्'। अथर्व 19.30.5 और 'दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ।' अथर्व 6.140.3 दोनों प्रमाण मांस भक्षण का निषेध करते प्रतीत होते हैं ।

अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व
अक्षों से द्यूत मत खेलो, खेत में कृषि ही करो ।

5. भोजन के सम्बन्ध में वेद के अन्य निर्देश

(क) अथर्ववेद में एक मन्त्र में कहा है कि सदा तोल कर अर्थात् परिमित मात्रा में खाने वाला सदा स्वस्थ रहता है, और उसके शरीर पर आक्रमण करके यातना पहुचाने वाले यातुधान (रोग कृमि) सदा भोजन न पाने के कारण विलाप किया करते हैं।

अथ तौलस्य प्राशान यातुधानान्विलापय।
अथर्व 1.9.2

(ख) वेद में एक दो स्थानों पर ऐसा संकेत भी मिलता है कि दैनिक जीवन में सामान्यतया तीन वार से अधिक नहीं खाना चाहिये।

त्रि: पृक्षो अस्मे अक्षरेव पिन्वतम्। ऋक् 1.34.4

आ नः सोम संभर पिप्पुषीमिषं
या नो दोहते त्रिरहन्नसश्चुषी। ऋक् 9.86.18

हाँ, इस तीन बार के भोजन में यह ढील दी जा सकती है कि अन्न या अन्न-निर्मित पदार्थ दिन में तीन बार से अधिक नहीं लेने चाहिएं। द्रव या फल इन तीन बार में सम्मिलित नहीं भी किये जा सकते हैं।

(ग) अकेले भोजन करने का निषेध है। इसका एक अर्थ तो यह है कि अपने प्रतिवेशियों (पड़ोसियों) और सहयोगियों के भूखा रहते हुए अथवा उनकी व्यवस्था किये बिना भोजन करने वाला पाप का भागी होता है।

'केबलाघो भवति केवलादी। ऋक् 10.117.6

दूसरों को भोजन देने या कराने वाले, बिना कारण न मरते हैं, न कष्ट में पड़ते हैं, न दुःखी होते हैं। उन्हें सब प्रकार के वाञ्छित पदार्थ सुलभ होते हैं, वे सदा सुरा की सी मस्ती में रहते हैं।

इसलिये अपने घर में भी जहां तक संभव हो, साथ बैठकर खाना चाहिए। अकेले तो केवल लाचारी या जल्दी में ही खाना चाहिए।

न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजा:। ऋक् 10.107.8

भोजा जिग्युरन्तः पेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति॥ ऋक् 10.107.8

भोजन के सम्बन्ध में आयुर्वेद का सिद्धान्त है कि— ऋतु के अनुकूल परिमित मात्रा में, शरीर और स्वास्थ्य के लिए हितकर पदार्थ ही खाने चाहियें। हितभुक् मितभुक् कालभुक् भवेत् सुधीः।

मनु ने सार रूप द निम्न श्लोक में सब कुछ कह दिया है।

अनारोग्यमनायुष्यमस्वर्ग्यं चातिभोजनम्।
अपुण्यं लोकविद्विष्टं तस्मात्तत्परिवर्जयेत्॥

मनु 2.57

रात्रि-शयन

रात्रि-शयन का कोई समय निर्धारत नहीं है। उषा-काल से पूर्व जागने को लक्ष्य बनाकर जितनी नींद लेनी हो, वह उस समय सो सकता है।

रात्रि-शयन के सम्बन्ध में केवल दो संकेत मिलते हैं।

1. अधा शयीत निऋृतेरुपस्थे। ऋक् 10.85.14 भूमिमाता की गोद में सोये, अर्थात् भूमि पर सोये, अथवा भूमि-सदृश कठोर तख्त या पलंग पर सोये। शैय्या बहुत गुदगुदी नहीं होनी चाहिए।

2. अति वायो ससतो याहि शश्वतः। ऋक् 1.135.7 ऐसे स्थान या गृह में सोना चाहिए, जहां वायु भार-भार बहती हो।

वस्त्रधारण या वेशभूषा

वेशभूषा के सम्बन्ध में वेद में कोई चर्चा नहीं की गई है, क्योंकि स्थान-भेद और काल-भेद से वेशभूषा में

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि।
हे प्रभो आप तेज-स्वरूप हैं, मुझमें तेज को धारण कीजिए।

परिवर्तन होता रहता है। कहीं उत्तरीय और अधोवस्त्र (धोती) पहना जाता है और कहीं कोट-पैन्ट उपयोगी रहता है।

वेद में वस्त्रधारण के लिए जो निर्देश दिए गए हैं, उनसे स्पष्ट प्रतीत होता है कि उनमें किसी स्थान को ध्यान में रखकर कोई बात नहीं कही गई है। ये सब निर्देश सब स्थानों के लिए समान रूप से लागू होते हैं। इन निर्देशों को ध्यान से देखें तो यह भी स्पष्ट हो जाता है कि किसी यज्ञ जैसे कार्य के लिए भी सर्वत्र एक सा वेश होना जरूरी नहीं है। समय और स्थान की सुविधा के अनुसार भिन्न भिन्न प्रदेशों में तथा एक ही प्रदेश में भिन्न भिन्न ऋतुओं के लिए पृथक् पृथक् वेश नियत किया जा सकता है।

इन निर्देशों को देखते हैं :

1. वस्त्र आराम देह तथा देखने में सात्त्विक और जहां तक संभव हो श्वेत होने चाहिएं -

भद्रा वस्त्रा समन्या वसानो महान्।

ऋक् 9.97.2

भद्रा वस्त्राण्यर्जुना वसाना सेयम्।

ऋक् 3.39.2

सूर्याया भद्रमिद्वासः। ऋक् 1.85.6

2. वस्त्र सुन्दर और आकर्षक तथा शुभ होने चाहिएं।

रुशद्वासो बिभ्रती शुक्रमश्वैत्। ऋक् 9.99.2
स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो
राजन्यक्षीह देवान्। ऋक् 10.1.6
अभि वस्त्रा सुवसनान्यर्श। ऋक् 9.87.50

3. वस्त्र मोटे-मजबूत और चुस्ती-प्रद होने चाहिएं।

युवं वस्त्राणि पीवसा वसाथे। ऋक् 1;152.1
आ सोमो वस्त्रा रभसानि दत्ते। 9.86.1

4. वेद में भेड़ों की ऊन से बने वस्त्रों का जिक्र है। इससे दो बातें स्पष्ट हैं कि (१) कम से कम सर्दियों में ऊनी वस्त्र जरूर पहन लेने चाहिएं। (2) अन्य वस्त्रों की अपेक्षा ऊनी वस्त्रों में अधिक पवित्रता है—

अवीनां वासांसि मर्मृजत्। ऋक् १0.26.6

5. सामान्यतया जरा ढीले (लूज) वस्त्र पहनने चाहियें, जिससे आराम मिले, चुस्त पाजामा और कुरता पहनने वाली लड़कियों की तरह जल्दी में चलते हुए फट जाने की स्थिति में नग्नता के कारण हंसी का पात्र न बनना पड़े।

यहां तक हमने वेद के अनुसार वैयक्तिक दृष्टि से आदर्श जीवन की चर्चा की है। अब सामाजिक दृष्टि से वेद के अनुसार आदर्श जीवन कैसा होना चाहिए, इस पर विचार करते हैं। परिवार भी समाज का ही अंग है। इसलिए पारिवारिक जीवन के आदर्श को ही सारे सामाजिक जीवन का भी आदर्श समझना चाहिए।

वेद की दृष्टि में—आदर्श सामाजिक जीवन, तथा
वैदिक (आदर्श) गृहस्थ :

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्॥
अथर्व 3.30.2

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया॥
अथर्व 3.30.3

इन मन्त्रों में, परिवार और समाज को सुखी बनाने वाले व्यवहार का निर्देश है। यदि इस पर पूरी तरह से आचरण किया जाए तो प्रत्येक परिवार और सारा समाज तथा सम्पूर्ण राष्ट्र सुखी और समृद्ध हो सकता है।

यदि राष्ट्र का प्रत्येक पुत्र (शिष्य तथा अनुयायी) अपने पिता (वृद्ध-जन तथा अपने प्रमुख) के व्रतों-आदेशों

वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि।
आप वीर्य-रूप हैं मुझे वीर्यवान् कीजिए।

का पालन करते हुए, उसके आदर्शों को पूरा करे। अपनी माता (राष्ट्र की नारी-जाति) के मन को अपने व्यवहार से सदा सम बनाए रखे, उसे कभी विषय परिस्थिति में डाल कर दुखी न करे, पत्नी (नारी मात्र) सदा माधुर्य की वर्षा करती हुई शान्ति स्थापित करने वाली वाणी बोले, भाई भाई की (प्रत्येक व्यक्ति दूसरे की) समृद्धि को और बहन बहन की (प्रत्येक स्त्री अपने से इतर स्त्री की) समृद्धि को देखकर ईर्ष्या या द्वेष न करें, अपितु परिवार और समाज या राष्ट्र के सभी सदस्य अपने व्रतों-कर्तव्यों का पालन करते हुए सदा सम्यक् रूप से आगे बढ़ने का प्रयत्न न करें, तो निश्चय ही ऐसा परिवार, समाज और राष्ट्र स्वर्ग बन जाएगा। ऐसे ही स्वर्ग में दिव्य पुरुष जन्म लेते हैं, जो मानवमात्र के सुख के लिए सतत प्रयत्न करते हुए अपने जीवन का उत्सर्ग कर देते हैं।

किन्तु समाज या राष्ट्र का प्रत्येक व्यक्ति ऐसा नहीं होता। कुछ व्यक्ति न केवल अपने कर्तव्य-कर्मों की उपेक्षा करते हैं, अपितु निन्दनीय कर्मों का सेवन करते हैं; इन्द्रिय-निग्रह में असमर्थ होने के कारण, उनके विषयों-दोषों में फंस जाते हैं, इसलिए उतका सामान्य स्थिति से पतन हो जाता है। ऐसे लोग समाज में अपनी प्रतिष्ठा खो देते हैं। उच्च पद पर आसीन होने की स्थिति में उस पद से उनका पतन हो जाता है। इसलिए प्रायश्चित-विवेक में कहा है—

विहितस्याननुष्ठानान्निन्दितस्य च सेवनात्।
अनिग्रहाच्चेन्द्रियाणां नरः पतनमृच्छति॥

यज्ञ

वेद में यज्ञ को अत्यन्त विस्तृत अर्थों मे लिया गया है। पूज्य जनों की पूजा, वृद्धजनों का सत्कार, समवयस्कों के साथ सहयोग, और अभावग्रस्त जनों की सहायता, तथा उन्हें सांत्वना और पदार्थों का दान—इत्यादि सभी शुभ कर्म यज्ञ के अन्तर्गत हैं। इसलिये कहा है (यज्ञो वितन्तसाय्यः। ऋक् 8-6-22)

गीता में श्री कृष्ण ने इसलिये कहा है कि यज्ञ के अनन्तर भोग करने वाले सर्वथा पापमुक्त रहते हैं 'यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्विषैः।'

इसलिये वेद के अनुसार आदर्श पुरुष वह है, जो प्रत्येक कर्म यज्ञ की भावना से करता है। जो समाज और राष्ट्र को हानि पहुंचाकर, या उसकी उपेक्षा करके केवल अपने भोग के लिये समृद्ध होने का प्रयत्न करता है, वह पापी है। राष्ट्र द्वारा निर्धारित करों को ईमानदारी से देकर भोग करने वाला देव पदवी को प्राप्त करता है। यज्ञ ही राष्ट्र में उत्साह और समृद्धि को बढ़ाता है। ऐसा यज्ञ-पुरुष समाज और राष्ट्र का प्रमुख बनकर अपने प्रजाजनों को भी सुखी व समृद्ध करता है—

'यज्ञो बभूव स आबभूव स प्रजज्ञे स उ वावृधे पुनः।
स देवानामधिपतिर्बभूव सोऽस्मासु द्रविणं दधातु॥'
अथर्व० 9-5-2

दान

वेद में धन को या समृद्धि को बुरा रहीं माना गया। सैकड़ों हाथों से कमाने का निर्देश दिया है। किन्तु साथ ही कहा है कि कमाई के साथ खुशी खुशी उसे दूसरों की की सहायता और भलाई के लिए सर्वत्र बांटता-बिखेरता रह। दान पुण्य नहीं है। दान कर्तव्य है। धन की कमाई में, दूसरों का दिल दुःखता है, कभी-कभी अनजाने में अनेक अधिकार का अपहरण हो जाता है। कभी अन्याय हो जाता है। इन दोषों को दूर करने के लिये, अपनी उचित आवश्यकताओं, और राष्ट्र के करों से बचे हुए धन का दान कर्तव्य है। 'शतहस्त समाहर सहस्रहस्त संकिर।' अथर्व

इसलिये अभावग्रस्त पुरुषों की सहायता और उनकी आवश्यकता की पूर्ति के लिये धन और पोषक पदार्थों का दान वैदिक संस्कृति का प्रमुख अंग हैं—

'रायस्पोषस्य ददितारः स्याम सा प्रथमा संस्कृतिर्विश्ववारा।'
4यजु० 9-14

बलमसि बलं मेहि धेहि,
आप बल-रूप हैं मुझे बलवान बनाइए।

वेद ने धन के सम्बन्ध में एक सार्वदेशिक बात कही है। धन सदा किसी के पास नहीं रहता है। रथ के पहिये की तरह वह सदा इधर से उधर चलता रहता है। इस-दीर्घ दृष्टि इसी में है कि जब अपने पास सम्पत्ति हो, तब अभावग्रस्त जनों की सहायता करते रहो।

'पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनुपश्येत पन्थाम्।
ओ हि वर्तन्ते रथ्येव चक्रा अन्यमन्यमुपतिष्ठन्तः रायः ॥'
ऋक 10-119-5

जो दान देते है, उन्हें अगले जीवन में सात-गुणा धन मिलता है—

'ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति संगमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्।' ऋक् 10–109–4

इसके विपरीत अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के बाद भी जो लोग धन नहीं देते है, उन्हें सदा शोक घेरे रहते हैं। मन में बेचैनी रहती है, क्योंकि उन्हें अपनी समृद्धि से कभी सन्तोष नहीं होता 'अपृणन्तमभिसंयन्तु शोकाः'।

मित्र दृष्टि—मधुर वाणी

वैदिक आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य परस्पर मित्र-दृष्टि से देखे और मधुर वाणी का प्रयोग करे। किन्तु यह व्यवहार पारस्परिक है। यह नहीं कि जो हमारा शत्रु बन गया है, हमें सदा नुकसान पहुंचाता है, धोखा देता है, और विनष्ट करने में लगा हुआ है, उसके साथ भी मित्रता का व्यवहार करके अपने देश की स्वतंत्रता और प्रशस्ति (इज्जत) को खतरे में डाल दें ऐसे शत्रु के जल और औष-धियों को भी दूषित करने की वेद ने आज्ञा दी है।

आदर्श—

मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
दृते दृंह मा। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।
यजु० 36–18

अन्यथा—

सुमित्रिया न आप ओषधयः सन्तु दुर्मित्रियास्तस्मै सन्तु।
योऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्मः ॥ यजु० 39–23

आदर्श—

विभूतिरस्तु सूनृता। ऋ० 1-30-5
गृभाय जिह्वया मधु। ऋक् 8-16-5

अन्यथा—

अथर्ववेद के 19 वें काण्ड के 28 तथा 29 सूक्तों में अपने भयंकर सेनापति को आदेश दिया गया है और उससे आशा की गई है कि वह हमारे राष्ट्र के दुश्मनों और हमलावरों को यथावसर छिन्न भिन्न कर दे। उन्हें पीसकर रख दे, कुचल दे और जरूरत हो तो मसल दे? उन्हें काट दे, जला दे, बींध दे। उनका हलुवा बना दे, और किसी तरह से वश में न हों तो, उनका संहार करके उन्हें तहस-नहस कर दे।

अतिथि-सेवा

वेद का अनुयायी अतिथ्य से सकुचाता नहीं। अतिथि के आगमन को अपना अहोभाग्य समझता है अपने घर में सदा अयिथि की कामना करना है। स्वादु और पुष्टिकर पदार्थ पहले उसे खिलाकर खाता है। वह अतिथि को प्रत्यक्ष ब्रह्म मानता है—

गृहे वसतु नोऽतिथिः। अथर्व 10-6-4

अशितावत्यतिथावश्नीयाद्यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्या-विच्छेदाय तद्व्रतम्। अथर्व 9-8-38

एतद्वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात्। अथर्व 9-8-39

यो विद्यात् ब्रह्म प्रत्यक्षम्। अथर्व 9-6-1

स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः। अथर्व 9-6(2)6

अजोऽस्योजो मयि धेहि।
आप ओज-स्वरूप हैं, मुझे ओजस्वी बनाइए।

त्याज्य कर्म

1. वेद की दृष्टि में मित्र-द्रोह या विश्वासघात को सबसे बुरा काम अथवा बड़ा पाप माना है। ऋग्वेद में एक स्थान पर कहा है कि सब को सन्मार्ग की प्रेरणा देकर आगे बढ़ाने की इच्छावाला परमैश्वर्यशाली इन्द्र, मित्रों के साथ विश्वासघात करने वाले मनुष्यों, और विषम परिस्थितियों में ग्रस्त मनुष्यों की किसी प्रकार सहायता न करने वाले स्वार्थपरायण मनुष्यों का नाश कर देता है।

जघन्वाँ इन्द्र मित्रेरूञ्चोदप्रवृद्धो हरिवो अदाशून्।

ऋक् 1-194-6

इसी प्रकार अथर्ववेद में आया है कि सर्वमित्र परमात्मा हमें मित्रद्रोह-रूप पाप से उसी तरह बचाता रहे, जैसे माता अपने पुत्र को अपनी गोद में छिपा कर सभी आपत्तियों से बचाती है—

मातेव पुत्रं प्रमना उपस्थे मित्र एनं
मित्रियात्पात्वहंसः ।। अथर्व 2-28-1

2. वैद की दृष्टि में दुष्कर्म और अकर्म भी त्याज्य हैं। दुष्कृत जन ऋत के मार्ग पर चल नहीं सकते, क्योंकि वे दुरितों से घिरे होते हैं। वेद में दुरितों को छोड़ने का आदेश है।

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः।' ऋक् 9-73-6
विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव ।।

दुष्कृत से भी अधिक अकर्म त्याज्य है, क्योंकि वेद में एक ओर अकर्मा को दस्यु (ऋ 10-22-8) कहा है, और दूसरी ओर कर्म करते हुए ही 100 वर्ष तक जीने की इच्छा करने का विधान है। यदि कर्म करने का सामर्थ्य न हो तो जीने की इच्छा भी नहीं करनी चाहिये।

'कुर्वन्नेव हि कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।'

यजु: 40-2

विवाह का अधिकार

विवाह मानव मात्र की अनिवार्य आवश्यकता है। इसके बिना पुरुष और स्त्री में से किसी की तृप्ति नहीं होती, और न ही सृष्टिक्रम चल सकता है। किन्तु विवाह होते ही आवश्यकताएं बहुगुणा बढ़ जाती हैं। स्त्री के मोह के कारण मनुष्य अपने को संयत नहीं रख सकता। वह अनुचित उपायों से भी धनार्जन में प्रवृत्त होता है। इसलिये वेद संकेत-रूप में एक प्रतिबन्ध लगाता है—कि समाज के नियमों के अनुकूल अपनी आय बढ़ाने वालों को ही पत्नी वाला बनने का अधिकार है। विवाह जो अनिवार्यता है, किन्तु पत्नी के द्वारा सच्चा सुख वे ही पा सकेंगे, जो संयत होकर नियमों में चलेंगे—

ऋतावृधोऽग्ने पत्नीवतस्कृधि। ऋक् 1-14-9

उत्तराधिकार

वेद के अनुसार वैयक्तिक सम्पत्ति अर्जित करने और रखने का अधिकार है। मरने के बाद सारी संपत्ति राज्य की नहीं हो सकती। यह सम्पत्ति उसके उत्तराधिकारियों को मिलनी चाहिये।

'ईशानासः पितृवित्तस्य रायः' ऋक् 1-73-9

इस प्रकार वेद में 'कर्त्तव्य' एवं 'अकर्त्तव्य' के निर्देश यत्र-तत्र स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से उपलब्ध होते हैं।

मन्युरसि मन्यु मयि धेहि।
आप मन्यु-रूप हैं, मुझमें मन्य की धारणा कीजिए।

वैदिक धर्म के मूल तत्त्व

(ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिका के आधार पर)

—डॉ० कृष्णलाल
आचार्य, संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

वेद में मनुष्य समाज-सम्बन्धी धर्म का निर्देश है। प्राचीन शास्त्रकार वेद को धर्म का मूल मानते आये हैं।[1] पूर्वमीमांसा (1, 1, 2) में धर्म को वेद द्वारा प्रेरित बताया गया है—चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः। इस प्रकार वेद निस्सन्देह धर्म का प्रमुख आधार हैं। धर्म का चरम लक्ष्य वैशेषिक सूत्र में उन्नति और आनन्द की प्राप्ति कहा गया है[2]। इस दृष्टि से यह लक्ष्य सम्पूर्ण मनुष्य-समाज को ध्यान में रखे विना प्राप्त नहीं हो सकता। प्रत्येक उन्नत मानव-समाज के जो भी नियम-विधान बनते हैं वे इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर बनाये जाते हैं।

इसीलिए वेदोक्त धर्म के मूल सूत्र के रूप में वह मन्त्र (ऋ० 10,191,2) उद्धृत किया गया है जिसमें परमेश्वर की ओर से सब मनुष्यों को सत्य लक्षणों से युक्त मानवमात्र के कल्याणार्थ धर्म को संगतिपूर्वक प्राप्त करने का, कलह और विरोध की बातें, व्यर्थ का विवाद छोड़कर मिल बैठकर विचार-विमर्शपूर्वक सबके कल्याणार्थ समस्याओं के समाधान ढूंढने का और सोच-विचार कर ज्ञान-सहित पुरुषार्थ करने का निर्देश दिया गया है जिससे सबके मन में सदा आनन्द की अनुभूति हो। मनुष्यों के लिये यह निर्देश विगत अनुभव पर आधारित है। प्रत्येक कल्प में विद्वान् मनुष्य जानबूझ कर समाज को सन्मार्ग दिखाने के लिए धर्म का और ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त करते हैं क्योंकि धर्म ही उसी प्रकार सेवनीय है जैसे सर्वशक्तिमान् होने के कारण केवल एक परमेश्वर पूजनीय है। जैसे ईश्वर सारे संसार का मूलाधार है और उसका भरण-पोषण करने वाला है उसीप्रकार धर्म मनुष्य को मनुष्य के रूप में धारण करता है, उसे पशु होने से बचाता है—धारणाद्धर्मं इत्याहुः, धर्मो धारयति प्रजाः।

सब मनुष्यों के व्यापक कल्याण की भावना को ही आगे बढ़ाते हुए अगले मन्त्र[3] में इस शाश्वत मानव-धर्म के विषय में उपदेश दिया गया है कि समाज में शासक-वर्ग किसी संदिग्ध विषय का निर्णय करने के लिए अलग-अलग विचारकों तथा संसद् के सदस्यों के विचारों को जानकर फिर उनमें से जो सर्वहितकारक एकमत हो उसी को प्रचारित करें और उसी के अनुसार कार्य करें। इसी उद्देश्य से समिति अर्थात् सामाजिक नियम-व्यवस्था ऐसी सर्वकल्याणकारी मर्यादा से युक्त होनी चाहिए जिसमें सबको न्याय मिले, सबको शारीरिक और बौद्धिक विकास करने का समान अवसर मिले और जो समान रूप से सबको सामाजिक कल्याणकारी नियमों के अधीन स्वतंत्रता प्रदान करे और सुख बढ़ावे। समस्त समाज में समानता केवल भौतिक स्तर पर नहीं होनी चाहिए अपितु सबके मन सबके कल्याण में एक-समान हों और ईश्वर-स्मरण तथा शुभ गुणों के प्रति सबका चिन्तन समान हो। सब प्राणियों के दुःख-नाश और सुख-वृद्धि की भावना की प्रमुखता आवश्यक है। सारी शक्ति परस्पर सुख और

सहो सि सहो मयि धेहि। (यजु० 19।9)
आप सहस्-स्वरूप हैं मुझे सहस्वान् कीजिए।

उपकार के लिये लगा देनी चाहिए। इसके लिये परमेश्वर सब परोपकारी सज्जनों के लिए एक-समान सत्य-धर्म-युक्त दान का उपदेश करते हैं। उत्तम दान स्वार्थ और कपट से रहित होता है। गीता के शब्दों में वही दान सात्त्विक तथा उत्तम है जो बदले में उपकार की इच्छा से रहित होकर उचित समय में, उचित स्थान पर वास्तविक अपेक्षी व्यक्ति को केवल यह सोचकर दिया जाता है कि दान करना है अर्थात् यह नहीं सोचा जाता कि इस दान से मुझे क्या लाभ होगा—

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम् ।।
गीता 17।10

यद्यपि सबका कल्याण सभी का सामूहिक कर्त्तव्य है, तथापि महाभारत में समाज का अध्यक्ष होने के कारण यह भार मुख्य रूप से राजा पर डाला गया है और उसे निर्देश दिया गया है कि उसे राज्य के दीन, अनाथ, वृद्ध और विधवाओं के योगक्षेम और जीविका की सदा व्यवस्था करनी चाहिए—

कृपणानामथवृद्धानां विधवानां च योषिताम् ।
योगक्षेमं च वृत्तिं च नित्यमेव प्रकल्पयेत् ।।
(महा० शान्ति० 86,24)

समानी व आकूतिः

पूर्ण एकता का पाठ पढ़ाते हुए वेद सारे समाज के पारस्परिक कल्याण के लिए, और सब के सुख के लिए ही सबके कार्यों तथा उत्साह की प्रेरणा देता है। और उसके लिए सबके मन अथवा मन के द्वारा विचारित कार्य वैररहित, अविरुद्ध तथा प्रेम से युक्त हों। अन्त में निष्कर्ष रूप में वेद आदेश देता है कि मनुष्यों को परस्पर सहायता करनी चाहिए जिससे कि सबके सुख की उन्नति हो। इसके लिए मन में ऐसी समान भावना होनी चाहिये जिससे कि दूसरे की प्रसन्नता में मनुष्य प्रसन्नता का अनुभव करे, किसी को दुःखी देखकर प्रसन्न न हों। इस भावना का मूलाधार यजुर्वेद के निम्नलिखित मन्त्र में सम्यक् प्रकार से वर्णित है—

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ।।

अर्थात् जो व्यक्ति सब प्राणियों को अपने आप में और अपने आप को सब प्राणियों में निरन्तर देखता अथवा अनुभव करता है, वह किसी से घृणा नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सब प्राणियों में विद्यमान मूलभूत जीवन-सम्बन्धी समानता का अनुभव करता है और यदि कहीं किसी को दुःख या कष्ट होता है तो उसका हृदय तज्जन्य करुणा से पिघल जाता है, उसे सह-अनुभूति होती है। उसे लगता है जैसे यह कष्ट मुझे ही हो रहा है। फिर जिस प्रकार वह अपने कष्ट के निवारण के लिए विचलित तथा प्रयत्नशील होता है वैसे ही दूसरे के कष्ट-निवारण के लिए प्रयत्न करता है और उसकी दुःख-निवृत्ति में प्रसन्नता का अनुभव करता है। यह समानता, यह पर-दुःखानुभूति ही मानव-धर्म का मूल है। उसी धर्म में वेद मनुष्य को प्रवृत्त करता है।

दृष्ट्वा रूपे[4]

इस समतामूलक सर्वकल्याणकारक मानवधर्म के ही अंगभूत सत्यादि अन्य गुण हैं। परमेश्वर ने सत्य और असत्य दोनों का विश्लेषण करके सत्य में श्रद्धा स्थापित की अर्थात् सत्य को श्रेष्ठ माना गया है। पक्षपातरहित समानतापूर्ण न्याययुक्त उपर्युक्त मानवधर्म को ही सत्य बताया गया है क्योंकि वही वेदप्रतिपादित सत्य है। केवल जैसा देखा सुना, वैसा ही बता देना सत्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि भाष्यकार महर्षि दयानन्द की दृष्टि

त्वं विदथाम वदासि। अथर्व 14.1.20
हे पत्नि ! तू हमें ज्ञान का उपदेश कर

में सत्य इससे कहीं बड़ा है। सत्य में सत् की, वास्तविक सत्ता की, और अच्छे, भले, सबके कल्याण की भावना निहित है। इसीलिए सत्य को सबसे बड़ा धर्म माना गया है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार ":जो धर्म है निश्चित ही वह सत्य है" (यो वै धर्मः सत्यं वै तत्)। इसीलिए हम प्रतिज्ञा करते हैं कि मैं असत्य को छोड़कर सत्य में प्रवृत्त होता हूं (इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि—यजु० 1.5)। भूमि को अर्थात् भूमि के प्राणियों को धारण करने वाला तत्त्व सत्य ही है (सत्येनोत्तभिता भूमिः)। सत्य भूमि को कैसे धारण करता है? सत्य धर्म कैसे है? सत्य सत् है, सब प्राणियों के पीछे जो एक अद्वितीय सत्-तत्त्व कार्य कर रहा है उसे देखता है और उसके आधार पर सब में समानता के दर्शन करवाता है। दूसरी ओर ऐसा सत्य किसी अन्य को कष्ट पहुंचाने के लिये तथा स्वार्थहेतु मनुष्य को झूठ में प्रवृत्त होने से बचाता है। मनुष्य प्रायः स्वार्थहेतु, चोरी के लिए या अनुचित, जनविरोधी कार्य के लिए असत्य का आश्रय लेता है और परिणामस्वरूप प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में दूसरों को कष्ट होता है।

दृते दृंह[5]

अतः लोककल्याण रूप इस सत्य का पालन करने वाला सबका मित्र बन जाता है, सब उसके मित्र हो जाते हैं। वह व्यक्ति सब दुःखों के निवारक परमेश्वर से प्रार्थना करता है कि वह उसे सदा सत्यरूप सुखों और तज्जन्य शुभ गुणों से बढ़ाता रहे जिससे कि सब प्राणी मुझे मित्र की पक्षपातरहित दृष्टि से देखें अर्थात् मेरे प्रति उनका व्यवहार मित्र के समान हो और मैं भी निर्वैर होकर प्रेमपूर्वक सबकी ओर देखूं अर्थात् सबके प्रति मित्रता का व्यवहार करूं। परिणामस्वरूप सबका सुख सदा बढ़ता रहे।

अग्ने व्रतपते[6]

इस प्रकार सत्य और लोककल्याण अभिन्न हैं। वस्तुतः सत्य पर ही लोककल्याण आश्रित है। सत्य से मनुष्य में दिव्य गुण आते हैं अर्थात् वह तेजस्वी होता है, उसमें दान की भावना बढ़ती है। इसके विपरीत जहां असत्य है वहां सामान्य मनुष्यों अर्थात निम्न कोटि के प्राणियों की प्रवृत्तियां बढ़ती हैं अर्थात् त्यागहीनता, छीना-झपटी इत्यादि। यह सत्य परम धर्म है। इसके अनुष्ठान के लिये पुरुषार्थ करना चाहिए। पुरुषार्थ करने वाले के प्रति ही ईश्वर का महान् उपकार होता है, वह समाज में पूज्य तथा श्रेष्ठ होता है और शान्ति प्राप्त करता है। यह सत्य वाणी का, क्रिया का, निष्कपटता, कर्त्तव्यनिष्ठा, ईमानदारी का सत्य है।

व्रतेन दीक्षाम्[7]

सत्यरूपी व्रत के आचरण से ही मनुष्य दीक्षा अर्थात समाज में प्रतिष्ठा तथा उत्तम अधिकार को प्राप्त करता है। वह उत्तमाधिकार ही दक्षिणा है क्योंकि उससे मनुष्य सुख-शान्ति-रूप उत्तम फल को प्राप्त करता है। यह दक्षिणा श्रद्धा को प्राप्त करती है अर्थात् समाज में विश्वास उत्पन्न करती है। सत्य बोलने वाला सबके विश्वास का पात्र बनता है। इस प्रकार यह विश्वास और सत्य समानार्थक ही हो जाते हैं। इसलिए सत्य सब सद्गुणों. सुख-शान्ति का मूल है, अतः सत्य की प्राप्ति के लिए सदा पुरुषार्थ की वृद्धि करनी चाहिए। उसके प्रति उत्साहपूर्वक प्रयत्न करना चाहिए।

प्रत्येक वेद में सत्य और धर्म के समान लक्षण दिये गये हैं, यह प्रतिपादित करने के लिये ही सर्वप्रथम ऋग्वेद से मन्त्र उद्धृत कर उपर्युक्त तीन मन्त्रों में यजुर्वेद के अनुसार सत्य और दीक्षा-दक्षिणा की व्याख्या की गई है। इसके पश्चात् वेदोक्त धर्म को अथर्ववेद के मन्त्रों के द्वारा भी स्पष्ट किया गया है।

पतिं देवि राधसे चोदयस्व। अथर्व 7.46.3
पति को धन कमाने के ढंग बता

श्रमेण तपसा[8]

इस मन्त्र के अनुसार धर्मानुष्ठानरूपी पुरुषार्थ या तपस्या सर्वोपरि है। ईश्वर ने सब मनुष्यों को इस पुरुषार्थ के साथ ही बनाया है। इसलिए वेद अथवा परमेश्वर-ज्ञान से युक्त होकर ज्ञानी होकर सबको ज्ञानरूपी सत्य में धर्मरूपी पुरुषार्थ में सदा आश्रित रहकर सत्य का सेवन करते रहना चाहिए। सब मनुष्यों को वेद में प्रतिपादित सर्वकल्याणमय तथा प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध सत्य से युक्त होना चाहिए। इस प्रकार शुभगुणों के आचरण से उज्ज्वल तथा चक्रवर्ती राज्य का सेवन करने वाली उत्कृष्ट लक्ष्मी से युक्त वे हों। यहां यह भावना है कि राज्य अथवा शासन धर्माचरण पर आधारित होना चाहिए। इसी प्रकार सब मनुष्य उत्तम गुणों को ग्रहण करके सत्य के आचरण द्वारा यश से युक्त हों।

इन दोनों मन्त्रों में और आगामी मन्त्र में भी वेद में बहुत स्पष्ट 'ब्रह्मगवी' (वेदवाणी) के प्रसंग में सभी विशेषण स्त्रीलिंग में हैं, परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में सब मनुष्यों के अनुकूल संगति के लिए व्यत्यय के द्वारा विसर्गों का लोप मानकर सर्वत्र पुल्लिग बहुवचन के अनुसार व्याख्या की गई है। किन्तु यदि पूर्ण सूक्त में समग्र रूप में इन मन्त्रों को देखा जाए, जहाँ 'ब्रह्मगवी' शब्द आया है, तो पुल्लिग बहुवचन में व्याख्या दुरूह हो जाती है।

स्वधया परिहिता[9]

स्वधा अर्थात् अपने शुभ पदार्थों और गुणों के धारण के द्वारा मनुष्य को सब ओर से सबका हितकारक होना चाहिए। यहां भी परोपकार वेदोक्त धर्म के एक अंग के रूप में निर्दिष्ट है। सब मनुष्यों को श्रद्धा अर्थात् विश्वास से युक्त होना चाहिए अर्थात् समाज में परस्पर एक दूसरे पर विश्वास होना आवश्यक है, तभी सब मिलकर एक दूसरे के कल्याणार्थ कार्य करेंगे। परन्तु इस विश्वास का मूलाधार क्या है? विश्वास कैसे उत्पन्न हो सकता है? यह आधार सत्य बताया गया है। वास्तव में सत्य विश्वास का आधार है ही क्योंकि सत्य में कोई गोपन नहीं होता, छल-कपट नहीं होता, किसी के प्रति दुर्भावना नहीं होती। इसी से तो परस्पर विश्वास उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में वेदोक्त धर्म में सर्वकल्याणकारी सत्य का महत्त्वपूर्ण स्थान है। ये मनुष्य विद्वानों और आप्तजनों के द्वारा सत्य के उपदेश से सत्य में दीक्षित होकर सबका कल्याण करें। साथ ही सबके कल्याण के लिए मनुष्य को यज्ञ में प्रतिष्ठित होना चाहिए। इस प्रकार यज्ञ वदोक्त धर्म का आवश्यक अंग है। यज्ञ क्या है? केवल अग्नि में आहुतियां अर्पित कर जल-वायु की शुद्धि के हेतु विभिन्न होमादि करना ही यज्ञ नहीं है अपितु यज्ञ स्वयं व्यापक परमेश्वर है और परमेश्वर के ध्यान में स्थित होना भी यज्ञ है। इसी प्रकार यज् धातु के संगतिकरण अर्थ के अनुसार सबके उपकार के लिए विभिन्न पदार्थों की संगति अथवा मिश्रण के द्वारा शिल्प इत्यादि का संचालन करना भी यज्ञ है। मनुष्यों को इन तीनों प्रकार के यज्ञ में प्रतिष्ठित होना चाहिए। क्योंकि यह संसार मृत्यु में ही अन्त होने वाला है, अतः मनुष्यों को जीवनपर्यन्त लोकोपकारहित सत्कर्म करते रहना चाहिए। वेदोक्त धर्म का सार यही है। मनुष्य को मनुष्य के रूप में धारण करने वाला यही धर्म है, अन्यथा तो स्वार्थवशीभूत केवल खाने-पीने, सोने, भय करने तथा मैथुन में संलग्न मनुष्य भेड़-बकरियों के समूह से अधिक कुछ भी नहीं।

ओजश्च ते[10]

इसीलिये अगले मन्त्र में धर्म के उद्देश्य की प्राप्ति-हेतु अन्य गुणों का उल्लेख किया गया है। ओज अर्थात् पराक्रम उनमें से प्रथम है। परन्तु यह पराक्रम उपर्युक्त समग्र वैदिक भावना के अनुसार न्याय पर आधारित होना चाहिए। तेज अर्थात् तेजस्विता, निर्भयता, दीनता से

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसम्। अथर्व 7.47.1
तू सब प्रकार के कर्मों का ज्ञान रखती है

रहित व्यवहार आवश्यक है। यह केवल सत्य के आधार पर सम्भव है। तीसरा गुण है सहनशीलता जिसमें मनुष्य सुख-दुःख, हानि-लाभ आदि की स्थितियों से उत्तेजित नहीं होता और धैर्य खोये बिना कष्ट-निवारण के लिए प्रयत्नशील रहता है। गीता में श्री कृष्ण इसी स्थिति में आने के लिए अर्जुन को प्रेरित करते हैं—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥
गीता 2·34

इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए बल अर्थात् ब्रह्मचर्यादि उत्कृष्ट नियमों के द्वारा शारीरिक और बौद्धिक रोगों को दूर करके दुष्टों के मर्दन-हेतु सामर्थ्य प्राप्त करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं हुआ तो अपनी तथा निर्बल सज्जनों की रक्षा कैसे हो सकेगी? सुन्दर वाणी धार्मिक व्यक्ति का बहुत बड़ा गुण है। बिना कुछ किये मनुष्य अपनी वाणी से पहचाना जाता है। भर्तृहरि के अनुसार वाणी ही एकमात्र आभूषण है (वाग्भूषणं भूषणम्)। उस वाणी को विद्या, शुद्ध उच्चारण, सत्य और मधुर भाषण आदि गुणों से परिष्कृत करना चाहिए। महाभारत में इस वाणी को ही सान्त्वना नाम दिया गया है। अभिप्राय यह है कि मधुर वाणी अपने आप में एक बहुत बड़ी सान्त्वना है। यह सान्त्वना अथवा वाणी एक ऐसा पद है जिसका उचित रूप में आचरण करने वाला व्यक्ति सब प्राणियों के लिए प्रमाण या आदर्श हो जाता है और महान् यश प्राप्त करता है—

सान्त्वमेकपदं शुक्र पुरुषः सम्यगाचरन्।
प्रमाणं सर्वभूतानां यशश्चैवाप्नुयान्महत् ॥
(महा० शान्ति० 84-3)

वाणी के अतिरिक्त अन्य ज्ञानेन्द्रियां और कर्मेन्द्रियां भी सत्याचरण से युक्त और पापपूर्ण व्यवहार से रहित होनी चाहिएं। इस शुद्ध आचरण के द्वारा ही मनुष्य को धनोपार्जन करके शोभा से युक्त होना चाहिए। यही वेदोक्त धर्म का सार है। यह धर्म न्याय के आधार पर टिका हुआ है, सत्याचरण इसका प्रमुख तत्त्व है और सबका उपकार इसका चरम लक्ष्य है। इस लक्ष्य को प्राप्त करके ही मनुष्य धार्मिक कहला सकता है।

ब्रह्म च क्षत्रं च[11]

यही धर्म सर्वोपकारक होने के कारण समाज के प्रत्येक वर्ग के साथ यथोचित समान व्यवहार की प्रेरणा देता है और पूर्ण समाज को सशक्त बनाता है। इस प्रकार यह समन्वयवादी सन्तुलित धर्म है। तदनुसार समाज में ब्राह्मण अथवा विद्वद्वर्ग को अपना अध्ययन-अध्यापन, स्वतन्त्र चिन्तन-मनन करने का अवसर प्राप्त होना चाहिए। इसी प्रकार क्षत्रियों को बलिष्ठ और शस्त्र-विद्या में निपुण होकर अपने न्याय, शौर्य आदि गुणों का विस्तार करना चाहिए और राष्ट्र को सत्पुरुषों की सभा द्वारा सब सुखों से युक्त बनाना चाहिए। व्यापारादि करने वाले व्यापारी वैश्य को भी सब स्थानों पर अबाध गति से जाकर राष्ट्र के लिए धनवृद्धि करने की सुविधा प्राप्त होनी चाहिए। इस प्रकार सबको शुद्ध शुभ गुणों को प्रकाशित करना चाहिए और उससे सत्य धर्म के आधार पर कीर्ति प्राप्त करनी चाहिए। सद्विद्या का प्रचार अर्थात् अध्ययन-अध्यापन की व्यवस्था सुचारु रूप से की जानी चाहिए। धन-धान्य की उन्नति के लिए चार प्रकार का पुरुषार्थ करना अर्थात् अप्राप्त वस्तु की न्यायपूर्वक प्राप्ति, प्राप्त वस्तु की रक्षा, रक्षित वस्तु की वृद्धि तथा उसका सत्कर्मों में व्यय किया जाना चाहिए। वीर्यादि की रक्षा के द्वारा अर्थात् ब्रह्मचर्य के पालन द्वारा तथा उचित भोज्य और वस्त्रों के द्वारा शरीर की रक्षा करके आयु और शक्ति को बढ़ाना सबका कर्तव्य है। विषयों का निरन्तर सेवन न करके मनुष्य को अपनी सौंदर्य और रूप की रक्षा करनी चाहिए क्योंकि विषयों का निरन्तर अत्य-

आद्य रायस्पोषं चिकितुषी दधातु। अथर्व.7.47.2
तू सब कुछ जानने वाली हमें धनधान्य की पुष्टि दे।

धिक सेवन शरीर को शीघ्र क्षीण करके रूप में विकृतियां उत्पन्न कर देता है। इसके आगे वेदोक्त धर्म के अन्तर्गत नाम अर्थात् अपनी ख्याति का उपार्जन आता है। निश्चित ही यह ख्याति उपर्युक्त शुभ कर्मों एवं गुणों के द्वारा प्राप्त हो सकती है। अप्रत्यक्ष रूप में ख्याति का अर्जन भी व्यापक धर्म की परिभाषा के अन्तर्गत इसलिए आता है कि इससे लोकोपकार के धर्मसम्मत कार्य करने की प्रेरणा अवश्य मिलती है। है तो यह भी एक एषणा (लोकेषणा) ही, परन्तु सकल समाज में धार्मिकता की अभिवृद्धि के लिए यह आवश्यक है। कीर्ति, अर्थात् सद्‌गुणों के ग्रहण केलिए ईश्वर के गुणों का उपदेश करना चाहिए। ईश्वर के गुणों का कीर्तन-वर्णन करने से उन गुणों को धारण करने की प्रेरणा मिलती है और उनसे न्यायाचरण, सत्यपालन तथा सर्वोपकार जैसे कल्याणकारी गुण उत्पन्न होते हैं। यही धर्म है। आगे बताया गया है कि उपर्युक्त सब कार्यों को कर पाने के लिए पान-अपान, नेत्र-कान आदि इंद्रियों को स्वस्थ्य रखना, स्वच्छ रसमय पौष्टिक भोजन खाना तथा पेय पीना और शरीर को पुष्ट रखना भी धर्म के अन्तर्गत आते हैं। यहां कालिदास की उक्ति सहज ही स्मरण आती है—शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् (शरीर धर्म का प्रथम साधन है)। शरीर ही ठीक नहीं तो मनुष्य अच्छा होने पर भी धर्म का पालन नहीं कर सकता। वेद में अन्यत्र भी "तनूपा अग्नेऽसि तन्वं मे पाहि" और "यन्म तन्वा ऊनं तन्म आपृण" जैसे मन्त्रों द्वारा शारीरिक स्वास्थ्य के प्रति वेद की प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकृष्ट होता है।

सदा परब्रह्म की उपासना करनी चाहिये और प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पुष्ट सत्य का पालन करना चाहिये। सबके उपकारार्थ यज्ञ का अनुष्ठान और उस उपकार की पूर्ति के लिये मन, वाणी, कर्म से अपने पुरुषार्थ द्वारा सभी वस्तुओं को सब लोगों के लिये जुटाना भी धर्म का एक अंग है। और यह उपकार केवल मनुष्यों के लिये नहीं, अपितु पशुओं के लिये भी होना चाहिये। इसीलिये मन्त्र के अन्त में 'प्रजा च पशवश्च' साथ-साथ कहा गया है। इससे वेदोक्त धर्म की सार्वभौमिक परिधि का ज्ञान होता है। मनुष्य-समाज के कल्याणार्थ तो धर्म है ही, परन्तु वेद के अनुसार उसका विस्तार समस्त प्राणी-जगत् के लिये होना चाहिये। उसमें 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' की भावना निहित है। यही भावना गीता में इन शब्दों में प्रकट हुई है—

> विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥
>
> गीता 5।18

विद्वानों की दृष्टि सब प्राणियों के प्रति समान होती है। वे विद्या, विनम्रता आदि गुणों से युक्त ब्राह्मण अर्थात् विद्वान्, गाय, हाथी, कुत्ते तथा चाण्डाल में भी समान दृष्टि रखते हैं क्योंकि सब में एक ही प्राण और जीवात्मा का निवास है। यह सार्वभौम समत्वदृष्टि पूर्णतया वेद के अनुकूल है।

मनुस्मृति के अन्तिम से पूर्व वाले श्लोक में इस समभाव को ब्रह्म को प्राप्त कराने वाला मोक्ष बताया गया है—

> एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना।
> स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्॥
>
> (मनु॰12.125)

इस प्रकार जो व्यक्ति स्वयं अपने आप को सब प्राणियों में देखता है, वह सबके साथ समानता को प्राप्त कर ब्रह्मरूप परम पद अर्थात् मोक्ष को प्राप्त कर लेता है।

ऋग्वेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद की संहिताओं के आधार पर धर्म के तत्त्व बताने के पश्चात् उन्हें बल प्रदान करने के उद्देश्य से तथा उनको व्यापक रूप में प्रस्तुत करने के

एषा ते कुलपा राजन् तामु ते परि दद्मसि। अथर्व 1..14.3
हे वर! यह वधू तुम्हारे कुल की रक्षा करने वाली है।

लिये महर्षि दयानन्द द्वारा वैदिक वाङ्.मय के अन्य परवर्ती ग्रन्थों तथा अन्य आर्षग्रन्थों को उद्धृत कर उसकी व्याख्या की गई है।

सर्वप्रथम तैत्तिरीय आरण्यक (7.9.11) का उद्धरण है जिसके अनुसार स्वाध्याय और प्रवचन मनुष्य को अवश्य ही करते रहना चाहिये। स्वाध्याय के द्वारा मनुष्य अच्छे विचार प्राप्त करता है और प्रवचन के द्वारा समाज में उनका विस्तार करता है। स्वाध्याय और प्रवचन के साथ साथ ऋत अर्थात् यथार्थ स्वरूप का ज्ञान, सत्य का आचरण, तप अर्थात् धर्म के विभिन्न लक्षणों का अनुष्ठान, दम अर्थात् इन्द्रियों को अधर्म के मार्ग से रोक कर सत्य में प्रवृत्त करना, शम अर्थात् मन को शान्त करके अधर्म की इच्छा भी न करना,(अग्नियां अर्थात् वेदादि शास्त्रों से पारमार्थिक ज्ञान)प्राप्त करना और अग्नि आदि पदार्थों द्वारा शिल्पविद्या आदि व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त कर लोकोपकार करना,अग्निहोत्र अर्थात् नित्य प्रति हवन करके जलवायु की शुद्धि के द्वारा सब का हित करना, अतिथि अर्थात् जो उत्कृष्ट विद्या से युक्त धर्मात्मा कभी घर आये तो उनका सेवा-सम्मान करके उसके अपने सन्देहों का निवारण करना और ज्ञान प्राप्त करना, मनुष्य-सम्बन्धी राज्य तथा विद्यारूपी धन को सिद्ध करना, प्रजा अर्थात् सन्तान उत्पन्न करके उसे सत्यविद्या द्वारा सुशिक्षित करना, प्रजा अर्थात् ब्रह्मचर्य के नियम-पालन द्वारा वीर्य की वृद्धि करके पत्नी से ऋतु-समागम करना, प्रजाति अर्थात् गर्भ की रक्षा और जन्म के समय उसकी रक्षा करके उसके शरीर और बुद्धि की वृद्धि करना भी आवश्यक बताया गया है। ये सभी बातें धर्म के व्यावहारिक पक्ष को प्रकट करती हैं क्योंकि जो सर्वकल्याण-रूप चरम लक्ष्य है जिसमें ये प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से सहायक हैं।

विद्या पूर्ण होने के पश्चात् आचार्य भी शिष्य को जो उपदेश देता है उसमें भी धर्म पर आचरण के उपदेश से पूर्व सत्यभाषण के लिये कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि तैत्तिरीय आरण्यक भी संहिताओं का अनुसरण करते हुए धर्म के लिये सत्य को अनिवार्य मानता है। यहां फिर स्वाध्याय और प्रवचन पर बल दिया गया है। आचार्य की सेवा, सन्तानोत्पत्ति, सत्य, धर्म, कुशलता और ऐश्वर्य की वृद्धि सदा करनी चाहिये। इससे प्रकट होता है कि सन्तुलित, समन्वित पूर्ण जीवन ही धर्म का उद्देश्य है। इस प्रकार पुरुषार्थ भी धर्म का आवश्यक अंग है। इसीके अन्तर्गत माता, पिता, आचार्य और अतिथि की सेवा आती है। इन सब के उत्तम कर्मों एवं आचरण का अनुसरण करके व्यक्ति को अपना जीवन उन्नत बनाना चाहिये जिससे वह धर्म का उच्च आदर्श प्राप्त कर सके। दान अथवा त्याग के बिना सर्व-कल्याणरूप धर्म का उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिये प्रीति, अप्रीति से, धन के द्वारा लज्जा के कारण, भय से या मित्रता के उद्देश्य से—सब प्रकार से अवश्यमेव दान देने की प्रेरणा दी गई है। धर्माचरण के व्यावहारिक पक्ष को ध्यान में रखते हुए ऐसी परिस्थिति की कल्पना भी की गई है जब मनुष्य किंकर्तव्यविमूढ हो जाता है। ऐसी स्थिति में आरण्यक ने बहुत सुन्दर वेदानुकूल मार्ग दिखाया है। हमने देखा है कि ऊपर 'दीक्षया गुप्ता' के द्वारा आप्त विद्वानों के सत्योपदेश प्राप्त करने का निर्देश दिया गया है उसी के विस्तार के रूप में यहां बताया गया है कि धर्माचरण में सुविधा की स्थिति में आसपास जो वेद के विद्वान्, पक्षपातरहित योगी, जो अधर्म से दूर हों, विद्यादि गुणों से स्नेहशील हों और धर्म की कामना वाले हों, उन विद्वानों के पास जाकर समाधान ढूंढना चाहिये, और उन परिस्थितियों में वैसा ही करना चाहिये, और निश्चित ही ऐसे व्यक्तियों का व्यवहार धर्मानुकूल, सर्वहितकारी ही होगा।

इसी प्रसंग में आगे तप की परिभाषा करते हुए ऋत, सत्य, विद्या, शान्ति, संयम, दान, यज्ञ आदि शुभ गुणों को तप बताया गया है। ये सब वस्तुतः धर्म के ही अंग हैं।

कोशे कोशः समुब्जितः। अथर्व 9.3.20
यह स्त्री हमारे खिले हुए घर में एक खिली हुई कली है।

ऊपर हम देख चुके हैं कि वेदों में धर्म के अन्तर्गत इन सबका निर्देश दूसरे शब्दों में किया ही गया है। इन सब में भी सत्य को सर्वोपरि रखा गया है। सत्य केवल पर-हितकारी ही नहीं है, अपितु सत्य व्यक्तिगत उन्नति, यहां तक की मोक्ष-प्राप्ति का भी मुख्य साधन है।

मुण्डकोपनिषद् (3.1.5.6) में भी सत्य के इस अद्वितीय महत्त्व की पुष्टि की गई है। तदनुसार सत्यरूपी धर्म के आचरण से ही परमेश्वर को प्राप्त किया जा सकता है। असत्य और अधर्म के आचरण में पराजय ही प्राप्त होती है। सत्य से ही विद्वानों को मोक्षानन्द प्राप्त कराने वाला विस्तृत मार्ग प्रकाशित होता है। उसी सत्यधर्म के मार्ग से शान्तचित्त ऋषि वहां पहुंचते हैं जहां संसार का परम निधान ब्रह्म है। उस स्थिति में सर्वत्र नित्य आनन्द ही होता है। अतः सबको सदा सत्यरूपी धर्म का अनुष्टान करना चाहिये और असत्य को त्यागने में तत्पर रहना चाहिये।[12]

मीमांसाशास्त्र द्वारा भी इसी सत्यधर्माचरण की प्रेरणा दी गई है।[13] वेद का यही मन्तव्य है कि मनुष्य को अस्तेय रूपी अधर्म का मार्ग त्याग करना चाहिए। सत्य मार्ग ही सर्वहितकारी और सर्वसुखदायक धर्म का मार्ग है। इसी प्रकार वैशेषिक दर्शन में कहा गया है कि धर्म वही है जिसके अनुष्ठान से सांसारिक अभीष्ट सुख और पारमार्थिक मोक्ष—सुख की प्राप्ति होती है। इसके विपरीत सब अधर्म हैं परन्तु सांसारिक सुख वास्तव में वही है जिससे शान्ति प्राप्त हो। यह वेदों की व्याख्या ही है।[14]

इस प्रकार वेदोक्त धर्म का व्यापक सामाजिक आधार है। उसका उद्देश्य प्राणिमात्र का कल्याण है। सत्य, अहिंसा, विद्या, स्वाध्याय, तप, संयम, दान आदि सभी तत्त्व उस एक चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सहायक हैं। साररूप में सर्वभून-हितकारी सत्य ही धर्म है।

---

1. वेदोऽखिलो धर्ममूलम्। मनु० 2, 6, वेदो धर्ममूलम् (गौतम धर्मसूत्र 1, 1, 2) श्रुतिप्रमाणको धर्मः। (कुल्लूक द्वारा मनु० 2, 1 में उद्धृत)
2. यतो ऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।
3. समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
   समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
   ऋ० 10, 191, 3
4. दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत्सत्यानृते प्रजापतिः। अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धां सत्ये प्रजापतिः॥ वा० सं० 19।77
5. दृते दृंह मा मित्रस्य मा चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्। मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे। मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे॥
   वा० सं० 36.18
6. अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्। इदमहमनृतात् सत्यमुपैमि॥ वा० सं० 1.5
7. व्रतेन दीक्षामाप्नोति दीक्षयाप्नोति दक्षिणाम्।
   दक्षिणाय श्रद्धामाप्नोति श्रद्धया सत्यमाप्यते॥
   वा० सं० 19.30
8. श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तऋते श्रिता।
   सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परीवृता॥
   अथर्व० 12 5.1-2
9. स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुप्ता यज्ञे प्रतिष्ठिता लोको विधनम्।
   ओजश्च तेजश्च सहश्च बलं च वाक् चेन्द्रियं च श्रीश्च धर्मश्च॥ अथर्व० 12.5.3,7
10. देखें टिप्पणी (पिछली)
11. ब्रह्म च क्षत्रं च राष्ट्रं च विशश्च त्विषिश्च यशश्च वर्चश्च द्रविणं च। आयुश्च रूपं च नाम च कीर्तिश्च प्राणश्चापानश्च चक्षुश्च श्रोत्रं च। पयश्च रसश्चान्नं चान्नाद्यं च ऋतं च सत्यं चेष्टं च पूर्वं च प्रजा च पशवश्च॥ अथर्व० 12.5.8-10
12. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्। अन्तःशरीरे ज्योतिर्मतो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥ सत्यमेव जयति नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः। येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम्॥मुण्डक० 3.1.5-6
13. चोदनालक्षणो ऽर्थो धर्मः (पूर्वमीमांसा 1.1.2)। इस पर दयानन्दभाष्य वेदद्वारा या सत्यधर्माचरणस्य प्रेरणास्ति तयैव सत्यधर्मो लक्ष्यते।
14. यतोऽभ्यदयनिःश्रेयससिद्धिः सधर्मः। (वैशेषिक० 1.1.2) इस पर दयानन्दभाष्य—यस्याचरणादभ्युदयः सांसारिकमिष्टसुखं सम्यक् प्राप्तं भवति येन च निः-श्रेयस-पारमार्थिक मोक्षसुखं च स एव धर्मो विज्ञेयोऽतो विपरीतो ह्यधर्मश्च॥

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तम्। अथर्व 14.1.50
हे पत्नि! अपने सौभाग्य के लिये मैं तेरा हाथ पकड़ता हूं।

आधुनिक भौतिकवादी समाज में वेदों तथा उपनिषदों की प्रासंगिकता

—प्रो० भवानी लाल भारतीय
जी-3, पंजाब विश्वविद्यालय

प्रायः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि आज के भौतिकता-प्रधान समाज तथा अध्यात्म-विहीन दृष्टि से युक्त मानवता के लिए भारत के पुरातन शास्त्रों की क्या उपयोगिता, महत्ता अथवा प्रासंगिकता है। वेदों का अध्ययन और विवेचन करने वाले पाश्चात्य एवं पौरस्त्य सभी विद्वानों ने संसार के इन प्राचीनतम ग्रन्थों पर विचार करते समय उन्हें समग्र दृष्टि से देखने की अपेक्षा एकांगी दृष्टिकोण से ही परखने का प्रयास किया है। वेदों के मध्यकालीन भाष्यकारों और व्याख्याकारों की दृष्टि में इन ग्रन्थों की उपयोगिता केवल याज्ञिक कर्मकाण्ड को सिद्ध करने के लिए ही है। उनके विचारानुसार ऋग्वेद में उन देवताओं की स्तुतियां संगृहीत हैं जिनका यज्ञों के अवसर पर आह्वान किया जाता था तथा जिन्हें प्रसन्न करने के लिए यज्ञवेदी में आहुतियां डाली जाती थीं। उनके अनुसार यजुर्वेद तो दर्शेष्टि, पौर्णमासेष्टि, अग्निहोत्र, अश्वमेध, राजसूय, नरमेध आदि विभिन्न यज्ञों को सम्पन्न कराने की विधियों का संकलन मात्र है। उनके मत में सामवेद में ऋग्वेद के ही अधिकांश मन्त्र यज्ञ के अवसर पर गान करने की दृष्टि से संगृहीत किये गये हैं। अथर्ववेद का याज्ञिक विधियों में कोई स्पष्ट प्रयोजन तो नहीं बताया गया, किन्तु इस संहिता में वर्णित विषयों की विविधता को देखते हुए उसकी उपयोगिता को भी स्वीकार किया गया है।

जहां तक पश्चिमी विद्वानों का सम्बन्ध है, उनका वेदाध्ययन भाषा-विज्ञान, तुलनात्मक देवगाथावाद, तुलनात्मक धर्म तथा विकासवाद जैसी कतिपय उन विधाओं का आधार लेकर चलता है जिनका विकास एवं पल्लवन विगत शताब्दी में यूरोप में हुआ था। वेद के इन अध्येताओं की दृष्टि मूलतः ऐतिहासिक थी और उनकी दृष्टि में वेद भारत में निवास करने वाली उस प्राचीन आर्य जाति के जीवन, समाज-व्यवस्था, आध्यात्मिक तथा धार्मिक विचारधारा एवं दार्शनिक चिन्तन का लेखा-जोखा उपस्थित करने वाले ग्रन्थ हैं जो शताब्दियों से ब्राह्मणों की परम्परा द्वारा यथावत् सुरक्षित रखे गये है।

उपनिषदों के सम्बन्ध में भारतीय तथा पाश्चात्य विचारकों के दृष्टिकोण में प्रायः समानता दिखाई पड़ती है। सायण जैसे वेद भाष्यकार का मानना है कि यदि ऋग्वेदादि की रचना मुख्यतया कर्मकाण्ड को ध्यान में रख कर की गई है तो बृहदारण्यकादि उपनिषदों में ज्ञान काण्ड की ही विवेचना हुई है और वे मानव जाति के समक्ष प्रस्तुत उन शाश्वत प्रश्नों की तर्कपूर्ण समीक्षा करते हैं जो कि अनादिकाल से उसके सामने यक्ष–प्रश्न की भांति उपस्थित रहे हैं। इसी प्रकार शॉपनहार जैसे जर्मन विद्वान् की भी यही मान्यता है कि मनुष्य के सम्मुख उपस्थित सभी प्रश्नों तथा शंकाओं का समाधान करने में उपनिष सर्वथाद् समक्ष हैं। वे मनुष्य के वर्तमान जीवन को शान्ति देते ही हैं उसके मरणोत्तर जीवन को भी सुखी बनाने की क्षमता उनमें है।

विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत। अथर्व 14.2.74
यह वधूविराट् अर्थात् चमकने वाली है, इसने सबको जीत लिया है।

यह सब कुछ सही हो सकता है, किन्तु आज का भौतिकवादी सभ्यता से ग्रस्त मानव यह समझने में असमर्थ है कि वेदों और उपनिषदों की शिक्षाएं वर्तमान संदर्भ में कितनी सार्थक एवं प्रासंगिक हैं? इसी प्रश्न पर विचार करने के लिए हमें वैदिक और उपनिषद् साहित्य में विवेचित कुछ ऐसे प्रकरणों की मीमांसा करनी होगी जो हमारे वर्तमान भौतिकवादी समाज के समक्ष प्रस्तुत चुनौतियों का सामना करने में हमारी सहायता करते हों। आज भौतिकवादी सभ्यता ने मनुष्य के अस्तित्व को ही संकटापन्न स्थिति में डाल दिया है। विज्ञान की बेतहाशा उन्नति ने मारक अस्त्र-शस्त्रों के निर्माण को पराकाष्ठा पर पहुंचा दिया है। ऐसा प्रतीत होता है कि समस्त विश्व बारूद के विशाल ढेर पर बैठा हुआ है और अग्नि की एक छोटी सी चिनगारी इसे क्षण भर में विनाश के गर्त में फेंक कर ही दम लेगी। वैज्ञानिक उन्नति तथा भौतिकवादी सभ्यता के विकास ने मनुष्य के प्रति वैर-विरोध, अविश्वास तथा घृणा का वातावरण बना दिया है। राष्ट्रों और सत्ता के केन्द्र विभिन्न गुटों के बीच उत्पन्न प्रतिस्पर्धा इतनी बढ़ गई है कि पता नहीं यह कब संसार को पुनः विश्वयुद्ध की ज्वालाओं में झोंक जाय। आज सबसे बड़ी आवश्यकता मनुष्य-मनुष्य के बीच सौमनस्य, मैत्री तथा विश्वास के भाव को पुनः जागृत करने की है। वेद इसी भावना के प्रचार के समर्थक हैं। अथर्ववेद के निम्न मन्त्र में यह आशा प्रकट की गई है कि हम मित्रों और अमित्रों से निर्भय रहें। ज्ञात एवं अज्ञात लोग भी हमें भय रहित करें। रात और दिन के प्रत्येक क्षण में हम निर्भीक होकर विचरण करें तथा सभी दिशाएं हमारे लिए मित्रवत् हों—

> अभयं मित्रादभयममित्रादभयं
> ज्ञातादभयं पुरोयः
> अभयं नक्तमभयं दिवा नः
> सर्वा आशा मम मित्रं भवन्तु।

वस्तुतः यह विश्वमैत्री का भाव ही आज की कठिनाइयों से उबरने की रामबाण औषधि है। इसी भाव को पल्लवित करते हुए यजुर्वेद के निम्न मन्त्र में प्राणि मात्र के प्रति मैत्री भाव रखने का संकल्प प्रकट किया गया है-

> "मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षन्ताम्।
> मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे"

"मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे" के आदर्श को स्थापित करने की आवश्यकता आज इसलिए और भी अधिक है कि भौतिकवादी समाज व्यवस्था ने मानव-मानव के बीच संदेह और अविश्वास के बीज बोकर सम्पूर्ण वातावरण को ही विषाक्त नहीं बनाया है, अपितु मानवी सभ्यता के विनाश का भी खतरा उत्पन्न कर दिया है।

वस्तुतः संसार की रचना, पालन तथा उसके संहार के पीछे यदि हम किसी आध्यात्मिक शक्ति की सम्भावना को स्वीकार करें तो भौतिकता को विभीषिका से पिण्ड छुड़ाना हमारे लिये सहज हो सकता है। इसी उद्देश्य को लक्ष्य में रख कर यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय के प्रथम मन्त्र में कहा गया है कि यह सम्पूर्ण विश्व ईश्वर से ही आच्छादित है, ईश्वर के द्वारा आवास करने योग्य है तथा उसके द्वारा रक्षणीय है। विश्व-प्रपंच की इस गूढ पहेली को सुलझाने के लिये इसी प्रकार के आध्यात्मिक समाधान की आवश्यकता आज सर्वत्र अनुभव की जा रही है।

व्यक्ति की ही भांति आज परिवार के विघटन तथा पारिवारिक व्यवस्था के छिन्न-भिन्न होने की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं। भौतिकवादी विचारधारा ने मनुष्य को अधिकाधिक स्वार्थ-प्रवण, आत्मकेन्द्रित तथा पर-पीड़ा के अनुभव या संवेदना से विरहित कर दिया है। माता, पिता तथा परिवार के अन्य पूज्य पुरुषों के प्रति आदर और सम्मान का भाव नगण्य हो गया है। माता, पिता भी सन्तान के प्रति अपने-दायित्व बोध को विस्मृत कर रहे हैं तथा भौतिक आवश्यकताओं की तीव्र ललक ने साधनों की पवित्रता के आदर्श को सर्वथा ओझल कर दिया है। पुरानी और नयी पीढ़ी के बीच के अन्तराल (Generation gap) की बात कर हम प्रायः अनुशासनहीनता, स्वेच्छाचारिता

अदीनाः स्याम शरदः शतम् (ऋ० 7।66।16)
हम सौ वर्ष तक अदीन बने रहें।

तथा उच्छृंखलता को ही बढ़ावा देते हैं। परिवार के विघटन का जो भयावह रूप आज पश्चिमी समाज में हमें दिखाई देता है उसे देख कर तो यह लगता है कि कहीं यह विध्वंसात्मक प्रक्रिया भारतीय समाज में भी प्रविष्ट न हो जाये। इस संदर्भ में हमें देखना होगा कि वैदिक ग्रन्थ आदर्श परिवार के निर्माण तथा उनके सदस्यों के पारस्परिक व्यवहार की कौन सी रूपरेखा प्रस्तुत करते हैं। अथर्ववेद के तृतीय काण्ड का तीसवां सूक्त इस प्रसंग में हमारा समुचित मार्ग-दर्शन करता हैं। यहां इस बात को सर्वोपरि महत्व दिया गया है कि मनुष्यों में परस्पर प्रेम तथा सौमनस्य भाव रहना चाहिए। एक दूसरे के प्रति हमारा ममत्व और स्नेह उसी कोटि का हो जैसे एक गाय अपने शिशु वत्स के प्रति प्रकट करती है। पुनः पुत्र को माता-पिता का आज्ञानुवर्ती होने तथा पत्नी को मधुजिह्वा युक्त तथा शान्ति-युक्त वचन बोलने के लिये कहा गया है। भाइयों में परस्पर द्वेप एवं विरोध न हो तथा बहिनों के बीच में भी ईर्ष्या का भाव न रहे। परिवार के सभी प्राणी एक ही व्रत का आचारण करने वाले हों, भद्र एवं कल्याणी वाणी का प्रयोग करें।

भौतिकवादी सभ्यता के विनाशकारी प्रभावों को दूर करने के लिये आज के समाजशास्त्रियों ने विभिन्न विकल्पों तथा समाधानों को प्रस्तुत किया है। प्रायः यह स्वीकार कर लिया गया है कि पूंजीवादी दृष्टिकोण ही हमारी कठिनाइयों का मूल है और समाजवाद द्वारा इस विपत्ति पर विजय प्राप्त की जा सकती है। पूंजीवाद के विनाशकारी प्रभाव को दूर करने तथा धन के एकाधिकार को समाप्त करने के लिए संसार में समाजवादी चिन्तन को बल मिला तथा साम्यवादी विचारधारा को अनेक देशों में अपना लिया गया। वस्तुतः समाजवादी चिन्ताधारा को सर्वप्रथम प्रस्फुटित तथा व्याख्यात करने का श्रेय वेदों को ही है। अथर्ववेद के उपर्युक्त सूक्त में मनुष्यों में भोजन एवं जल के स्रोतों को भी समान रूप से प्रयुक्त किये जाने की बात कही गई है। वहाँ यह सुदृढ़ विश्वास व्यक्त किया गया है कि मनुष्य मात्र को समान रूप से कर्तव्य-भार-वहन करने के लिये विधाता ने एक ही प्रकार के जूए (बन्धन) में जोड़ा है। इस प्रकार जब मनुष्य को स्वकर्तव्य-पालन के प्रति जागरूक बनाया जायगा तो उसमें मात्र अधिकारों के लिए झगड़ा करने की प्रवृत्ति स्वतः ही समाप्त हो जायगी और मनुष्य की सभ्यता के समक्ष उपस्थित विनाश का संकट भी खत्म हो जायगा।

भौतिक सभ्यता का एक अन्य विनाशकारी प्रभाव जो हमें दिखाई पड़ता है वह है मनुष्य में नितान्त वैयक्तिकता के भावों का दृढ़ीकरण। आज हम समाज के प्रति अपने दायित्व-बोध को सर्वथा नकार कर स्वहित को ही सर्वोपरि मनाने की ग़लती कर रहे हैं। ऐसी स्थिति में यदि हम ऋग्वेद के दशम मण्डल के अन्तिम 'संज्ञान' सूक्त का विचार करें तो हमें समष्टि-चेतना को विकसित करने की बहुमूल्य प्रेरणा मिल सकती है। "संगच्छ्वं संवदध्वं" आदि मन्त्र समुदाय हमें साथ चलने, साथ बोलने (अपनी वाणी और अभिव्यक्ति मे एकतानता रखने) तथा अपने मनों को एक-सा बनाने की प्रेरणा देते हैं। वस्तुतः वेद मनुष्य के समक्ष देवताओं के आदर्शो को अपनाने की बारबार प्रेरणा करता है। अन्यत्र कहा गया है— "देवानां भद्रा सुमतिर्यजूयता" हम देवताओं की कल्याणी मति को प्राप्त करें, तो यहाँ भी इस प्रसंग में दैवी आदर्शो को ही अपनाने की संस्तुति की गई है। देवताओं के भाग अथवा प्राप्य को पाने के अधिकारी हम तभी हो सकते हैं, जब हममें समष्टि-हित की उपर्युक्त भावना विकसित हो सके।

भौतिक सभ्यता ने मनुष्य-समाज के बीच फूट, विनाश, विघटन तथा शत्रुता के भाव उत्पन्न किये हैं। आज हमारा पारस्परिक विश्वास का भाव समाप्त हो चुका है तथा मानव जाति के भविष्य के प्रति हमारी आस्था भी खत्म हो चुकी है। हम मानवीय सभ्यता की एकात्मता को भुलाकर अलग-अलग बोलियों में बोलने लगे हैं। सभाओं, समितियों और संगठनों का सर्वत्र प्रसरित जाल मनुष्यों को दिग्-भ्रमित, किंकर्तव्यविमूढ़ बना रहा है। ऐसी स्थिति में ऋग्वेद का यह सूक्त हमारे विचारों की एकता, हमारे

विश्वमायुर्व्यश्नवै (यजु० 19।37)
मैं संपूर्ण जीवन को भोगूं।

संगठन की एकता, हमारे चित्त एवं मन की एकता की बात करता है। इसी प्रकार मनुष्य की संकल्प-शक्ति तथा उसके मनोभावों की एकता भी यहाँ अभीष्ट बताई गई है।

भौतिकवादी सभ्यता ने हमें हमारे समाज में व्याप्त अनेक विषमताओं, बुराइयों तथा अज्ञान, अन्याय तथा अभाव से संघर्ष करने में नितान्त दुर्बल तथा अक्षम बना दिया है। भौतिकवादी सभ्यता का ही यह प्रकट अभिशाप है कि आज हमारे समाज का एक वर्ग शिक्षा और संस्कृति के सर्वोच्च सोपान पर अधिरूढ़ होकर सफलता की चरम सीमा को छू रहा है, वहां साधनहीन तथा विपन्न वर्ग के लोग अशिक्षा के गर्त में गिरकर, अज्ञानी रह कर, मध्य-काल की सी स्थितियों में जीवन-यापन कर रहे हैं। भौतिक साधनों के विकास तथा सामरिक हथियारों की वृद्धि ने शक्तिशाली राष्ट्रों को दुर्बल तथा विकासशील देशों पर हावी होने, उन पर नानाविध अत्याचार करने के लिये प्रोत्साहित किया है। आर्थिक साधनों का दोहन करने की क्षमता भी समाज के कुछ गिने-चुने लोगों को ही उपलब्ध है। परिणामतः, समाज में धनी एवं साधन-सम्पन्न लोगों तथा विपन्न, दरिद्र एवं शोषित लोगों के बीच की खाई बढ़ रही है। विकसित वाणिज्य-व्यवसाय तथा अन्तर्राष्ट्रीय बाजारों के एकाधिकार ने जहां योरोपीय तथा अमेरिकी समाज में विलासिता, निर्बाध कामोपभोग तथा परले दर्जे की इन्द्रिय-परायणता को बढ़ावा दिया है वहां पिछड़े और निर्धन राष्ट्रों के लाखों नागरिक अपने राजनैतिक एवं आर्थिक अधिकारों से वंचित होकर शोषण, भुखमरी, महामारी तथा अन्ततः विनाश के शिकार हो रहे हैं। वाणिज्य-व्यवसाय में मशीनों के अत्यधिक उपयोग ने मनुष्य को ही यांत्रिक नहीं बनाया उसकी संवेदना तथा सहानुभूति को भी कुण्ठित कर दिया है। फलतः, अत्याचार एवं शोषण की पीड़ा को भोगने वाली अशेष मानवता सभ्य देशों की दानवाकार वणिक्-वृत्ति से त्रस्त, पीड़ित तथा अभिशप्त हो रही है।

यशः श्रीःश्रयतां मयि (यजु० 39।4)
यश और ऐश्वर्य मुझ में हो।

वेदों में मानव-जाति को विनाश के मुख में ले जाने वाले उपर्युक्त अज्ञान, अन्याय तथा अभाव का सामना करने के लिए एक ऐसी व्यवस्था को जन्म दिया था जिसे आज के संदर्भ में भी सर्वथा प्रासंगिक कहा जा सकता है। अज्ञान के निवारण के लिए ब्राह्मण, अन्याय के प्रतिकार के लिए क्षत्रिय तथा अभावों को दूर करने के लिए वैश्य वर्ग को सन्नद्ध कर वेदों ने समाज में श्रम-विभाजन की आदर्श कल्पना को तो मूर्तिमान् किया ही, उसने यह भी माना कि मनुष्य-समाज में सबकी प्रवृत्तियां, शक्तियां, रुचियां तथा क्षमताएं असमान होती हैं, अतः अच्छा यही है कि स्वरुचि, स्वशक्ति तथा स्वप्रवृत्ति के अनुसार ही मनुष्य को अपने व्यवसाय एवं कार्य को चुनने की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाये। यह दूसरी बात है कि कालान्तर में यह वर्ण-विधान जन्मना आधार पर रूढ़ हो गया जिसके फलस्वरूप समाज को विविध कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है।

उपर्युक्त पंक्तियों में हमने वेद के कतिपय उन स्थलों को उपस्थित किया है जो वर्तमान भौतिकता-प्रधान समाज के सम्मुख प्रस्तुत कुछ ज्वलन्त समस्याओं का समाधान कर सकते हैं। आध्यात्मिक प्रश्नों का संतोषजनक उत्तर देने के साथ-साथ मनुष्य-जाति की लौकिक समस्याओं को विश्वसनीय ढंग से हल करने के उपायों को सुझाने के कारण वेदों को अपरा विद्या का ग्रन्थ कहा गया है। इसके विपरीत ईशादि उपनिषद् शुद्ध पराविद्या (आध्यात्मिक ज्ञान) के भण्डार माने जाते हैं। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि उपनिषदों में हमारे साँसारिक पक्ष की अवहेलना की गई है। हम ईशोपनिषद् के प्रथम मन्त्र को ही लें। इसमें जहां ईश्वर के सर्वव्यापक होने तथा सम्पूर्ण ब्रह्माण्डों का आश्रय होने की बात कही गई है वहां यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि ईश्वर-रचित इस सृष्टि में मनुष्य को सर्वथा प्रलोभनहीन होकर ही रहना चाहिए। ईश्वर-प्रदत्त वस्तुओं का हम भोग अवश्य करें किन्तु उनमें लिप्त न हों। 'तेन त्यक्तेन भुंजीथा' इस उपनिषद्-वाक्य की ही कालान्तर में गीता में विस्तृत व्याख्या की गई और "कर्मण्येवाधिकारस्ते

मा फलेषु कदाचन" की बात कही गई। उपनिषद् मन्त्र के अन्त में 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' कह कर यह स्पष्ट कर दिया गया कि लालची मनुष्य के लिऐ इस संसार में सुख की प्राप्ति असम्भव है। वास्तव में भौतिक ऐश्वर्य एवं धन, सम्पत्ति पर एकाधिकार स्थापित करने की कामना ही हमारे विनाश का मूल कारण बन सकती है।

अन्यत्र कठोपनिषद् में भी इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल वित्त (धन) से ही मनुष्य की तृप्ति नहीं हो सकती—"न वित्तेन तर्पणीयो मनुष्यः"। आज की भौतिकवादी सभ्यता धनोपार्जन तथा उसके निर्बाध उपभोग को ही जीवन की चरम सार्थकता मान बैठी है। किन्तु उपनिषद् का स्पष्ट कथन है कि केवल धन और ऐश्वर्य ही मनुष्य को सम्पूर्णतया संतुष्ट नहीं कर सकते। कामोपभोग से कामनाएं शान्त नहीं होतीं अपितु अग्नि में ज्वलनशील सामग्री के डाले जाने पर जिस प्रकार वह अधिक तीव्र होती है, उसी प्रकार उपभोग से हमारी कामनाएं अभिवृद्ध ही होंगी, शान्त नहीं।

संसार को मनुष्य के लिए कर्मक्षेत्र कहा गया है। यहां हमें निरन्तर कर्म करते रहना चाहिए। ईशोपनिषद् का यह मन्त्र मनुष्य को शतायु-पर्यन्त कर्मनिष्ठ जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देता है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजिविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति पण्थाः न कर्म लिप्यते नरे।।

प्रायः देखने में आता है कि भौतिकवाद के प्रसार ने संसार में कुछ ऐसे व्यक्तियों को भी जन्म दिया है जो अकर्मण्य होकर विलासमय जीवन व्यतीत करने के स्वप्न देखते हैं। ऐसे लोग पुरुषार्थ की अपेक्षा भाग्य को ही वरीयता प्रदान करते हैं और आलस्य एवं प्रमाद का जीवन ही जीना चाहते हैं। उपनिषद् की शिक्षा भाग्यवाद तथा अकर्मण्यता का घोर विरोध करती है और मनुष्य को कर्मठ जीवन व्यतीत करने के लिए कहती है। 'ऋतुमयो अयं पुरुषः' की सूक्ति के अनुसार मनुष्य का कर्मशील होना ही उसका सबसे बड़ा गुण है।

इसी प्रकार उपनिषद् आत्महत्या को घोर पाप मानते हैं। आज की भौतिकता-प्रधान संस्कृति में रहने वाला मनुष्य जब अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में स्वयं को असमर्थ पाता है तो वह तुरन्त आत्महत्या का रास्ता चुनता है। उपनिषद् के विचारानुसार आत्महनन करने वाले व्यक्ति तो उन असुरलोकों की ओर जाते हैं जो अज्ञान-तमसाच्छन्न हैं। उपनिषदों का आशावाद आत्म-हत्या, आत्म-पीड़न और आत्म-ग्लानि के सर्वथा विरुद्ध है।

कर्म और ज्ञान के समन्वय का उपदेश देकर उपनिषद् ने हमारी सभ्यता के सम्मुख प्रस्तुत एक और चुनौती का उत्तर दिया है। भारतीय सभ्यता को यदि अपने वैचारिक मानदण्डों तथा उच्चस्तरीय दार्शनिक चिन्तन पर गर्व है तो पश्चिम के लोग अपनी गतिशीलता तथा कर्ममय जीवनी-शक्ति पर गर्व का अनुभव करते हैं। हमारे देश ने विश्व को प्रबुद्ध चिन्तक, विचारक तथा दार्शनिक प्रदान किये हैं, जबकि पश्चिम ने ज्ञान-विज्ञान, कला-कौशल, शिल्प और वाणिज्य के क्षेत्र में उच्च कोटि की उपलब्धियां प्राप्त करने वाले पुरुषों को जन्म दिया है। आज की सामाजिक व्यवस्था में ज्ञान और कर्म, दो सुदूरवर्ती छोरों पर खड़े दिखाई देते हैं। भौतिकवाद ने लोगों को इतना अधिक ग्रस्त कर लिया है कि वे जीवन की कार्मिक व्यस्तताओं से क्षण भर के लिए भी अवकाश प्राप्त नहीं कर पाते और रात-दिन अर्थ-प्राप्ति की हाय-हाय में लगे रहते हैं। विशेषतः महानगरीय जीवन तो आज की सभ्यता का नितान्त विकृत एवं अभिशप्त रूप पेश करता है, जहां लोग मुंह अंधेरे उठकर जीविकोपार्जन में लग जाते हैं और रात्रि को उस समय घर लौटते हैं जब कि संसार सोने की तैयारी करता है। ऐसे व्यस्त एवं व्याकुल जीवन में मनुष्य मनन, चिन्तन तथा निदिध्यासन के लिए समय कैसे निकाल सकता है? इसी विडम्बनात्मक स्थिति का समाधान करने के लिए हमारे पुरातन ऋषियों ने उपनिषद्-साहित्य में ज्ञान और कर्म के समन्वय पर जोर देते हुए स्पष्ट किया है कि 'अविद्यया मृत्यं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते, अर्थात् कर्मशील जीवन को धारण कर यदि हम मृत्यु मुख से छूटते हैं तो विद्या (ज्ञान) के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करते हैं।

उपनिषदों का आधुनिक भौतिकवादी समाज के लिए यदि कोई महत्वपूर्ण संदेश है तो यह निम्न मन्त्र के द्वारा ही प्रस्तुत किया जा सकता है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम्।
तत्त्वं पूषन् अपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये।।

वयं तेषां श्रेष्ठाः भूयास्म (अथ० 18।4।88)
हम उन सब (मनुष्यों) में श्रेष्ठ हो जावें।

स्मृति और समाज

स्वामी विद्यानन्द सरस्वती
डी 14/16, माडल टाउन, दिल्ली

संसार नित्य प्रयत्नशील है। हम जान सकें या न जान सकें, मानव-समाज में परिवर्तन होता रहता है और उसके साथ-साथ उस परिवर्तन को अपने अनुकूल बनाने की क्षमता रखने वाली मानवी बुद्धि का भी विकास होता रहता है। समाज की एक अवस्था में जो तत्त्व उपयोगी हैं वही दूसरी अवस्था में उसके लिए घातक सिद्ध हो सकते हैं। प्रचलित समाज-व्यवस्था में से ऐसे अनुपयोगी तत्त्वों को निकाल कर नवीन आदर्शों की प्रतिष्ठा करना मानवी बुद्धि का कर्तव्य है। ऐसी असाधारण प्रतिभा से युक्त महापुरुष ही ऋषि कहलाते हैं। स्मृतियों के रूप में वे ऐसे ही आदर्शों की स्थापना करते हैं।

अपने को परिस्थितियों के अनुकूल बनाते रहना भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता है। अपने इसी गुण के कारण भारतीय समाज अत्यन्त विषम परिस्थितियों में भी अपने को जीवित बनाए रखने में समर्थ हो सका है। हमारे समाज और आचार-विचार में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है। अपने मौलिक आदर्शों को स्थिर रखते हुए भी वैदिक युग से वर्तमान युग तक पहुंचते काफी बदल गए हैं। परन्तु जैसा कविकुलगुरु कालीदास ने लिखा है—'श्रुतेरिवार्थं स्मृतिरन्वगच्छत' (स्मृतियां वेद के पीछे-पीछे चलती हैं) अथवा वेदमूलास्स्मृतयः—वेद में प्रतिपादित मूलभूत सिद्धांतों का विशदीकरण ही स्मृतिग्रंथों का मुख्य प्रयोजन है। वेदमूलक होने से स्मृतिग्रंथों की मर्यादा एक ही है—देशकाल-भेद से जो तारतम्य होता है उसी का स्पष्टीकरण विभिन्न स्मृतियों में मिलता है। यदि वेद शाश्वत धर्म का प्रतिपादन करते हैं तो स्मृतियां युगधर्म का निर्देश करती हैं। युग-विशेष में समाज के आचार और व्यवहार के नियमों का सीधा प्रतिपादन करने वाले यही ग्रंथ हैं।

भारतवर्ष में अधिकांश लोग अपने को स्मार्तधर्मी मानते हैं। इसलिए देशकाल-भेद से सामाजिक जीवन व्यवहार और नीतिविषयक कर्तव्याकर्तव्य को जानने के लिए स्मृतिग्रंथों की जानकारी होना अत्यन्तावश्यक है। स्मृतिग्रंथों की संख्या अनिश्चित है। कोई-कोई तो महाभारत आदि को भी स्मृतियों में गिनते हैं। परन्तु अधिकतर विद्वान 50 के लगभग स्मृतियां मानते हैं। इनमें मनु से वशिष्ठ तक की 20 स्मृतियां मुख्य हैं। मनु, अत्रि, विष्णु, हारित, याज्ञवल्क्य, शुक्राचार्य, अंगिरस, यम, आपस्तम्ब, सम्वर्त, कात्यायन, बृहस्पति, पराशर, व्यास, शंख, लिखित, दक्ष, गौतम, शातातप, और वशिष्ठ ने इनकी रचना की है। प्रत्येक स्मृति का आधार वर्णाश्रम-धर्म, राजधर्म, और व्यवहार-क्रम है। आवश्यकतानुसार अनेक स्मृतियां बनीं। किसी स्मृति में एक बात को और किसी अन्य में दूसरी को प्रधान मान कर विस्तार से वर्णन किया गया है। ज्यों-ज्यों समय बदलता जाता है त्यों-त्यों समाज का व्यवहारिक धर्म भी बदलता जाता है। स्वयं भगवान मनु का वचन है—

अन्ये कृतयुगे धर्मास्त्रेतायां द्वापरे ऽपरे।
अन्ये कलियुगे नृणां युगह्रासानुरूपतः ॥

युगमान के अनुसार युगधर्म भी बदलता है। स्मृतियों के अनुसार सतयुग में समाज में तप की, त्रेता में ज्ञान की, द्वापर में यज्ञ की और कलयुग में दान की प्रधानता रहती है।

वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः (यजु० 2।43)
हम अपने देश में सावधान होकर पुरोहित (अगुआ) बनें।

स्मृतियों में मनुस्मृति का प्रचार और प्रभाव सबसे अधिक है। यहां तक कि सर्वसाधारण तो स्मृति शब्द से ही मनुस्मृति को ही ग्रहण करते हैं।

यत्किंचिद्वै मनुरवदत्तम्द्भेषजं भेषजतायाः—मनु के कथन को मानव-समाज के समस्त रोगों की सर्वोत्तम औषध माना गया है। यह ठीक ही है कि मनुस्मृति और याज्ञवल्क्यस्मृति अनिश्चित काल से भारतीय समाज के जीवन को अनेक पहलुओं में नियंत्रित करती जा रही है। मनुस्मृति में मनुष्य के वैयक्तिक तथा सामाजिक जीवन के जन्म से लेकर मृत्यु-पर्यन्त सभी कर्तव्या-कर्तव्यों का विवेचन किया गया है। मनु ने राजधर्म और व्यवहार को जो वास्तव में अर्थशास्त्र का अंग था अपने धर्मशास्त्र में एक-साथ रख कर दोनों को समान-रूप से धर्म के अधीन कर दिया। मनु की यह विशेषता थी और बाद में उनकी नकल दूसरे लेखकों ने भी की। याज्ञवल्क्य, विष्णु और वशिष्ट स्मृतियों में भी धर्म और व्यवहार का एक-साथ प्रतिपादन किया गया।

विष्णुस्मृति में मानव-संस्कृति के विकास का बड़े-बड़े आकर्षक रूप में वर्णन है। अत्रिस्मृति में शुद्धता को विशेष स्थान दिया गया है। याज्ञवल्क्य ने दाय-विभाग का निर्णय विशेष रूप से किया है। उत्तराधिकार आदि के विषय में आज भी वही सर्वाधिक मान्य है। गौतम ने विशेष रूप से स्त्रीधर्म का निरूपण किया। शंख ने संस्कारों की आवश्यकता तथा पंच महायज्ञादि से युक्त गृहस्थ-जीवन का विस्तार किया तथा वानप्रस्थ एवं संन्यास की विधि बतायी। लिखित ने धर्मशाला, कुंए, बावड़ी आदि के बनाए जाने पर विशेष बल दिया। कात्यायन ने राजधर्म, आश्रमधर्म, दानधर्म और मर्यादा-पालन पर विस्तार से लिखा। बृहस्पति ने सामप्रधान राजनीति पर बल दिया तो शुक्र ने दण्डदापन को राजा का धर्म बतलाया। नारदस्मृति में अनुचित कर्मों से जन्मान्तर में भी दुःखयोनियों में पड़कर क्लेश-वहन का भय दिखलाया गया ताकि मनुष्य पापकर्मों से सदा दूर रहे। पराशर ने कृषिकर्म पर बल दिया। इस प्रकार वस्तुस्थिति एक होने पर भी किसी स्मृतिकार ने संस्कारों की प्रधानता, किसी ने राजधर्म, किसी ने व्यवहार-विज्ञान और किसी ने कर्मविपाक आदि का प्रधानतया वर्णन किया है। इन स्मृतिकारों के अभिप्राय को समझने के लिए अवस्था, देश और काल को दृष्टि में रख कर ही अर्थसंगति बैठानी चाहिए, अन्यथा उनमें परस्पर-विरोध की प्रतीति होने की सम्भावना होगी।

मनु और याज्ञवल्क्य के महत्त्व को कम न करते हुए भी 'कलौ पाराशरी स्मृता' (कलयुग में पराशर स्मृति का विशेष स्थान माना गया है।) पराशर ने इस युग के आरम्भ में ही अधिक अन्न उपजाओ अथवा Grow more food आन्दोलन का सूत्रपात कर दिया था। कृषि-कर्म को इस युग का मुख्य धर्म बतलाते हुए उन्होंने लिखा—

> कृषेरन्यतमो धर्मो न लभेत्कृषितोऽन्यथा।
> न सुखं कृषितोऽन्यत्र यदि धर्मेण कर्षति॥

खेती के समान कोई नहीं, खेती के बिना कहीं सुख नहीं। यदि धर्मपूर्वक खेती की जाए तो खेती से बढ़ कर कोई यज्ञ नहीं। धर्मपूर्वक खेती करने का अर्थ है—कीट, पतंग आदि से लेकर मनुष्यों तक सबके लिए अन्न का भाग निकालकर बचे हुए अन्न को अपने काम में लेना। आज भी भारत का किसान किसी न किसी रूप में इस मर्यादा का पालन करता है। जिस प्रकार संकट-काल में सेना में भर्ती होकर क्षात्रधर्म में प्रवृत्त होना सभी के लिए आवश्यक हो जाता है उसी प्रकार आवश्यकता पड़ने पर अन्न के उत्पादन में सहायक होना सभी का कर्तव्य हो जाता है। इसलिए जहां मनु ने कृषि को वैश्य का ही कर्त्तव्य कहा था वहां पराशर ने द्विजमात्र को कृषिकर्म में प्रवृत्त होने का आदेश दिया। इस विषय में अत्रि और हारीत ने भी पारशर का साथ दिया। हारीत ने खुले शब्दों में घोषणा की—

> कृषिस्तु सर्ववर्णानां सामान्यो धर्म उच्यते।

जब खेती को इतना स्थान मिला तो गौ का स्थान बैल ने ले लिया—"वृषात् पूज्यतमोऽस्ति नान्यः।" बैल सबसे बड़ा देवता बन बैठा और एक बैल का दान दस गौओं के दान के बराबर माना जाने लगा।

उद्यानं ते पुरुष नावयानम्। (अथ० 8।1।6)
पुरुष तुझे आगे बढ़ना है न कि पीछे हटना।

समाज में स्थित व्यक्तियों के पारस्परिक व्यवहार का आधारभूत सिद्धान्त सर्वशास्त्रानुमोदित सर्वात्मभाव है। 'आत्मवत् सर्वभूतेषु एकत्वमनुपश्यतः', 'सर्वभूतेषु-चात्मानम्' आदि सभी उक्तियों में एक ही ध्वनि है। महर्षि व्यास ने—

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्

को धर्म का सर्वस्व बताया तो याज्ञवल्क्य ने भी बहुत कुछ मिलते-जुलते शब्दों में यही कहा—

यदात्मनो ऽपथ्यं परेषां न तदाचरेत्

जो बात तुम्हें अपने लिए दुःखदायी जान पड़ती है उसे दूसरों के साथ मत करो। भगवान् मनु ने भी 'स्वस्य च प्रियमात्मनः' तथा 'सर्वमात्मनि पश्येत्' कह कर इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया। वास्तव में सामाजिक व्यवहार के लिए इससे बढ़ कर दूसरा कोई नियम है ही नहीं।

सर्वात्मभाव की दार्शनिक पृष्ठभूमि पर ही भोग और त्याग का समन्वय करके स्मृतिकारों ने भारतीय समाज की रचना वर्णाश्रम के ताने बाने से की। यही वर्णाश्रम—व्यवस्था उसके सामाजिक, आर्थिक तथा राजनीतिक विकास का आधार बनी। इस व्यवस्था की यह खूबी है कि इसमें रहते हुए न समाज व्यक्ति को भूल सकता है और न व्यक्ति समाज को। अन्योन्याश्रित होने से दोनों एक दूसरे को साथ लेकर चलते हैं। ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास—ये सभी आश्रम पृथक्-पृथक् रहते हुए भी एक दूसरे से बन्धे हुए हैं।

ब्रह्मचर्य में मनुष्य को परिपक्व तथा सुसंगठित जीवन बिताना पड़ता है। इस अवस्था में प्रत्येक व्यक्ति को गुरुकुल में एक सम्मिलित परिवार की तरह रहना होता है, अमीर हो या गरीब—कृष्ण हो या सुदामा—सब का खान-पान रहन-सहन एक जैसा होता है। न कोई वहां छोटा है न बड़ा। समूची शिक्षा निःशुल्क होने से सभी को योग्यता प्राप्त करने का अवसर समान रूप से प्राप्त है। सब को आवश्यकतानुसार सभी चीजें मिलती हैं। स्वत्वाधिकार किसी वस्तु पर किसी का नहीं, उपभोग का अधिकार सब का समान है। न किसी को किसी वस्तु के संग्रह की इच्छा होती है और न कभी किसी वस्तु का अभाव ही खटकता है। वानप्रस्थी, संन्यासी और त्यागी ब्राह्मण शिक्षा देते हैं और गृहस्थ भोजन। विद्यार्थी अपनी पढ़ाई का काम करता है, राष्ट्र उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति की चिंता करता है। जब 25 वर्ष तक सम्मिलित सुसंगठित जीवन बिताने के बाद कोई व्यक्ति समाज में प्रवेश करे तो भला उसके जीवन में व्यक्तिवाद, अहंवाद, शोषण आदि की कुत्सित मनोवृत्ति की गुंजाइश कहां रह सकती है?

ब्रह्मचर्य की समाप्ति पर प्रत्येक स्त्री-पुरुष को इच्छानुसार अपना जीवन साथी चुन कर गृहस्थ में प्रवेश करने की स्वतन्त्रता है। गृहस्थी का मुख्य कर्तव्य समस्त समाज का समान रूप से पालन-पोषण करना और सभी आवश्यक वस्तुओं को उत्पन्न करके आवश्यकतानुसार सबको समान भाव से वितरण करना है। इस आश्रम की सफलता पर ही अन्य सब आश्रमों की सफलता निर्भर है: इसलिए स्मृतिकारों ने इस आश्रम पर कठोर नियन्त्रण रखा है। किसी भी स्मृति के सबसे अधिक पृष्ठ इसी एक विषय के विस्तार से भरे हैं। मनु ने कई अध्यायों में इसका वर्णन कर प्रत्येक गृहस्थी के लिए विविध कर्तव्यों का पालन करना अनिवार्य कर दिया और न करने वाले के लिए कठोर दण्ड की व्यवस्था की। मनुष्य की दुर्बल वृत्तियां कहीं उसे विचलित न कर दें इसलिए त्यागभाव को मूर्तरूप देने और उसे मनुष्य के दैनिक कार्यक्रम का अंग बना देने के लिए पंच महायज्ञ का विधान किया गया है। परमेश्वर को ही प्राचीन ऋषियों ने यज्ञ के नाम से पुकारा है 'यज्ञो व श्रेष्ठतमं कर्म' उसे सबसे बड़ा कर्तव्य बताया। स्मृति-व्यवस्था में दान का वैसा अर्थ नहीं जैसा आजकल प्रचलित है। दान का अर्थ है—विनिमय या Exchange का पर्यायवाची है। देहि मे ददामि ते—जो जिसके पास है वह दूसरे को दे—इस प्रकार लेन-देन से ही समाज का निर्माण होता है। स्मृतिकारों ने परमार्थ में ही स्वार्थ की सिद्धि निहित की। गृहस्थाश्रम में प्रविष्ट होते ही यज्ञ अनिवार्य हो जाता है। प्रातःकाल होते ही घर-घर में 'इदन्न मम' की ध्वनि गूंजने लगती है। समाज के लिए सर्वस्व देकर भी 'यह मेरा नहीं' की भावना को बनाये रखना कितना ऊंचा आदर्श है। पितृयज्ञ के रूप में समाज के वृद्ध तथा अशक्त

आरोहणमाक्रमणं जीवतो जीवतोऽयनम्। (अथ० 5।30।87)
उन्नत होना और आगे बढ़ना प्रत्येक जीव का धर्म है।

वर्ग का पालन करना और अतिथियज्ञ के द्वारा लोकहितार्थ घूमने वाले समाज सेवियों की सेवा करना गृहस्थी का कर्तव्य है। 'मातः भिक्षां देहि' की पुकार करने वाले ब्रह्मचारी को अपना ही पुत्र मान कर स्नेहपूर्वक भोजन देना भी गृहस्थी न भूले। इतना ही नहीं, बलिवैश्वदेव यज्ञ के द्वारा मनुष्येतर प्राणियों को अन्न देना भी गृहस्थी का धर्म है। इस व्यवस्था में भुखमरी कहां ठहर सकती है? नित्यप्रति इतना करते रहने पर भी मनु ने अपनी आमदनी का दसवां भाग सार्वजनिक संस्थाओं को दान देना अनिवार्य कहा है। कितने व्यापक धर्म का प्रतिपादन किया है स्मृतिकारों ने।

25 वर्ष तक गृहस्थ में ठहर कर अपना व पराया हित साधने के बाद मनुष्य अपनी सारी शक्ति समाजहित में लगाने के लिए सब कुछ त्याग कर वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रवेश करता है। अपनी योग्यतानुसार वह सब कुछ करता है परन्तु अपने लिये कुछ नहीं, सब कुछ समाज के लिये। उसके रोटी कपड़े की चिन्ता गृहस्थी करता है। 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की भावना से प्रेरित हो विश्वमय होकर निष्काम भाव से कर्म करता हुआ वह पृथ्वी पर विचरता है। 'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः'।

विभिन्न श्रमकारों का संगठन स्मृतिकारों ने वर्ण-व्यवस्था के रूप में किया। प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न प्रकार की शक्ति और योग्यताएं होती हैं। इसलिए 'कर्म-क्रिया विभेदेन चातुर्वर्ण्यं प्रतिष्ठितम्।' गुण-कर्म-स्वभाव के अनुसार जो व्यक्ति जिस काम के लिए उपयुक्त हो उस काम में लगना समाज का कर्तव्य है। शिक्षा, विज्ञान और नेतृत्व की योग्यता से समाज-सेवा करने वाले श्रमकारों को ब्राह्मण का नाम दिया गया। रक्षा और शासन की योग्यता रखने वाले समाज की रक्षा में तत्पर श्रमकारों को क्षत्रिय-विभाग में संगठित किया गया है। इसी प्रकार उत्पादन और वितरण की योग्यता रखने वालों को वैश्य तथा शारीरिक श्रम करने वालों को शूद्र-वर्ग में संगठित किया गया। निकम्मों निठल्लों को दस्यु नाम से पुकार कर दण्डनीय ठहराया गया। कार्य का चुनाव प्रत्येक व्यक्ति की इच्छा और योग्यता पर निर्भर है। योग्यता के आधार पर वह जब चाहे तब अपना कार्य बदलने में स्वतंत्र है। समाज का कोई सदस्य पैतृक कार्य करने से लिए बाध्य नहीं और न पैतृक सम्पति, पद या अधिकार का हकदार है। यह सब उसकी निजी योग्यता पर निर्भर है। सभी समाजहित अपने-अपने कर्तव्य का पालन करते हैं। इसलिए समाज की नजरों में कोई बड़ा है, न छोटा। सभी श्रमकार हैं और एक दूसरे पर आश्रित। कौन किसका शोषण करे? इस व्यवस्था में एक ही व्यक्ति के हाथों में ऐश्वर्य, अधिकार, प्रतिष्ठा और भोग केन्द्रीभूत नहीं हो पाता। इस व्यवस्था में विद्यार्थी के रूप में एक व्यक्ति को समाज पर आश्रित होकर ग़रीबी का जीवन बिताना पड़ता है। आगे चलकर गृहस्थाश्रम में धन पैदा करता है परन्तु वह भी केवल अपने लिए नहीं बल्कि समस्त आश्रम वालों के लिए। गृहस्थ के बाद वानप्रस्थी और संन्यासी के रूप में पुनः गरीबी का जीवन व्यतीत करना होता है। कोई भी हो, आयु के 100 वर्षों में से 75 वर्ष प्रत्येक को पराश्रित होकर बिताने पड़ते हैं। ऐसी दशा में न कोई मौरुसी ग़रीब रह सकता है और न मौरुसी अमीर। पूंजी, पूंजीवाद, पूंजीवादी कुछ भी नहीं रह जाता। यह है मनु आदि स्मृतिकारों द्वारा निर्धारित भारतीय समाज व्यवस्था। इसमें और वर्तमान में प्रस्तावित समाजवादी ढंग की समाज व्यवस्था में ऊपरी भिन्नता भले ही दीख पड़े परन्तु तात्त्विक दृष्टि से कोई नहीं। वस्तुतः दोनों का लक्ष्य एक ही है।

व्यक्तियों से समाज बनता है। इसलिए जब तक व्यक्तिगत जीवन ऊंचा नहीं होता तब तक कोई समाज ऊपर नहीं उठ सकता। हमारे स्मृतिकारों ने इस तथ्य को भली प्रकार समझा और इसलिए व्यक्तिगत जीवन में पवित्रता लाने और व्यक्ति को समाज का स्वस्थ अंग बनाने के लिए उन्होंने यम और नियम के रूप में प्रत्येक व्यक्ति के लिए सामान्य कर्तव्यों का विधान किया। इन कर्तव्यों के पालन में शिथिलता आने पर कोई भी समाज व्यवस्था नहीं ठहर सकती। सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह 5 यम हैं,और शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान 5 नियम है। अपरिग्रह का अर्थ है— आवश्यकता से अधिक अपने पास किसी भी वस्तु को न रखना। समाज में दुःखों का मूल कारण है विषमता

आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम। (अथ० 22।11।1)
अपने समान लोगों से आगे बढ़ो और श्रेय को प्राप्त करो।

और विषमता का मूलकारण है संचयवृत्ति। अपरिग्रह का अकेला नियम ही समाज को संतुलित रखने में समर्थ हो सकता है इसी का दूसरा नाम 'तेन त्यक्तेन मुंजीथा:' है। स्मृतियों ने समाज का गठन भोग पर नहीं बल्कि तप और त्याग की बुनियाद पर किया है। इसके बिना समाज में स्थायी समता और स्वतंत्रता का विकास नहीं हो सकता।

जब तक समाज धर्मानुकल स्वाभाविक गति से चलता है तब तक विशेष अनुशासन की आवश्यकता नहीं होती परन्तु जब वह अपने धर्म से विचलित होने लगता है तब उसे कठोर नियंत्रण में रखना आवश्यक हो जाता है। यह कार्य शासन के द्वारा होता है। इसलिए स्मृतिकारों ने राजधर्म की विस्तार से चर्चा की है। मनु और याज्ञवल्क्य दोनों ही प्रजातन्त्र के समर्थक थे। परन्तु उनका प्रजातंत्र अन्धा नहीं था। मनु की मान्यता थी—

एको ऽपि वेदविद्धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः।
स विज्ञेयः परो धर्मः नाज्ञानामुदितो ऽयुतैः ॥

दस हजार मूर्खों की अपेक्षा एक सदाचारी विद्वान का मत अधिक मान्य है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य ने कहा—

चत्वारो वेदधर्मज्ञाः पर्षत्त्रैविद्यमेव वा।
सा ब्रूते यं सः धर्मः स्यादेको वाऽध्यातमवित्तमः ॥

त्यागी और वैरागी आत्मनिष्ठ अकेला व्यक्ति भी किसी विषय में व्यवस्था दे सकता है।

नारद ने पंचायतन अथवा संसद् के सभासदों की पहली योग्यता 'समाः शत्रौ च मित्रे च नृपतेः स्युः सभासदः' अर्थात् निष्पक्ष होकर सब के साथ एक जैसा व्यवहार करना बतलाई है।

इस प्रकार स्मृतियां सदा से भारतीय समाज का यश प्रदर्शन करती आ रही है। यह ठीक है कि वर्तमान समाज में अनेक व्यवहार ऐसे भी होने लगे है जिन्हें वांछनीय नही कहा जा सकता। इनका आधार ऋषियों के नाम पर कल्पित स्मृतियां तथा प्रामाणिक स्मृतियों में कालातर में प्रक्षिप्त अंश है। इन अंशों का निकाल कर स्मृतियों को पूर्वरूप देना भारतीथ विद्वानों का काम है।

स्मृति-रचना का द्वार बंद नहीं समझना चाहिए। प्रगतिशील समाज में यह सम्भव भी नहीं। कालमान के अनुसार देशाचार, कुलाचार और जातिधर्म का विचार करके निश्चित सिद्धांतों का प्रतिपादन करना समाज के आम पुरुषो का काम है। यदि वर्तमान समय का प्रचलित धर्म आगे चल कर बदल जाए तो उस के साथ ही भविष्य के कर्तव्य का विवेचन भी भिन्न रीति से किया जाएगा और जिस शास्त्र के अनुसार यह किया जाएगा वह एक नई स्मृति होगी। □

येन कर्मण्यपसो मनीषिणो
यज्ञे कृण्वन्ति विदथेषु धीराः।
यदपूर्वं यक्षमन्तः प्रजानां,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिसके द्वारा कर्म-परायण, मनीषी, सज्जन यज्ञों में और बुद्धिमान् विद्वान् विज्ञान, सभाओं में पवित्र कर्मों को विस्तृत करते हैं, जो सब उत्पन्न हुए-हुए प्राणियों के अन्दर अपूर्व और आदरणीय पदार्थ के रूप में विराज रहा है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

श्री वै राष्ट्रम्। शत० ब्रा० 6।7।37
श्री ही राष्ट्र है।

विश्व का अनमोल ग्रन्थ : श्रीमद्भगवद्गीता

—डा० विजयेन्द्र स्नातक
ए-5/3, राणाप्रताप बाग, दिल्ली-7

गीता केवल दार्शनिकों और धर्माचार्यों के ही आकर्षण का विषय नहीं है, वरन् राजनेताओं, सामाजिक कार्यकर्ताओं और सामान्य जन के अतिरिक्त ग्रीक, लैटिन, फ्रैंच, जर्मन, इंगलिश, रूसी, जापानी आदि विद्वानों को भी निरन्तर आकर्षित करती रही है।

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत के भीष्म-पर्व का अङ्ग है। ऐसा प्रतीत होता है कि श्रीकृष्ण के इस उपदेश को महत्वपूर्ण मानकर प्राचीन काल में ही महाभारत से अलग कर लिया गया था। उस समय इसे 'श्रीमद्भगवद्गीता-उपनिषद्' नाम से व्यवहृत किया गया था। गीता के माहात्म्य-वर्णन में अलंकारिक शैली से जो वर्णन मिलता है वह गीता को उपनिषदों से जोड़ता है—

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्॥

समस्त उपनिषद्-ग्रन्थ गो है, गोपालनन्दन (श्रीकृष्ण) दूध दुहने वाले हैं, गो का दूध पीने वाला बछड़ा पार्थ (अर्जुन) है और जो दूध दुहा गया है वही गीता रूपी अमृत है। इस माहात्म्य-वर्णन में गीता के महत्व का संकेत करना ही अभीष्ट है। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों का गीता से सीधा सम्बन्ध भी इस श्लोक से स्पष्ट हो जाता है।

प्रस्थान-त्रयी और गीता के विविध भाष्य :

प्रस्थान शब्द का अर्थ है—"प्रतितिष्ठति ब्रह्मविद्या येषु।" जिनमें ब्रह्म-विद्या प्रतिष्ठित (प्रतिपादित) होती है वे ग्रन्थ प्रस्थान में आते हैं। उपनिषद् ब्रह्मसूत्र (वेदान्त-दर्शन) और श्रीमद्भगवद्गीता को इसमें स्थान प्राप्त है। कुछ विद्वानों का विचार है कि प्रस्थान-त्रयी के तीनों ग्रन्थ पद्धति-भेद से प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग का उपदेश देकर भव-बन्धन में फंसे व्यक्ति को मायाजाल से मुक्त करते हैं। शंकराचार्य तथा उनके परवर्ती रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, वल्लभाचार्य ने प्रस्थान-त्रयी पर भाष्य या टीका साम्प्रदायिक दृष्टिकोण से लिखकर अपने-अपने अद्वैत मत की पुष्टि की है। विशिष्टाद्वैत, द्वैताद्वैत, द्वैत, शुद्धाद्वैत आदि विभिन्न नामों से इन आचार्यों ने गीता पर भी भाष्य या टीकाएं लिखी हैं।

प्रस्थान-त्रयी के अन्तर्गत गीता पर भाष्य लिखने वाले आचार्यों में शंकराचार्य की दृष्टि अत्यन्त स्वच्छ और स्पष्ट है। उन्होंने अद्वैत दर्शन के आधार पर गीता को निवृत्ति मार्ग का पोषक ग्रन्थ ठहराया है। निवृत्ति—मार्ग संन्यास मार्ग का ही दूसरा नाम है। उनके मत में ज्ञान-प्राप्ति के बाद कर्म—संन्यास अनिवार्य है। कर्म और ज्ञान में उन्होंने विरोध माना है।

श्री रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैत मत को अपनी तर्क-पद्धति से खण्डित कर विशिष्टाद्वैत मत की स्थापना की है और गीता को इसी कसौटी पर कसा है कि गीता में यद्यपि ज्ञान, कर्म और भक्ति का वर्णन है तथापि तत्व—ज्ञान दृष्टि से विशिष्टाद्वैत और आचार-दृष्टि से वासुदेव भक्ति ही गीता का प्रतिपाद्य है। कर्म-निष्ठा कोई स्वतन्त्र वस्तु नहीं है—वह केवल ज्ञान—निष्ठा का उत्पादक है।

यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। छान्दो० 7।22
प्राचुर्य या निःसीमता में ही सुख है, अल्प में सुख नहीं।

मध्वाचार्य का द्वैतवाद का प्रतिपादन करने की दृष्टि से कहना है कि यद्यपि गीता में कर्म के महत्व का वर्णन है तथापि वह केवल साधन है, साध्य तो भक्ति है। भक्ति की सिद्धि हो जाने पर सांसारिक कर्म करने की कोई आवश्यकता नहीं रहती है।

श्री वल्लभाचार्य ने गीता पर टीका लिखते समय शुद्धाद्वैतवादी दृष्टि से विचार किया है। इन्होंने मोक्ष-प्राप्ति के लिए **भगवद्भक्ति** को प्रमुख साधन माना है। निम्बार्काचार्य का मत भी इसी मत के अनुरूप है। द्वैताद्वैत मत की दृष्टि से **भक्ति** पर इनका सिद्धान्त टिकता है। कर्मयोग को इन्होंने भी स्वीकार नहीं किया है। फलतः, वैष्णव आचार्य गीता को भक्ति–मार्ग का प्रतिपादक ग्रन्थ स्वीकार करते हैं।

कुछ विद्वानों ने समन्वयात्मक दृष्टि से गीता का विमर्श किया है और कुछ इसके मन्तव्य की परख साम्प्रदायिक दृष्टि से करते रहे हैं। श्रीधर स्वामी की टीका में **भक्ति** को ही मुख्य प्रतिपादक सिद्ध किया गया है। मराठी के सुप्रसिद्ध गीता–भाष्य 'ज्ञानेश्वरी' में समन्वयात्मक दृष्टि है। उन्होंने गीता के प्रथम छह अध्यायों को **कर्म**-प्रतिपादक, मध्य के छह अध्यायों को **भक्ति**-निरूपक और अन्तिम छह अध्यायों को **ज्ञान**-मार्ग का समर्थक कहा है। सङ्क्षेप में, प्रस्थान-त्रयी के भाष्य तथा परवर्ती साधु-सन्तों की टीकाएं गीता को अधिकांश में ज्ञानपरक निवृत्तिमार्गी अथवा भक्तिमार्गी ग्रन्थ ही मानते हैं। कर्म-मार्ग अथवा कर्म-शास्त्र का विचार प्राचीन आचार्यों तथा साधु-सन्तों द्वारा नहीं किया गया है। ज्ञान और भक्ति पर ही उनकी दृष्टि केन्द्रित रही है।

चिन्तन की नयी दिशा : कर्म-योग और गीता

आधुनिक युग के चिन्तकों ने गीता के सम्बन्ध में विचार करते समय परिस्थिति, सन्दर्भ, वक्ता, बोद्धा, कर्तव्य-कर्म आदि पर दृष्टि रख कर कुछ ऐसे निष्कर्ष प्रस्तुत किये हैं जो पूर्वाचार्यों तथा साधु-सन्तों से भिन्न हैं। विदेशी विद्वानों के मन्तव्यों को यदि हम छोड़ दें और भारतीय विचारकों के निष्कर्षों पर ही दृष्टिपात करें तो हम देखेंगे कि गीता का सन्देश आधुनिक युग-सन्दर्भ में भग्न-मनोरथ, निराश, खिन्न और विषण्ण मन को जीवन-जागृति, बल और बलिदान की भावना से अनुप्राणित कर संसार के संघर्ष में जूझने की प्रेरणा देता है। कर्म की प्रेरणा देना तो प्रत्येक श्रेष्ठ ग्रन्थ का लक्ष्य है किन्तु निष्काम कर्म, अनासक्त भाव से कर्म, फल की कामना से रहित कर्म का उपदेश संसार के किसी अन्य ग्रन्थ में उपलब्ध नहीं होता है। जिसे लोकमान्य तिलक ने कर्मयोग नाम दिया था, महात्मा गांधी ने अनासक्ति योग कहा था, डा० राधाकृष्णन ने नीतिशास्त्र के साथ आत्म-स्वातन्त्र्य का ग्रन्थ बताया था, आचार्य विनोवा भावे ने जिसे जीवनचर्या का सात्त्विक पाठ बताया था वह ग्रन्थ किस मार्ग का उन्मेष करता है? विदेशी विद्वान् गीता को कर्मयोग-प्रधान तथा नीति-प्रधान मानते हैं। अरस्तु, प्लेटो, सुकरात, कांट, इमर्सन, जान स्टुअर्ट, मिल आदि विचारकों से गीता के मूल प्रतिपाद्य की तुलना की गयी है और अपनी-अपनी दृष्टि से इसके कथ्य को पकड़ने का प्रयास किया गया है। क्या गीता में ऐसा कोई गूढ़ सिद्धान्त छिपा है जो सही तौर पर किसी की पकड़ में नहीं आता है? मैंने इस प्रश्न पर गम्भीरता से विचार किया है और निवृत्ति-प्रवृत्ति के द्वन्द्व को समझकर इनके साम्य–वैषम्य को तटस्थ भाव से देखना चाहा है।

निवृत्ति-मार्ग के लिए भारतीय आश्रम-व्यवस्था में सन्यासाश्रम का विधान है। ज्ञान के साधक कहते हैं कि वैराग्य-भावना के बिना ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है— "ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः"—बिना ज्ञान के मोक्ष सम्भव नहीं है। फलतः भारत में निवृत्ति-मार्ग को प्रमुख स्थान प्राप्त

अन्नं वै प्रजापतिः। प्रश्न. 1।14
निश्चय से अन्न प्रजापति है।

हुआ था और अपरिग्रही सन्यासियों ने गीता में इसी मार्ग का सन्धान किया था। ज्ञान-मार्ग की इस साधना के साथ संसार का मिथ्यात्व भी जुड़ गया और माया के द्वारा यह मिथ्या-प्रतीति मनुष्य को भ्रमित करती रही। इसे अद्वैत दर्शन में अज्ञान, अविद्या अथवा अध्यास भी कहा जाता है। गीता में श्रीकृष्ण इसी मिथ्या ज्ञान या अध्यास से अर्जुन को मुक्त करना चाहते हैं, ऐसा ज्ञानमार्गी पण्डितों का कथन है।

अब बिचार यह करना है कि श्रीकृष्ण ने युद्धक्षेत्र को उपदेश के लिए क्यों चुना ? यदि कृष्ण अर्जुन को सन्यास या वैराग्य का उपदेश देते, यदि उसी निवृत्ति-मार्ग में प्रवृत्त करना श्रीकृष्ण का उद्देश्य होता तो निश्चय ही वह अर्जुन को "युद्धस्व विगतज्वरः" का उपदेश कदापि न देते। अतः यह तो असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि उपनिषदों का ज्ञानयोग और मीमांसा का कर्मयोग दोनों ही श्रीकृष्ण को स्वीकार्य नहीं थे। गीता में कठोर तपस्या अथवा शारीरीक कष्ट-साधना का कहीं विधान नहीं है। भक्ति का विधान है, श्रद्धा और समर्पण का विधान है, फलासक्ति-विहीन कर्म का विधान है, अतः हम कह सकते हैं कि गीता मनुष्य को जीवन-संघर्ष में पूरी शक्ति-सामर्थ्य के साथ जूझने और निरन्तर कर्म करने की सत्प्रेरणा देती है। इस सत्प्रेरणा के साथ भगवान् की भक्ति और उसका आश्रय भी आवश्यक मानती है। गीता वास्तव में तत्त्वचिन्तन के क्षेत्र में दार्शनिक समन्वय का समीकरण (Synthetic Philosophic Compromise) है—एक ऐसा समन्वयात्मक समीकरण जो अन्यत्र दुर्लभ है।

व्यामोह से मुक्ति का मार्ग :

अर्जुन को जिस कारण युद्ध से विरति होती है वह सामान्यजन की समझ से बाहर की बात नहीं है। अर्जुन अपने समय का सबसे दुर्धर्ष धनुर्वेत्ता योद्धा था। श्रीकृष्ण को अर्जुन की वीरता का ज्ञान था। किन्तु अर्जुन के हाथ से धनुष का छूटना, शरीर में कम्प होना, मस्तिष्क में चक्कर आना और युद्ध के मैदान से कायर की भांति भाग खड़े होने की इच्छा होना आदि ऐसे लक्षण हैं जो अर्जुन को मोहदशा में ले जाते हैं। इस मोह में अर्जुन की कायरता ही नहीं और भी कई तत्त्व काम करते दिखाई देते हैं। बन्धु-बान्धवों और गुरुजन का वध करने से हिंसा और पाप का भय; ममता की भावना; युद्ध में विजयी होने पर मन की अशान्ति आदि की बात अर्जुन ने श्रीकृष्ण से कही है। गीता के प्रथम छह अध्यायों में कर्म के सन्दर्भ में जो विचार व्यक्त किये गये हैं उनके विश्लेषण से हम इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि सांसारिक दृष्टि से जो विहित कर्म हैं उनका पालन करना मनुष्य का धर्म है। यदि निवृत्ति-मार्ग का अनुसरण करते हुए व्यक्ति कर्म-विरत हो जाता है तो वह गीता के उपदेश को व्यवहार में लाने में अक्षम सिद्ध होता है। अतः गीता प्रवृत्ति का नया मार्ग खोजती है।

इस सम्बन्ध में विचार करते समय हमारे समक्ष गीता में प्रतिपादित योग शब्द की दो विभिन्न धाराएं आती हैं। गुणों के वैषम्य में साम्यभाव रखना ही योग है—"समत्वं योग उच्यते।" यह विचारधारा निवृत्तिपरक साङ्ख्य मत के अनुकूल है। दूसरी विचारधारा "योगः कर्मसु कौशलम्"—में है। अर्थात् कर्मों में संलग्न रहकर ऐसी विधि से कर्म करना कि उनमें लिप्त होने से बचा जा सके। कर्म, बन्धन का कारण न बने, अनासक्त होकर निष्काम भाव से कर्म साधना चलती रहे—यह योग-दर्शन के मत में है। इन दोनों धाराओं को जो भलीभांति नहीं समझता है वह गीता के मूल प्रतिपाद्य को समझने में भूल करता है। गीता की कर्मयोग की धारणा मूलतः प्रवृत्ति-परक है। वह प्रवृत्ति "निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम्" जैसी भी मानी जा सकती है।

सांसारिक कार्यकलाप में लीन मनुष्य के सामने जीवन में ऐसे अनेक विचित्र प्रसंग आ जाते हैं जब वह अपना कर्म-मार्ग निर्धारित नहीं कर पाता है। यह स्थिति

आहारशुद्धो सत्वशुद्धः। छान्दो. 7।23।2
आहार शुद्ध होने पर सत्त्व शुद्ध होता है।

व्यामोह कहलाती है। यों तो सामान्यतः कर्म-अकर्म का निर्णय करना ही कठिन है, किन्तु मनःस्थिति के दोलायमान हो जाने पर कर्म का निर्णय और अधिक दुष्कर हो जाता है। अर्जुन इसी कार्पण्य-जनित मनःस्थिति का शिकार है। श्रीकृष्ण ऐसे अवसर पर कर्तव्याकर्तव्य का दृढ़ता के साथ निश्चय करते हैं। अर्जुन का विषाद कार्पण्य-जनित दुर्बल मन प्रश्नों से भर जाता है। अपने बान्धवों को मारने से कुलक्षय होगा जो एक बड़ा पातक है—ऐसा अर्जुन के भ्रमित चित्त का संशय है। गीता का प्रथम अध्याय इसी विषाद—कार्पण्य—को प्रस्तुत करता है।

गीता का द्वितीय अध्याय कर्मयोग का प्रतिपादन करने वाला, संसार-समर में संशय-रहित मन से कर्तव्य-पालन करने का उपदेश देने वाला, निष्काम भावना से, इन्द्रिय-दमन-पूर्वक श्रद्धासंयुत होकर कर्म की प्रेरणा देने वाला है। जीवन और मृत्यु का रहस्य भी इसी अध्याय में वर्णित है। आत्मा की अमरता और शरीर की अनित्यता को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

भगवद्गीता 2, 11

जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, हे अर्जुन, तू उन्हीं के लिए शोक कर रहा है। बड़ी ऊँची-ऊँची ज्ञान की बातें कर रहा है। किसी के प्राण चाहे जायं या चाहे रहें, ज्ञानी पुरुष प्राण के लिए शोक नहीं करते हैं। इस श्लोक में निर्गत प्राण या स्थियी प्राण के विषय में जो कहा गया है वह यही बताता है कि प्राण तो शरीर-सञ्चालन वायु है। मूल तो आत्मा है जो अमर है—शरीर के नष्ट हो जाने से आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते
हन्यमाने शरीरे॥ कठोपनिषद 1.2.8

कठोपनिषद् के इस श्लोक का हवाला देकर श्रीकृष्ण ने आत्मा की नित्यता, शाश्वतता, अजरता और अमरता का उपदेश दिया है। इसी भाव को समझाने और स्पष्ट करने के लिए जीर्ण वस्त्र के साथ शरीर की तुलना की गयी है। आत्मा को अकाट्य, अदाह्य, अशोष्य आदि बताकर उसके नित्य अविकारी स्वरूप का बोध कराया गया है। शरीर, प्राण, आत्मा आदि की स्थिति स्पष्ट करने के अनन्तर अर्जुन की शोक-विह्वलता को दूर किया गया है तथा बताया गया है कि यदि वह रणक्षेत्र से पलायन कर गया तो उसकी अपकीर्ति फैलेगी। लोग उसे कायर, भीरु और नपुंसक कहेंगे। उसे स्मरण दिलाया गया है कि समाज में सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश तो मृत्यु से भी बढ़ कर होता है। (गीता 2.34)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता 2.37-38)

अर्जुन यदि रणभूमि में मारा गया तो उसे स्वर्ग प्राप्त होगा, यदि विजयी हुआ तो वह पृथ्वी का भोग करेगा। इस लिए उसे युद्ध के लिए—कर्म के लिए—निश्चय करना होगा। उसे विवेकी चित्त से संसार की उपलब्धियों को, लाभ-हानि को, सुख-दुःख को समान रूप में ग्रहण करना होगा। यदि वह इस समत्व बुद्धि से स्थितियों का सामना करेगा तो निश्चय ही उसे किसी प्रकार का पाप नहीं लगेगा। इसके आगे कर्म करने या न करने में भी मनुष्य की सीमाएं हैं। मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करना है। फल मिलना या न मिलना मनुष्य के हाथ में नहीं है। यह समझ कर फलासक्ति छोड़कर कर्म का आचरण ही ठीक है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" यही गीता का कर्मशास्त्र है जो कर्मयोग के नाम से विख्यात है।

तपसा चीयते ब्रह्म। मुण्ड. 1।1।8
तप से ही ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त होता है।

सांसारिक दृष्टि से यह "आदर्श वाक्य" ही कहा जायेगा, क्योंकि बिना प्रयोजन के मूर्ख व्यक्ति भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है—ऐसा नीति-वाक्य प्रसिद्ध है—'प्रयोजन-मनुद्दिश्य नहि मन्दोऽपि प्रवर्तते'। प्रयोजन में फलासक्ति अन्तर्भुक्त ही है। इस फलासक्ति को त्यागकर निष्काम भाव से कर्म करना कठिन है किन्तु गीता का कर्मयोग इसी पर आधृत है। कर्म की सिद्धि या असिद्धि में समत्व-भाव का भी उपदेश इसी अध्याय में है। "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।" साम्य बुद्धि ही कर्मयोग की जड़ है। इस कर्ममार्ग की प्रेरणा देकर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीवन-दर्शन के गन्तव्य स्थल से विमुख नहीं किया है। इसी अध्याय के अगले पैंतीस श्लोकों में स्थित-प्रज्ञ का स्वरूप, विषयासक्ति का परिणाम, चित्त की प्रसन्नता, इन्द्रियनिग्रह, वासना से विमुखता आदि का उपदेश है। अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में कर्मयोग का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि जो पुरुष सब प्रकार की आसक्ति त्याग कर, निस्पृह होकर व्यवहार करता है, जिसमें ममत्व तथा अहंकार नहीं होता है वही शक्ति प्राप्त करता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति में पहुंचकर कोई मोह में नहीं फँसता है और मरणदशा में भी ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करता है :

> विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
> निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

कर्म का क्षेत्र अति व्यापक है किन्तु लोक-संग्रह की भावना से सम्पादित कर्म की प्रतिष्ठा द्वारा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जनकादि का उदाहरण देकर तथा स्वयं अपनी कर्म-नैरन्तर्यता बताकर कर्मयोग की स्थापना की है।

(गीता 2.20)

लोक-संग्रह और कर्म-मार्ग :

लोक-संग्रह को दृष्टि में रखकर कर्म करने वाला व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थपरायणता से मुक्त हो जाता है। उसका परिवार वसुधा बन जाता है। कर्म के फल की कामना विलीन हो जाती है। श्रीकृष्ण जानते थे कि कर्म का स्वरूप-निर्णय करना कठिन है। "गहना कर्मणो गतिः" कह कर उन्होंने अर्जुन को समझाया था और कहा था कि यदृच्छा से जो प्राप्त हो जाये उसमें सन्तुष्ट, द्वन्द्वों से मुक्त, निर्मत्सर और कर्म की सिद्धि या असिद्धि को एक सा ही मानने वाला पुरुष कर्म करके भी उनके पाप-पुण्य से बद्ध नहीं होता है। मन को संशयरहित बनाकर श्रद्धासंयुत चित्त से कर्म में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति खिन्न और विषण्ण नहीं होता है। श्रद्धालु को यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, संशयात्मा का नाश हो जाता है। यह ठीक है कि कर्म-संन्यास भी आत्मा की शान्ति का एक सुन्दर उपाय है, किन्तु संसार में रहते हुए लोक-संग्रह-संयुत कर्म ही आवश्यक है, अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगी विशिष्यते।" कर्मयोग को वरीयता देकर रणक्षेत्र के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया था उसकी पुष्टि भी कर दी गयी है। कर्म की प्रेरणा के साथ अध्यात्म-चिन्तन को इसी के साथ छोड़कर साम्यबुद्धि का निर्देश किया गया है। लोक-संग्रह-पूर्वक कर्मनिष्ठ व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि वह संसार में रहता हुआ जो आचरण करे उसमें समताभाव सतत बना रहे। भेद-बुद्धि या पक्षपात बुद्धि से कर्म न करे। समस्त प्राणियों में समबुद्धि रखे :

> विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
> शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

गीता 5.18

कर्म-संन्यास और कर्म-योग

गीता में बार-बार इस प्रश्न को उठाया गया है कि कर्म-संन्यासी और कर्मयोगी में क्या अन्तर है। यदि साङ्ख्य-दर्शन की भावना को प्रमुख स्थान दिया जाये तो कर्म-संन्यास द्वारा ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होना ही मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए। किन्तु छठे अध्याय के प्रारम्भ में ही इस विचिकित्सा का

दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। अथ. 3।2।25
तपस्वी तप से स्वर्गारोहण करता है।

व्यामोह कहलाती है। यों तो सामान्यतः कर्म-अकर्म का निर्णय करना ही कठिन है, किन्तु मनःस्थिति के दोलायमान हो जाने पर कर्म का निर्णय और अधिक दुष्कर हो जाता है। अर्जुन इसी कार्पण्य-जनित मनःस्थिति का शिकार है। श्रीकृष्ण ऐसे अवसर पर कर्तव्याकर्तव्य का दृढ़ता के साथ निश्चय करते हैं। अर्जुन का विषाद कार्पण्य-जनित दुर्बल मन प्रश्नों से भर जाता है। अपने बान्धवों को मारने से कुलक्षय होगा जो एक बड़ा पातक है—ऐसा अर्जुन के भ्रमित चित्त का संशय है। गीता का प्रथम अध्याय इसी विषाद—कार्पण्य—को प्रस्तुत करता है।

गीता का द्वितीय अध्याय कर्मयोग का प्रतिपादन करने वाला, संसार-समर में संशय-रहित मन से कर्तव्य-पालन करने का उपदेश देने वाला, निष्काम भावना से, इन्द्रिय-दमन-पूर्वक श्रद्धासंयुत होकर कर्म की प्रेरणा देने वाला है। जीवन और मृत्यु का रहस्य भी इसी अध्याय में वर्णित है। आत्मा की अमरता और शरीर की अनित्यता को स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—

अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः॥

भगवद्गीता 2, 11

जिनके लिए शोक नहीं करना चाहिए, हे अर्जुन, तू उन्हीं के लिए शोक कर रहा है। बड़ी ऊँची-ऊँची ज्ञान की बातें कर रहा है। किसी के प्राण चाहे जायं या चाहे रहें, ज्ञानी पुरुष प्राण के लिए शोक नहीं करते हैं। इस श्लोक में निर्गत प्राण या स्थियी प्राण के विषय में जो कहा गया है वह यही बताता है कि प्राण तो शरीर-सञ्चालन वायु है। मूल तो आत्मा है जो अमर है—शरीर के नष्ट हो जाने से आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न
बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते
हन्यमाने शरीरे॥ कठोपनिषद 1.2.8

कठोपनिषद् के इस श्लोक का हवाला देकर श्रीकृष्ण ने आत्मा की नित्यता, शाश्वतता, अजरता और अमरता का उपदेश दिया है। इसी भाव को समझाने और स्पष्ट करने के लिए जीर्ण वस्त्र के साथ शरीर की तुलना की गयी है। आत्मा को अकाट्य, अदाह्य, अशोष्य आदि बताकर उसके नित्य अविकारी स्वरूप का बोध कराया गया है। शरीर, प्राण, आत्मा आदि की स्थिति स्पष्ट करने के अनन्तर अर्जुन की शोक-विह्वलता को दूर किया गया है तथा बताया गया है कि यदि वह रणक्षेत्र से पलायन कर गया तो उसकी अपकीर्ति फैलेगी। लोग उसे कायर, भीरु और नपुंसक कहेंगे। उसे स्मरण दिलाया गया है कि समाज में सम्मानित व्यक्ति के लिए अपयश तो मृत्यु से भी बढ़ कर होता है। (गीता 2.34)

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं, जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः॥
सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

(गीता 2.37-38)

अर्जुन यदि रणभूमि में मारा गया तो उसे स्वर्ग प्राप्त होगा, यदि विजयी हुआ तो वह पृथ्वी का भोग करेगा। इस लिए उसे युद्ध के लिए—कर्म के लिए—निश्चय करना होगा। उसे विवेकी चित्त से संसार की उपलब्धियों को, लाभ-हानि को, सुख-दुःख को समान रूप में ग्रहण करना होगा। यदि वह इस समत्व बुद्धि से स्थितियों का सामना करेगा तो निश्चय ही उसे किसी प्रकार का पाप नहीं लगेगा। इसके आगे कर्म करने या न करने में भी मनुष्य की सीमाएं हैं। मनुष्य का अधिकार केवल कर्म करना है। फल मिलना या न मिलना मनुष्य के हाथ में नहीं है। यह समझ कर फलासक्ति छोड़कर कर्म का आचरण ही ठीक है।

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।" यही गीता का कर्मशास्त्र है जो कर्मयोग के नाम से विख्यात है।

तपसा चीयते ब्रह्म। मुण्ड. 1।1।8
तप से ही ब्रह्म वृद्धि को प्राप्त होता है।

सांसारिक दृष्टि से यह "आदर्श वाक्य" ही कहा जायेगा, क्योंकि बिना प्रयोजन के मूर्ख व्यक्ति भी कर्म में प्रवृत्त नहीं होता है—ऐसा नीति-वाक्य प्रसिद्ध है—'प्रयोजनमनुद्दिश्य नहि मन्दोऽपि प्रवर्तते'। प्रयोजन में फलासक्ति अन्तर्भुक्त ही है। इस फलासक्ति को त्यागकर निष्काम भाव से कर्म करना कठिन है किन्तु गीता का कर्मयोग इसी पर आधृत है। कर्म की सिद्धि या असिद्धि में समत्व-भाव का भी उपदेश इसी अध्याय में है। "सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।" साम्य बुद्धि ही कर्मयोग की जड़ है। इस कर्ममार्ग की प्रेरणा देकर भी श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जीवन-दर्शन के गन्तव्य स्थल से विमुख नहीं किया है। इसी अध्याय के अगले पैंतीस श्लोकों में स्थितप्रज्ञ का स्वरूप, विषयासक्ति का परिणाम, चित्त की प्रसन्नता, इन्द्रियनिग्रह, वासना से विमुखता आदि का उपदेश है। अध्याय के अन्तिम दो श्लोकों में कर्मयोग का उपसंहार करते हुए बताया गया है कि जो पुरुष सब प्रकार की आसक्ति त्याग कर, निस्पृह होकर व्यवहार करता है, जिसमें ममत्व तथा अहंकार नहीं होता है वही शक्ति प्राप्त करता है। यही ब्राह्मी स्थिति है। इस स्थिति में पहुंचकर कोई मोह में नहीं फँसता है और मरणदशा में भी ब्रह्म-निर्वाण को प्राप्त करता है :

विहाय कामान्यः सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥

कर्म का क्षेत्र अति व्यापक है किन्तु लोक-संग्रह की भावना से सम्पादित कर्म की प्रतिष्ठा द्वारा श्रीकृष्ण ने अर्जुन को जनकादि का उदाहरण देकर तथा स्वयं अपनी कर्म-नैरन्तर्यता बताकर कर्मयोग की स्थापना की है।

(गीता 2.20)

लोक-संग्रह और कर्म-मार्ग :

लोक-संग्रह को दृष्टि में रखकर कर्म करने वाला व्यक्ति संकीर्ण स्वार्थपरायणता से मुक्त हो जाता है। उसका परिवार वसुधा बन जाता है। कर्म के फल की कामना विलीन हो जाती है। श्रीकृष्ण जानते थे कि कर्म का स्वरूप-निर्णय करना कठिन है। "गहना कर्मणो गतिः" कह कर उन्होंने अर्जुन को समझाया था और कहा था कि यदृच्छा से जो प्राप्त हो जाये उसमें सन्तुष्ट, द्वन्द्वों से मुक्त, निर्मत्सर और कर्म की सिद्धि या असिद्धि को एक सा ही मानने वाला पुरुष कर्म करके भी उनके पाप-पुण्य से बद्ध नहीं होता है। मन को संशयरहित बनाकर श्रद्धासंयुत चित्त से कर्म में प्रवृत्त होने वाला व्यक्ति खिन्न और विषण्ण नहीं होता है। श्रद्धालु को यथेष्ट ज्ञान प्राप्त होता है, संशयात्मा का नाश हो जाता है। यह ठीक है कि कर्म-संन्यास भी आत्मा की शान्ति का एक सुन्दर उपाय है, किन्तु संसार में रहते हुए लोक-संग्रह-संयुत कर्म ही आवश्यक है, अतः श्रीकृष्ण ने अर्जुन से कहा—"तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगी विशिष्यते।" कर्मयोग को वरीयता देकर रणक्षेत्र के सन्दर्भ में जो कुछ कहा गया था उसकी पुष्टि भी कर दी गयी है। कर्म की प्रेरणा के साथ अध्यात्म-चिन्तन को इसी के साथ छोड़कर साम्यबुद्धि का निर्देश किया गया है। लोक-संग्रह-पूर्वक कर्मनिष्ठ व्यक्ति को यह समझ लेना चाहिए कि वह संसार में रहता हुआ जो आचरण करे उसमें समताभाव सतत बना रहे। भेद-बुद्धि या पक्षपात बुद्धि से कर्म न करे। समस्त प्राणियों में समबुद्धि रखे :

विद्या विनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

गीता 5.18

कर्म-संन्यास और कर्म-योग

गीता में बार-बार इस प्रश्न को उठाया गया है कि कर्मसंन्यासी और कर्मयोगी में क्या अन्तर है। यदि साङ्ख्य-दर्शन की भावना को प्रमुख स्थान दिया जाये तो कर्म-संन्यास द्वारा ज्ञानमार्ग में प्रवृत्त होना ही मनुष्य का कर्तव्य होना चाहिए। किन्तु छठे अध्याय के प्रारम्भ में ही इस विचिकित्सा का

दिवमारुहत् तपसा तपस्वी। अथ. 3।2।25
तपस्वी तप से स्वर्गारोहण करता है।

समाधान मिल जाता है कर्मफल पर आश्रित न होकर जो शास्त्रानुकूल कर्म करता है, वही संन्यासी है और वही कर्मयोगी है जो अग्निहोत्र आदि कर्मों से विरत होकर, निष्क्रय बैठ जाता है वह न तो सच्चा संन्यासी है और न कर्मयोगी। आहार-विहार में संयमित, कर्मों के आचरण में मर्यादित, शयनजागरण-परिमित व्यक्ति के लिए योग सब दुःखों को नष्ट करने वाला होता है। यहाँ (पातञ्जल) योगक्रिया के विषय में संकेत किया गया है। यह भी कर्म-योग का ही एक विधान है।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।। गीता 6.17

इसी प्रकरण में श्री कृष्ण ने अर्जुन को योग के साथ मनोनिग्रह और ध्यान-धारणा का भी बोध कराया है।

संक्षेप में, कर्मयोग का प्रतिपादन करते हुए मनुष्य के मनोजगत् और मनोविकारों का जिस रूप में वर्णन किया गया है वह एक ओर सम्पूर्ण मनोविज्ञान को उद्घाटित करता है तो दूसरी ओर साङ्ख्य और योग में निरूपित शास्त्रीय मीमांसा पर भी प्रकाश डालता है। यह कहना असङ्गत या भ्रामक नहीं है कि कर्मयोग अथवा कर्मशास्त्र का ऐसा मौलिक विवेचन किसी देश की भाषा में न तो भगवद्गीता की रचना से पहले हुआ था और न अद्यावधि हो सका है। श्री कृष्ण ने निःसन्देह उपनिषद् और दर्शन-शास्त्र को गीता में समन्वित रूप से समाविष्ट कर दिया है।

ज्ञान-विज्ञान तथा भक्तिः

गीता में ज्ञान-विज्ञान के साथ उन तत्त्वों का भी वर्णन और सूक्ष्म रीति से प्रतिपादन मिलता है जो उपनिषदों के चिन्तन–मनन के विषय हैं। अध्यात्म–चिन्तन की जो पद्धति उपनिषदों में है उसका सार-संक्षेप गीता के सातवें से ग्यारहवें अध्याय तक क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ, क्षर-अक्षर, ब्रह्म-विद्या, विभूतियोग तथा विश्वरूप-दर्शन आदि गूढ़-गम्भीर विषयों का सहज सरल शैली में उद्घाटन किया गया है। सृष्टि के नानात्व का ज्ञान ही विज्ञान है। यह शब्द विशिष्ट ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है। नानात्व के ज्ञान के बाद एकत्व की प्रतीति ही ज्ञान है। भौतिक जगत् में हमें जो कुछ दिखाई देता है वह अपरा प्रकृति है, इसमें ईश्वर की प्रेरणा से जो चेतना आती है उसे परा प्रकृति कहते हैं। ईश्वरीय सत्ता के नाना रूपों का वर्णन करके यह बताया गया है कि कर्मयोगी को इस नानात्व को फली भाँति समझ कर अपना मार्ग निर्धारण करना चाहिए। अक्षर विद्या का जो वर्णन हमें उपनिषदों में मिलता है गीता में भी देख सकते हैं। अक्षर ब्रह्म परम ब्रह्म अक्षर हैं। इस वर्णन को पढ़कर पाठक का ध्यान उपनिषदों की ब्रह्मविद्या की ओर जाना स्वभाविक है। इसके आगे अध्यात्म का विचार है जिसे गीताकार ने राज-ब्रह्मयोग शब्द से व्यवहृत किया है। समस्त चराचर जगत्, देवी-देवता, सत्-असत् सब का पर्यवसान ब्रह्म में है। मनुष्य अपनी इच्छा, साधन-सम्पन्नता, योग्यता, भावना और बुद्धि-विवेक से अपने इष्ट की पूजा-अर्चना करता है; उसे भक्ति कहते हैं। भक्ति-भाव में जड़-चेतन का भी भेद नहीं हैं। लोग पीपल, पहाड़ (गोवर्धन), नदी (गंगा) आदि की पूजा करते हैं। सांप, कच्छप, मत्स्य आदि को भी पूज्य मानते हैं। यह भक्ति का विलक्षण क्षेत्र है। गीता में विभूतियोग शीर्षक से इस प्रकार की भक्ति का स्वरूप स्पष्ट किया गया है। यदि कोई भक्त सात्त्विक भाव से उन शक्तिशाली रूपों की पूजा करता है तो वह भगवान का भक्त ही है। भगवान् को देखने, जानने-मानने और पूजने में भक्त की भावना ही प्रमुख रहती हैं। जिस प्रकार ऋग्वेद के पुरुषसूक्त में तथा छान्दोग्योपनिषद् में ईश्वर का वर्णन है और अन्त में कह दिया गया है कि 'एतावान् अस्य महिमा ऽतोऽन्यायांश्च पूरुषः'—यह इतनी इसकी (ईश्वर की) महिमा

तपोभिरदहो जरूथम्। ऋ. 7।1।7
तप के द्वारा बुढ़ापे को दूर रखो।

हुई, पुरुष तो इसकी अपेक्षा कहीं श्रेष्ट है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवपद्-रूप का वर्णन करने के पश्चात् स्वयं भगवान् कृष्ण ने अपना दिव्य रूप अर्जुन के समक्ष दिखाया है। इसे विश्वरूप-दर्शन-योग कहा जाता है।

लोक-व्यवहारः

गीता के मर्म को हृदयंगम करने के लिए कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग के साथ कर्मफलत्याग का अभ्यास अपेक्षित है। इसके साथ ही जीवनचर्या को भी एक विशेष शैली में ढालने की आवश्यकता होती है। यह शैली चरित्र-विकास की सरणि है। किसी से द्वेष न करना, समस्त प्राणियों से मित्रतापूर्ण व्यवहार करना, करुणापूर्ण रहना, ममत्व और अहंकार से रहित होना, सुख-दुःख में समान भाव रखना, क्षमाशील होना, मनुष्य के अपने विकास के लिए अत्यावश्यक है।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥

सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़निश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भवतः स मे प्रियः॥ गीता 12.13-14

गीता के तेरहवें अध्याय से सत्रहवें अध्याय तक जिन विषयों का उपदेश दिया गया है वे सभी गूढ़-दार्शनिक सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हैं। इन विषयों की चर्चा उपनिषदों में उपलब्ध है, किन्तु वहां ज्ञानमार्गीय दृष्टि की प्रधानता से विषय का निरूपण गीता से भिन्न कोटि का है। सत्व, रजस्, तमस् नामक गुणत्रय की व्याख्या सांख्यमतानुसार न करके नवीन दृष्टि से की गयी है। पन्द्रहवें अध्याय में विश्व का वर्णन अश्वत्थ वृक्ष के रूप में किया गया है। रूपक-शैली का यह वर्णन काव्यात्मक होने के साथ कठोपनिषद् के आधार पर है। इस प्रकार के रूपकात्मक वर्णन छान्दोग्य, श्वेताश्वतर उपनिषदों और महाभारत में भी मिलते हैं। इसी प्रकरण में क्षर-अक्षर का भी निवेचन है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि इस लोक मे क्षर और अक्षर दो संज्ञाएं हैं। समस्त नाशवान् भूतों को क्षर कहा जाता हैं और सब भूतों के कूट में—मूल में—रहने वाले को कूटस्थ अक्षर कहते हैं जो प्रकृति रूप अव्यक्त तत्व है। परमात्मा इन दोनों से ऊपर है वह अव्यय है और त्रैलोक्य में व्याप्त रहता है। क्षर अक्षर का विवेचन उपनिषदों में भी विस्तारपूर्वक किया गया है। इन समस्त वर्णनों में मौलिकता लाने और मनुष्य को सन्मार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए इनका प्रतिपादन सरल और सुबोध शैली में उपलब्ध होता है।

मनुष्य की वृत्ति और लोक-व्यवहारः

इस दृष्टि में हमें दो प्रकार की प्रवृत्तियों के मनुष्य दिखाई देते हैं। आसुरी प्रवृत्ति के मनुष्य तामस गुण प्रधान होने से मर्त्यलोक की अनृतमयी भावनाओं से अन्धकार फैलाते हैं। दैवी प्रवृत्ति अमृतत्वमयी, प्रकाशमयी तथा सत्यनिष्ठ होती है। गीता में इस द्विविध रूप सृष्टि का वर्णन दैवीसम्पत् और आसुरी सम्पत् के नाम से सोलहवें अध्याय में है। दम्भ, क्रोध, निष्ठुरता, अज्ञान आदि आसुरी (राक्षसी) सम्पत्ति में जन्मे हुए मनुष्य में रहते हैं। तेजस्विता, क्षमा, धृति, शुचिता, अक्रोध, शान्ति आदि गुण दैवी सम्पत्ति वाले पुरुष में रहते हैं। आसुरी सम्पत्ति बन्धन-कारक और दैवी मोक्षदायक है। आसुरी वृत्ति वाले व्यक्ति कर्तव्याकर्तव्य का निर्णय नहीं कर पाते हैं;वे आचार में भी शुद्धता नहीं रखते हैं। विषय-वासना में फंसकर वे अपना जीवन तो नष्ट करते ही हैं, इस संसार को भी दोषमय बनाते हैं। कपटी आसुरी वृत्ति से छुटकारे का उपाय भी इसी अध्याय में बताया गया है। काम, क्रोध और लोभ नरक के तीन द्वार हैं। जो इन तीनों का त्याग कर देता है

सर्वं खल्विदं ब्रह्म (छान्दो. 2।13।1)
यह सारा (दृश्यमान जगत्) ब्रह्म ही है।

वह आसुरीसम्पत् से छूटकर दैवी सम्पति का अधिकारी हो जाता है (गीता 16-21)

दैवी सम्पत्ति प्राप्त करने के बाद मनुष्य को शास्त्र विधि का यथोचित पालन करना चाहिए। शास्त्र-मर्यादा के निर्वाह के लिए श्रद्धा की आवश्यकता होती है। वह श्रद्धा तीन प्रकार की होती है। सात्विकी, राजसी और तामसी। सात्विकी वृत्ति के लोग देवताओं का भजन करते हैं, राजसी वृत्ति के लोग यक्षों और राक्षसों का भजन करते करते हैं और तामसी वृत्ति के लोंग भूत-प्रेतों का भजन करते हैं। शारीरिक यातना सहकर दम्भपूर्ण तपस्या करने वाले लोग तामस गुण प्रधान ही हैं। वे व्यक्ति अविवेकी और आसुरी वृत्ति के हैं। इन तीनों प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्यों का आहार भी भिन्न प्रकार का होता है। इनके यज्ञ तप तथा दान भी तीन प्रकार के होते हैं। गीता में इस विषय का वर्णन बहुत सटीक पद्धति से किया गया है। मनुष्य के शील-स्वभाव के अनुसार उनके कर्मों की पहचान के लिए पूरा मनोविज्ञान यहाँ लक्षित किया जा सकता है। हम यज्ञ करते हैं, तप करते हैं, दान करते हैं, किन्तु इनकी भावना का विचार नहीं करते हैं। यदि गीता का यह प्रकरण भली-भाँति पढ़ा और समझा जाये तो हमारी ये समस्त क्रिताएं शास्त्र-विधि से, कर्तव्याकर्तव्य-विचार से सम्पन्न हों। इन दो अध्यायों को हम मनुष्य को जीवन-चर्या का अंग भी कह सकते हैं। आचरण की पवित्रता और कार्यानुष्ठान की शुद्धता के लिए गीता के इस विवेचन का अनुशीलन आवश्यक है। श्रद्धा का स्वरूप जितना परिष्कृत होगा मनुष्य की दैवी सम्पत् उतनी ही समृद्ध होगी। उनके यज्ञ, तप, दान आदि कर्म उसी के अनुसार सञ्चालित होंगे। लोक-व्यवहार से मनुष्य को प्रवृत्त करने वाले ये कर्म सम्यग् रीति से हों, यह परिज्ञान गीता के इस अध्याय से होता है। हम तप करते हैं किन्तु तप की सात्विक विधि नहीं जानते हैं, यज्ञ करते हैं किन्तु याज्ञिक अनुष्ठान से अपरिचित रहते हैं, हम दान करते हैं किन्तु दान के रूप और दान की सही भावना को नहीं पहचानते हैं; फलतः हमारी सारी क्रियाएं व्यर्थ होती हैं। गीता में इस प्रकार के लोक-व्यवहार और आचार संहिता को प्रतिपादित कर श्रीकृष्ण ने अर्जुन को सात्विक जीवनचर्या का पाठ पढ़ाया है। गीता के ये तीनों अध्याय किसी भी नीतिशास्त्र के ग्रन्थ से बढ़कर हैं। व्यक्तिगत चरित्र और समष्टिगत आचरण का ऐसा सुन्दर निरूपण कहीं अन्यत्र उपलब्ध नहीं होता है।

गीता की प्रासंगिकता

आधुनिक युग-संदर्भ में यदि हम गीता पर विचार करे तो हमें प्रतीत होगा कि आज के संघर्षमय युग में गीता का उपदेश अधिक प्रासंगिक है। अर्जुन जिस व्यामोह में फंसा था आज का मनुष्य उससे अधिक गम्भीर मोह में में ग्रस्त है। विज्ञान के भौतिक विकास ने मनुष्य की आस्तिक भावना को संशय की देहरी पर ला खड़ा किया हैं। ईश्वर-विश्वास दोलायमान है। चित्त चञ्चलता है। आस्था स्खलित है। कर्म-निष्ठा पर अंधविश्वास का आवरण आच्छादित है। मानवता पथभ्रष्ट होकर भौतिकता की अंधी गली में भटक गयी है 'किं कर्म, किम् अकर्मेति—का विचार मनुष्य को संशयग्रस्त बनाकर कर्म-विमुख कर रहा है। ऐसी स्थिति में गीता का उपदेष्टा कहता है कि स्थितप्रज्ञ बनो। वासनाओं और कुण्ठाओं से मुक्त बनो। दुःख में उद्विग्न मत रहो, सुख में डूबकर आसक्त न बनो, प्रीति, भय, क्रोध आदि छोड़कर स्थितप्रज्ञ बनो :

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

गीता 2.56

इस प्रकार की स्थितप्रज्ञता में जो व्यक्ति कर्म में आस्था भोग में अनास्था; दैवी सम्पत्ति में विश्वास और आसुरी सम्पत्ति से विरिक्त रखकर जीवन-यापन करता है उसके

य इत् तद्विदुस्ते अमृतत्वमानशुः (अथ० 9।10।1)
जो उस ब्रह्म को जान लेते हैं वे मोक्षपद पाने हैं।

लिए गीता से बढ़कर जीवन में कोई सक्षम संबल नहीं है। भगवान् कृष्ण ने ऐसे सच्चे विश्वासी भक्त को आश्वासन देते हुए कहा है—सब धर्मों को छोड़कर मेरी शरण में आजा, मैं तुझे सब पापों से मुक्त करूंगा, तू किसी प्रकार का भय या चिन्ता मत कर :

सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
ग्रहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

गीता 18.66

भगवान् श्रीकृष्ण की यह वाणी जितने आत्मविश्वास के साथ उच्चरित हुई है यदि भक्त उसे उतने ही विश्वास और आस्था के साथ ग्रहण करे तो निश्चय ही उसमें ईश्वर-विश्वास का उदय होगा और वह आज के द्वन्द्व-संघर्ष को विस्मृत कर कर्ममार्ग में निष्ठापूर्वक संलग्न हो सकेगा।

उपसंहार

गीता के सम्यक् अनुशीलन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि गीता किसी एक मार्ग, पद्धति, दर्शन या सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का प्रतिपादक ग्रन्थ नहीं है यह समन्वित जीवन-दर्शन को प्रस्तुत करने वाला समन्वयवादी ग्रन्थ है जिसमें कर्म की प्रेरणा, कर्मफल-त्याग का उपदेश, ज्ञान–विज्ञान के विविध पक्षों का उद्घाटन, भक्ति-पद्धति का का विवेचन. लोक-संग्रह के लिए कर्तव्य का निर्धारण, मानव-जीवन की पूर्णता के लिए दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति का परिज्ञान, लोक-व्यवहार के लिए आचरण की मर्यादा का संकेत तथा सम्पूर्ण आचार-संहिता का निर्देश किया गया है। अध्यात्म के उच्च धरातल से लेकर दैनन्दिन लौकिक स्तर के कर्तव्य-कर्म का परिज्ञान जैसा इस ग्रन्थ से होता है वैसा किसी अन्य ग्रन्थ से नहीं होता है। गीता अध्यात्म के स्तर पर उपनिषद् है, चिन्तन के स्तर पर दर्शन है, आचार-मर्यादा के स्तर पर नीतिशास्त्र है, विधि-विधान के स्तर पर धर्मशास्त्र है, कर्तव्य-कर्म के स्तर पर यह व्यवहारशास्त्र है। गीता का उपदेश मनुष्य को सत्कर्म की प्रेरणा देकर कर्मयोग में प्रवृत्त करता है; कार्पण्य और क्लैब्य से मुक्त करता हैं, पुरुषार्थ, पौरुष और साहस से परिपूर्ण करता है; छल-छन्द से छुटकारा दिलाकर सत्वगुण के साथ दैवी सम्पत् की ओर अभिमुख करता है। गीता का उपदेश व्यावहारिक दृष्टि से उपादेय है, काम्य है, सुगम है, व्यवहार्य है। कर्म और अकर्म की पहचान के लिए इससे अच्छे ग्रन्थ को पा लेना असम्भव है। सांसारिक प्रलोभनों के बीच भटकने वाले मनुष्य के लिए गीता से अच्छा पथ-प्रदर्शक कोई दूसरा ग्रन्थ संसार में है ही नहीं।

गीता में भक्ति का जो रूप श्रीकृष्ण ने वर्णित किया है वह भी अद्भुत है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं कि जो अनन्यनिष्ठ लोग मेरा चिन्तन कर मेरा भजन करते हैं, उन नित्य योगयुक्त पुरुषों का योग-क्षेम मैं स्वयं वहन करता हूं :

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

गीता 9.22

योग-क्षेम अर्थात् सांसारिक नित्य-निर्वाह का दायित्व जिस भक्ति के लिए भगवान् उठाते हैं वह अनोखी भक्ति है।

गीता ज्ञान का भाण्डार है, इस भण्डार में मानवमात्र के लिए ग्राह्य तत्व संकलित हैं। यह किसी देश, जाति. राष्ट्र या धर्म की सम्पत्ति नहीं है। न तो इसकी कोई भौगोलिक सीमा है और न साम्प्रदायिक संकीर्ण मर्यादा। अत: इसके उपदेश को सभी मानव आत्म-कल्याण के लिए स्वीकार कर सकते हैं। संघर्षरत मानव के लिए कर्म की अनिवार्यता है, अतः उसके लिए गीता में कर्मयोग है; निवृत्ति मार्ग से जीवन यापन करने वाले वैरागी के लिए गीता में ज्ञानमार्ग है; ईश्वर की भक्ति में लीन रहते वाले भक्त जन के लिए गीता में भक्तिमार्ग है। इन त्रिविध मार्गों के साथ जीवन-निर्माण की प्रक्रिया, जीवन को सफल बनाने की विधि और जीवन के गूढ़ रहस्यों को समझने की पद्धति गीता में ओतप्रोत है। आज का युग कर्म का युग है। कर्म को सत्कर्म के रूप में तभी परिणत किया जा सकता है जब उसमें से फलासक्ति का परित्याग किया जा सके। गीता इसी कर्म की प्रेरणा देकर संसार को रहने योग्य, अनासक्त भाव से भोगने योग्य और जीवन को सफलतापूर्वक व्यतीत करने योग्य बनाती है। गीता आज के युग-संघर्ष में मानव की आस्था को नया संबल, कर्म-संकल्प की नई दीप्ति और जिजीविषा की नई तेजस्विता प्रदान करने में समर्थ है।

महे चन त्वामद्रिवः परा शुल्कायदेयाम् (ऋ. 8।1।5)
हे ईश्वर ! मैं तुझे किसी कीमत पर भी न छोड़ूं।

उग्र खण्डन के सहृदय साधक

—प्रो० उमाकांत उपाध्याय एम० ए०
आर्यसमाज, कलकत्ता

स्वामी दयानन्द सरस्वती अति निर्भीक एवम् दयालु प्रचारक थे। वे अन्याय और असत्य का विरोध करना मनुष्य का धर्म समझते थे। उन्होंने 'सत्यार्थ प्रकाश' में स्वमन्तव्यामन्तव्य लिखा है "मनुष्य उसी को कहना कि मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि लाभ को समझे। अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे, और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं, किन्तु अपने सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं की चाहे वे महाअनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हों, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान्, और गुणवान् भी हो, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करे। अर्थात् जहाँ तक हो सके वहाँ तक अन्यायकारियों की बल की हानि और न्यायकारियों के बल की उन्नति सर्वदा किया करे। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भी भले ही जावे परन्तु इस मनुष्य रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे।"

यह स्वामी दयानन्द के चिन्तन का सारांश था। जीवन के अन्तिम दिनों में जब स्वामी जी जोधपुर जाने के लिये उद्यत हुए, उस समय किसी ने स्वामी जी से कहा कि महाराज जोधपुर में कठोर खण्डन न कीजिएगा क्योंकि वहाँ बुराइयाँ बहुत हैं, लोग आपके जीवन के भूखे हो जायेंगे। स्वामी जी अपने आदर्शों के प्रति बहुत सुस्पष्ट थे। उनका सीधा सा उत्तर था, "पाप का पहाड़ नाखून काटनेवाली नाहन्नी से नहीं काटा जाता, उस पर तो फावड़ा और कुल्हाड़ा ही चलाना पड़ता है।" पाप का यह पहाड़ काटने में स्वामी दयानन्द को अपना जीवन उत्सर्ग कर देना पड़ा। वे अपने जीवन का मोह त्याग कर पाखण्ड और बुराइयों का विरोध करते रहे—

पी-पी के प्याले जहर के,
करते रहे उपकार वे।
चिन्ता थी प्यारे धर्म की,
सोचा भला जहान का।

सुधारकों को विरोध की उग्र साधना करनी ही पड़ती है। संसार के सभी सुधारकों को विरोध सहना पड़ा है और विरोध करना भी पड़ा है। विरोध की उग्र साधना शुभ चिन्तन का प्रमाण है। सर्वप्रियता या हरदिल-अज़ीज़ी राजनीति के खिलाड़ी का जीवनमर्म हो सकती है किन्तु सुधारक, हितैषी, देश जाति-धर्म का मंगलाभिलाषी कभी खण्डन से विरत नहीं होता। न्याय का पथ कठोरता का पथ है, सुधारक परम कारुणिक होता है। वह समझता है कि करुणा संत का सौदा नहीं है। करुणा करने वाले को करुणा का मूल्य देना पड़ता है। सुधारक परम कारुणिक और संवेदनशील होता है, उसे प्राणों का मूल्य चुकाने में भी हिचक नहीं होती—

अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्याय्यात् पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥

साधारण व्यक्ति अपने स्वार्थ के कारण, अन्धविश्वास के कारण, हठ और दुराग्रह के कारण असत्य का, बुराइयों का, कुरीतियों का समर्थन करने लग जाता है। स्वामी दयानन्द ने बुराइयों का घोर खण्डन किया है और अन्याय से त्रस्त लोगों के प्रति करुणा की भावना से उनके खण्डन

धियं वनेम ऋतया सपन्तः (ऋ० 2,11,12)
सदाचरण से परस्पर प्रेम करते हुए हम बुद्धि प्राप्त करें।

में कभी कभी कठोरता भी आ गई है किन्तु वास्तव में कठोरता के पीछे स्वामी जी का परम कारुणिक स्वरूप ही विद्यमान है।

स्वामी जी के काल में कन्याओं का पठन-पाठन नहीं होता था और पण्डित लोग वह प्रमाण देते थे कि वेद में स्त्री और शूद्र के पढ़ने का निषेध है वे—

"स्त्रीशूद्रौ नाधीयातामिति श्रुतेः"

यह प्रमाण देते थे। इस प्रकार के प्रमाणों से विक्षुब्ध होकर स्वामीजी ने लिखा है—"सब स्त्री और पुरुष अर्थात् मनुष्य मात्र को पढ़ने का अधिकार है। तुम कुएं में पड़ो और यह श्रुति तुम्हारी कपोल कल्पना से हुई है। किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की नहीं।"

—सत्यार्थप्रकाश, तृतीय समुल्लास

कई बार लोगों को यह खण्डन कठोर लगता है किन्तु जो अन्याय स्त्री और शूद्रों के प्रति हुआ है उसे लोग भूल जाते हैं।

इसी प्रकार पुराणों के पामर प्रसंगों को देखकर, उनके दुष्परिणामों से देश की दुर्गति देखकर स्वामी जी ने लिखा है—"इन भागवतादि पुराणों के बनानेहारे जन्मते ही क्यों नहीं गर्भ ही में नष्ट हो गये? वा जन्मते समय पर मर क्यों न गये? क्योंकि इन पापों से बचते तो आर्यावर्त देश दुःखों से बच जाता।"

—सत्यार्थप्रकाश, एकादश समुल्लास

इसप्रकार के और भी कठोर वाक्य स्वामी जी के व्याख्यानों, ग्रन्थों और अन्य समालोचनाओं में मिलते है। किन्तु इन कठोरताओं के पीछे एक ही भावना है कि संसार की बुराइयाँ दूर हों और मनुष्यमात्र सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करे। स्वामी जी ने यह अनुभव कर लिया था कि स्वार्थ के कारण लोग सत्य का विरोध करने लगते हैं। स्वामी जी ने अपने ग्रन्थों में यह सुस्पष्ट किया है कि वे सत्य के प्रचार के लिए और संसार के कल्याण के लिए खण्डन कर रहे हैं न कि किसी का दिल दुखाने के लिए।

संसार में जितने भी सुधारक हुए हैं उन सबके साथ यह बात घटती है। सुधारक मात्र को खण्डन करना पड़ता है और खण्डन में तो विरोध ही होता है। कभी कभी व्यंग्य आदि का मिश्रण भी हो जाता है। कबीरदास एक सुधारक थे। उन्होंने सुधार के दोहे लिखे हैं। ये दोहे कई बार विचित्र कटुता का पुट लिये होते हैं—

कांकर पाथर जोरि कै, मस्जिद लई चिनाय
ता चढ़ि मुल्ला बांग दे, क्या बहिरा हुआ खुदाय।

कबीर के इस दोहे में सुधारक की कटुता, निर्ममता की सीमा तक चली गई है। राजा राममोहन राय ने सती प्रथा का विरोध किया था। पण्डित ईश्वर चन्द्र विद्यासागर ने विधवा विवाह का समर्थन किया था। सबको विरोध करना पड़ा था सबको विरोध सहना पड़ा था। यह सुधारकों के लिए सार्वत्रिक नियम है।

स्वामी दयानन्द के खण्डनों में कोई व्यक्तिगत ईर्ष्या द्वेष या विरोध नहीं है। संसार के अन्य कई सुधारक धर्मगुरु बड़ी निर्मम आलोचना करते हुए देखे जाते हैं। आज ईसाई और मुसलमान स्वामी दयानन्द की आलोचनाओं की शिकायत करते हैं किन्तु ईसामसीह हों या हजरत मुहम्मद साहब, मार्टिन लूथर हों या राजा राम मोहन राय सबको कटु आलोचना करनी पड़ी थी है। ईसा मसीह ने यहूदी धर्म का विरोध किया। यहूदियों के पुरोहितों ने ईसामसीह का विरोध किया। ईसामसीह ने पुरोहितों के लिए जिन शब्दों का प्रयोग किया है उनकी कटुता निराली ही है। मैथ्यू द्वारा रचित इंजील में यह यहूदी पुरोहितों के लिए निम्न रूप में लिखा गया है—"हे स्क्राइब तथा फैरिसी लोगो! तुम्हारा बुरा हो, क्योंकि तुम मनुष्यों के लिए स्वर्ग के राज्य का द्वार बन्द करने

चोदय धियमयसो न धाराम् (ऋ० 6।47।10)
हे प्रभो! मेरी बुद्धि को लोहे से बने शस्त्र की धार के समान अति तीक्ष्ण बना।

वाले हो……तुम बेवकूफ़ और अन्धे हो, तुम सफेदी से पुती हुई कब्रों जैसे हो……तुम सांप हो, वाइपर नामक विषैले नाग की पीढ़ी हो……" 23–25–29

मार्टिन लूथर महान् सुधारक थे किन्तु उन्होंने मुस्लिम तुर्कों और पोप की तुलना करते हुए कहा था— "यदि तुर्क हमें जीत लेते हैं तो हम शैतान के हाथों में पड़ जायेंगे, किन्तु यदि हम पोप के अनुगामी बने रहे तो उसके साथ नरकगामी होंगे।" लूथर ने तो पोप को गधा और नैतिक पतन की नगरी का राज्यपाल (The Governer of Sodon) तक कहा था। इन सब आलोचनाओं को देखते हुए स्वामी दयानन्द की कठोर शब्दावली हल्की और अति शिष्ट लगती है।

स्वामी दयानन्द ने ईसाई और मुसलमानों की समालोचना भी की है। ईसामसीह के जन्म के सम्बन्ध में कुमारी मरियम के पवित्र आत्मा से दैवी गर्भ की आलोचना करते हुये स्वामी जी लिखते हैं—

"भला जो ईश्वर का नियम है, उसको कोई तोड़ सकता है? जो परमेश्वर भी नियमों को उलटा पलटा करे तो उसकी आज्ञा को कोई न माने और वह भी सर्वज्ञ और निर्भ्रम है। ऐसे तो जिस जिस कुमारी के गर्भ रह जाय तब सब कोई ऐसा कह सकते हैं कि इसमें गर्भ का रहना ईश्वर की ओर से है।"

स्वामी दयानन्द ने इसी प्रकार सूर्य से कुन्ती का गर्भवती होना भी ऐसा ही असम्भव प्रपंच लिखा है। ईसाई लोग इस तरह की आलोचनाओं से बहुत कुढ़ते हैं। केवल स्वामी दयानन्द ने ही नहीं, सुप्रसिद्ध ईसाई विचारक थामस पेन ने अपनी पुस्तक Age of Reason में लिखा है—

"यह कथा जिस रूप में बताई जाती है उस रूप में ईश्वर की निन्दा करने वाली तथा अश्लील है। इसमें विवाह के लिए वाग्दान की जांने वाली युवती का वर्णन है। सरल भाषा में इस दशा में पवित्र आत्मा ने अधर्मी होने के बहाने से उसका सतीत्व भ्रष्ट किया……"

इस समालोचना की तुलना में स्वामी दयानन्द की समालोचना अधिक तर्कसंगत और निष्पक्ष है। स्वामी जी ने जिस प्रकार मरियम की घटना की आलोचना की है उसी प्रकार कुन्ती से सूर्यपूत्र होने की भी आलोचना की है।

स्वामी जी ने मुसलमानों के बहिश्त की भी आलोचना की है। इस पर मुसलमान भी बहुत कुढ़ते हैं। स्वामी जी ने लिखा है—

"भला यह कुरान का बहिश्त संसार से कौन सी उत्तम बात वाला है? क्योंकि जो पदार्थ संसार में हैं वहीं मुसलमानों के स्वर्ग में हैं और इतना विशेष है कि यहां जैसे पुरुष जन्मते, मरते जाते और आते जाते हैं उस प्रकार स्वर्ग में नहीं……क्योंकि यह मुसलमानों का स्वर्ग गोकुलिए गोसाइयों के गोलोक और मन्दिर के सदृश दिखता है।"

स्वामी जी की यह आलोचना मुसलमानों को चुभती है किन्तु इसी के साथ प्रसिद्ध सुधारक सर सैयद अहमद खाँ ने अपनी कुरान की व्याख्या "तफसीरूल कुरान" में बहिश्त पर टिप्पणी करते हुये लिखा है—कि "यह एक बगीचे जैसा है, इसके महल संगमरमर के बने हुये हैं, इनमें मोती जड़े हुये हैं, हरे भरे पेड़ हैं, दूध, शराब और शहद की नहरें है, सब प्रकार के फल खाने के लिये हैं। बड़ी सुन्दर चाँदी की चूड़ियाँ पहने साकी प्यालों में शराब डाल रही है, चारों ओर विभिन्न मोहक कामोत्तेजक मुद्राओं में हूरें बैठी लेटी हुई हैं। बहिश्त का इस प्रकार का विचार इतना बेहूदा है कि कोई आश्चर्य से यह कहे बिना नहीं रह सकता कि यदि यही स्वर्ग है तो हमारे चकले बिना किसी अत्युक्ति के इनसे हजार गुना अच्छे हैं।"

स्वामी दयानन्द ने मुसलमानों के बहिश्त की तुलना में गुसाइयों के गोलोक और मन्दिरों का उदाहरण दिया है जबकि सर सैयद अहमद खाँ ने ऐसे बहिश्त को वेश्यालयों से भी हज़ार गुना खराब बताया है।

विश्वा द्वेषाँसि प्रभुमग्ध्यस्मत् (ऋ० 4।1।4)
हे प्रभो हमसे सब द्वेषों को पूरी तरह छुड़ा दो।

सच तो यह है कि सुधारक की समालोचना आइने के समान होती है। उसे ईर्ष्या द्वेष की निगाह से देखना अन्याय है। आइने के सामने खड़े व्यक्ति को यदि अपने चेहरे पर काजल का धब्बा दिखाई पड़े तो उसे शीशे पर क्रोध करने या शीशे को तोड़ने से कोई लाभ न होगा। शीशा तोड़ देने से दाग नहीं हट जायेगा या शीशे की बुराई करने से दाग नहीं मिट जायेगा। दाग चेहरे पर है आइना केवल उसे दिखा रहा है। सुधारक आइने के समान दोषों का दर्शन कराकर दोषों को दूर करने की प्रेरणा करते हैं। उन्हें किसी व्यक्ति या समाज से ईर्ष्या द्वेष नहीं होता। वे बुराइयों को चिढ़ाने के लिए कहते भी नहीं। सुधारक साधारण मनुष्यों से बहुत ऊपर के चरित्र वाले होते हैं। वे मनुष्य मात्र से प्रीति रखते हैं जब कभी उन्हें निर्मम कठोर समालोचना करनी पड़ती है तो वे कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर ही आलोचना या खण्डन करते हैं।

सुधारक समाज के सहृदय जीवन दाता हैं। बुराइयाँ घुन की तरह समाज की जीवनी शक्ति को चूस लेती हैं। सुधारक उन बुराइयों का, अन्धविश्वासों का उन्मूलन कर के समाज को नवजीवन दान करते हैं। स्वामी दयानन्द ने जहाँ आलोचना की है वहाँ उन्हें निर्ममता और निष्ठुरता से भी काम लेना पड़ा है किन्तु इस सब निष्ठुर खण्डन के पीछे समाज के प्रति कल्याण की भावना ही काम कर रही थी। ईर्ष्या द्वेष और घृणा का लेश भी नहीं था। कल्याण की सहृदय सावना उनके चरित्र की निर्विवाद विशेषता थी—

द्वन्द्वी देखते थे दल द्वेष द्वन्द्वियों के उसे
दिव्य दृष्टियों को दीख पड़ता निर्द्वन्द्व था
प्रबल प्रचण्ड पाखण्ड खण्ड करिबे को बज्र
गौरव गुमान गुण गरिमा गयन्द था
वाम वृन्दियों के बीच में फणरीन्द्र फणफन्द्र
वैदिक मिलिन्द मण्डली में मकरन्द था
दीन दुःखी दलित अनाथों का हुआ था हाथ
आर्यकुल कमल का दिनेश दयानन्द था।

□

जनं बिभ्रती बहुधा मिवाचसं नानाधर्माणं पृथ्वी यथौकसम्।
सहस्त्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ अथर्व 12.1.45

'विविध भाषाओं को बोलने वाले और नाना धर्मों को मानने वाले लोगों को भी अपने राष्ट्र में इस प्रकार प्रेम से मिलकर रहना चाहिए जैसे एक घर के लोग रहा करते हैं, इस प्रकार प्रेम से रहने लोगों के लिए राष्ट्र की भूमि सहस्रों प्रकार की सम्पत्ति की धारायें बहा देगी जैसे अपनी सेवा करने वाले के लिये दुधारु गाय अपने दूध की धारायें बहा देती है।'

स नः पर्षद् अतिद्विषः (अथर्व० 6।34।1)
ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक् कर दे।

आर्यसमाज और हिन्दी

—क्षेमचन्द्र "सुमन"

"अजय निवास" दिलशाद कालोनी, शाहदरा दिल्ली-110732

आर्यसमाज हमारे देश की ऐसी क्रान्तिकारी संस्था है, जिसने बहुत थोड़े समय में इतना बड़ा कार्य कर दिखाया, जो सदियों तक लगे रहने पर भी पूरा न हो पाता। यदि हम यह कहें तो कदाचित् अतिशयोक्ति न होगी कि भारत के स्वातन्त्र्य-संघर्ष का मार्ग-निर्देश करके उस दिशा में आगे बढ़ने का साहस भी आर्यसमाज ने ही देश के नागरिकों में उत्पन्न किया था। इसके स्वनामधन्य संस्थापक महर्षि दयानन्द सरस्वती ने अपने हाथ में उन्हीं कार्यों को लिया था जिन्हें बाद में भारतीय राष्ट्रीय महासभा (कांग्रेस) और उसके अनन्य सूत्रधार महात्मा गान्धी ने अपनाया था। महर्षि दयानन्द और महात्मा गान्धी सौभाग्यवश दोनों ही अहिन्दी-भाषी थे। दोनों की मातृभाषा गुजराती थी। महर्षि दयानन्द ने अपनी घनघोर तपस्या तथा अनन्य कर्तव्य-निष्ठा से जहाँ देश को सांस्कृतिक दृष्टि से सुपुष्ट और समृद्ध किया वहां महात्मा गान्धी ने राजनीतिक दृष्टि से उसे आगे बढ़ाया। हमारी ऐसी मान्यता है कि महर्षि दयानन्द ने अपने अमर ग्रन्थ 'सत्यार्थ-प्रकाश' में "कोई कितना ही करे, परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है", लिखकर जहाँ देश में 'स्वराज्य' का पावन मन्त्र प्रचलित किया था; वहाँ शिक्षा, धर्म, संस्कृति तथा सदाचार आदि की दृष्टि से उसे समृद्ध करने की दिशा में भी अथक परिश्रम किया था। अपनी इस पावन भावना की सम्पूर्ति के निमित्त ही उन्होंने सन् 1875 में आर्यसमाज की स्थापना की थी।

जिन दिनों हमारे देश में आर्यसमाज के संस्थापक महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का अवतरण हुआ था उन दिनों यहाँ सन् 1857 की क्रान्ति के उपरान्त मुगल साम्राज्य सर्वथा ध्वस्त हो चुका था और अंग्रेजी शासन की जड़ें मजबूती से जम गई थीं, साथ ही महारानी विक्टोरिया की घोषणा से देश में विचार-स्वातन्त्र्य की भावना उद्भूत हो गई थी। देश के कोने-कोने में ईसाईयों ने अपने धर्म के प्रचार के लिए केन्द्र स्थापित कर लिये थे। उधर बंगाल में राजा राममोहन राय और केशवचन्द्र सेन निरन्तर "हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान" की आवाज ऊंची कर रहे थे। दुर्भाग्यवश उक्त दोनों महानुभाव, क्योंकि संस्कृत के पंडित न थे अतः उन्होंने अपने-अपने धार्मिक आन्दोलन की नींव पाश्चात्य जीवन-प्रणाली के आधार पर डाली थी। इसके विपरीत महर्षि दयानन्द ने आर्य-भावनामूलक संस्कृति का प्रचार करने की दिशा में देश का उल्लेखनीय नेतृत्व किया था। उक्त दोनों महानुभावों का झुकाव जहां ईसाइयत और पाश्चात्य जीवन-पद्धति की ओर था वहाँ महर्षि दयानन्द भारतीय संस्कृति की प्रतिष्ठापना की ओर अग्रसर थे। यदि हम यह कहें तो कदाचित् अप्रासंगिक न होगा कि केशवचन्द्र सेन की पश्चिमोन्मुखी विचार-धारा को पूर्वाभिमुख करने का श्रेय भी महर्षि दयानन्द को ही है। महर्षि से उनकी भेंट सन् 1873 में उस समय हुई थी जब वे कलकत्ता गए हुए थे। श्री सेन से सम्पर्क होने से पूर्व महर्षि दयानन्द सरस्वती

त्वम् आविथ नर्यम्। (ऋ. 1.54.6)
तू नरों का हित करने वाले का संरक्षण करता है।

संस्कृत में ही भाषण दिया करते थे और शरीर पर कोई वस्त्र धारण न करके 'कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः' के अनुसार केवल कौपीन ही पहनते थे। श्री सेन प्रायः अपने विचार अंग्रेजी के द्वारा ही प्रकट किया करते थे। वे स्वामी जी की विचार-धारा को जानना तथा समझना चाहते थे, किन्तु संस्कृत से अपरिचित होने के कारण वे उससे वंचित थे। स्वामी जी के अंग्रेजी-ज्ञान से विहीन होने के प्रति उन्होंने जो भाव प्रकट किये थे वे इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। उन्होने कहा था—"शोक है कि वेदों का अद्वितीय विद्वान् अंग्रेजी नहीं जानता, अन्यथा इंगलैण्ड जाते समय वह मेरा इच्छानुकूल साथी होता।" इस पर स्वामी जी ने जो भाव प्रकट किये थे उन्होंने भी श्री सेन को हतप्रभ कर दिया था। स्वामी जी ने कहा था—"शोक है कि ब्रह्मसमाज का नेता संस्कृत नहीं जानता और लोगों को उस भाषा में उपदेश देता है जिसे वे नहीं समझते।"

हमें यहाँ यह मानने में तनिक भी संकोच नहीं है कि केशवचन्द्र सेन से कलकत्ता में हुआ यह सम्पर्क जहां स्वामी दयानन्द के लिए एक अभूतपूर्व प्रेरणादायक सिद्ध हुआ वहाँ उससे देश की भावी उन्नति का द्वार भी उद्घाटित हो गया। श्री केशवचन्द्र सेन की प्रेरणा पर स्वामी जी ने जहाँ हिन्दी में व्याख्यान देना स्वीकार किया वहाँ उनके आग्रह पर उन्होंने वस्त्र धारण करना भी प्रारम्भ कर दिया था। इन दोनों महापुरुषों का यह स्नेह-सम्पर्क देश के लिए यहाँ तक लाभकारी सिद्ध हुआ कि उसके कारण स्वामी जी ने अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की रचना संस्कृत में न करके हिन्दी में की। यहां यह उल्लेखनीय तथ्य है कि अपनी कलकत्ता-यात्रा से पूर्व स्वामी जी ने इस ग्रन्थ का लेखन संस्कृत में प्रारम्भ कर दिया था। इस प्रकार हम यह निःसंकोच कह सकते हैं कि श्री केशवचन्द्र सेन देश के ऐसे पहले राष्ट्रीय नेता थे जिन्होंने 'राष्ट्रभाषा हिन्दी' के महत्व को हार्दिकता से समझकर स्वामीजी को हिन्दी-लेखन और भाषण के प्रति उन्मुख किया था। श्री सेन की राष्ट्रभाषा हिन्दी के प्रति कितनी निष्ठा थी उसका परिचय हमारे पाठक उनके 'सुलभ समाचार" नामक बंगला पत्र में प्रकाशित इन शब्दों में भली-भाँति प्राप्त कर सकते हैं—"यदि भारतवर्षं एकना हइले भारतवर्षं एकता ना हय, तबे ताहार उपाय की? समस्त भारतवर्षे एक भाषा व्यवहार कराइ, उपाय एखन। जो मुलि भाषा भारतवर्षे प्रचलित आछे ताहार मध्ये हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र प्रचलित एह। हिन्दी भाषा के यदि भारतवर्षेर एक मात्र भाषा करा जाय, तबे अनायासे शीघ्र सम्पन्न हइते पारे।" अर्थात् उनकी यह दृढ़ मान्यता थी कि इस समय भारतवर्ष में जितनी भाषाएं प्रचलित हैं उनमें हिन्दी भाषा प्रायः सर्वत्र प्रचलित है। इस हिन्दी भाषा को यदि भारतवर्ष की एकमात्र भाषा बनाया जाय तो यह कार्य अनायास ही शीघ्र सम्पन्न हो सकता है। एक भाषा के विना एकता नहीं हो सकती।

श्री सेन के इस सम्पर्क से प्रेरित होकर स्वामी जी ने जहां अपने भाषणों द्वारा हिन्दी का प्रशंसनीय प्रचार किया वहां उन्होंने अपने ग्रंथ भी हिन्दी में लिखने प्रारम्भ कर दिए। जिन दिनों स्वामी जी ने आर्यसमाज की स्थापना की थी उन दिनों देश में प्रायः उर्दू का ही बोल-बाला था। स्वामी जीं ने पुरानी सधुक्कड़ी हिन्दी को न अपनाकर उसे सर्वथा नई विचार-भूमि प्रदान की थी। वे भाषा को साहित्यिक दृष्टि से अलंकृत नहीं करते थे, बल्कि एक समाज-सुधारक का दृष्टिकोण ही उनकी भाषा में परिलक्षित होता है। स्वामी जी के प्रयास से जहां हिन्दी को एक सर्वथा नया रूप मिला वहां आर्यसमाज की पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी उनका देश में अधिकाधिक प्रचार हुआ। इसका सुपुष्ट प्रमाण डा0 रामरत्न भटनागर के उन शब्दों से मिल जाता है जो उन्होंने पत्र-

नृणां नयो नृतमः (ऋ. 10।29।1)
मानवों में श्रेष्ठ मनुष्य मानवों का हित करता है।

कारिता–सम्बन्धी अपने शोध-प्रबन्ध में लिखे थे। उन्होंने लिखा था--"उर्दू के मध्य में हिन्दी की नींव दृढ़ करने वाली और भी एक महत्वपूर्ण शक्ति थी और वह थी आर्यसमाज। अपने अनेक मासिक एवं साप्ताहिक पत्रों के प्रकाशन के द्वारा उसने हिन्दी के प्रभावशाली प्रचार का कार्य किया था। सर्वप्रथम सन 1870 में शाहजहां पुर से मुन्शी बख्तावर सिंह ने "आर्यदर्पण" नामक साप्ताहिक पत्र प्रारम्भ किया था और उसके बाद से अनेक पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन आर्यसमाज की ओर से होता चला आ रहा है।" इससे स्पष्ट है होता है कि आर्य-समाज की स्थापना से 5 वर्ष पूर्व ही महर्षि दयानन्द के साप्ताहिक पत्र का प्रकाशन प्रारम्भ किया था। इसी प्रकार स्वामी जी के एक और अन्यतम शिष्य मनीषी समर्थदान ने सन् 1886 में अजमेर से "राजस्थान समाचार" नामक पत्र का सम्पादन-प्रकाशन प्रारम्भ किया था। स्वामी जी ने जहां हिन्दी के प्रचार एवं प्रसार के लिए अपने अनेक अनुयायियों को प्रेरित किया वहां उसे "आर्य भाषा के पावन अभिधान से भी अभिषिक्त किया।

स्वामी जी की अद्वितीय हिन्दी-निष्ठा का परिचय एक बार उस समय भी मिला था जब एक बार पंजाब में उनसे किसी सज्जन ने उनके समस्त ग्रन्थों का उर्दू में अनुवाद करने की अनुज्ञा मांगी थी। उस समय उन्होंने बड़े प्रेम से जो उत्तर दिया था वह आज भी हिन्दी की स्थिति को अत्यन्त दृढ़तापूर्वक प्रस्तुत करता है। उन्होंने लिखा था—"भाई! मेरी आंखे तो उस दिन को देखने के लिए तरस रही हैं जब कश्मीर से कन्याकुमारी तक सब भारतीय एक भाषा को समझने और बोलने लगेंगे। जिन्हें सचमुच मेरे भावों को जानने की इच्छा होगी वे इस "आर्य भाषा" की सीखना अपना कर्तव्य समझेंगे। अनुवाद तो विदेशियों के लिए हुआ करते हैं।" वास्तव में स्वामी जी की यह भावना अक्षरशः चरितार्थ हुई और समग्र देश में उनके क्रांतिकारी विचारों को जानने तथा समझने के लिए ही हिन्दी का प्रचलन तेजी से हुआ। अपने प्रख्यात ग्रन्थ 'सत्यार्थ प्रकाश' की भाषा के सम्बन्ध में उन्होंने उसके द्वितीय संस्करण की भूमिका में यह ठीक ही लिखा है—"जिस समय मैंने यह ग्रंथ "सत्यार्थ प्रकाश" बनाया था उस समय और उससे पूर्व संस्कृत भाषण करने, पठन-पाठन में संस्कृत ही बोलने और जन्मभूमि की भाषा गुजराती होने के कारण मुझको इस भाषा का विशेष परिज्ञान नहीं था, इससे भाषा अशुद्ध बन गई थी। अब भाषा बोलने और लिखने का अभ्यास हो गया है। इसलिए इस ग्रंथ को भाषा-व्याकरणानुसार शुद्ध करके दूसरी बार छपवाया है।

हिन्दी के व्यवहार, प्रचार तथा प्रसार के प्रति स्वामी जी कितने जागरूक रहते थे इसका ज्वलन्त प्रमाण उनका वह पत्र है जो उन्होंने 7 अक्तूबर सन् 1878 को दिल्ली से श्री श्याम जी कृष्ण वर्मा को लिखा था— "अबकी बार भी वेदभाष्य के लिफाफे पर देवनागरी नहीं लिखी गई। इसलिए तुम बाबू हरिश्चन्द्र चिन्तामणि से कहो कि अभी इस पत्र के देखते ही देवनागरी जानने वाला एक मुंशी रख लें जिससे कि काम ठीक-ठाक से हो, नहीं तो वेदभाष्य के लिफाफों पर रजिस्टर के अनुसार ग्राहकों का पता किसी देवनागरी जानने वाले से लिखवा लिया करें।" ये शब्द लगभग एक शती पूर्व के हैं। यह सही है कि देश की जनता ने सच्चे हृदय से महर्षि दयानन्द की इस भावना का आदर किया, किन्तु आज भी राजनीति से आक्रांत वातावरण में जहां-तहां हिन्दी–विरोध की आवाज सुनाई दे जाती है। जो लोग अहिन्दी भाषियों की दुहाई देकर हिन्दी के विकास का मार्ग अवरुद्ध करते रहते हैं, वे यह कैसे भूल जाते हैं कि अतीतकाल में राजा राममोहन

विश्वा द्वेषांसि प्रमुमग्ध्यस्मत् (ऋ. 4।1।4)
हे प्रभो ! हमसे सब द्वेषों को पूरी तरह छुड़ा दो।

राय, केशवचन्द्र सेन, जस्टिस शारदाचरण मित्र, नगेन्द्रनाथ वसु, नवीनचन्द्र राय, भूदेव मुखोपाध्याय, लोकमान्य तिलक और महर्षि दयानन्द भी अहिन्दी भाषी-ही थे । यहां तक कि महात्मा गान्धी भी गुजराती ही थे, जिन्होंने हिन्दी का समर्थन ही नहीं किया प्रत्युत दक्षिण में हिन्दी-प्रचार की जो ज्योति जगाई, वह उनके हिन्दी-प्रेम की ज्वलंत साक्षी है। दक्षिण हिन्दी-प्रचार के समय महात्मा गान्धी के दाहिने हाथ चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य तक की बीमार आंखों को भी राजनीति के कारण हिन्दी का प्रकाश खटकने लगा था। महात्मा गान्धी ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में प्रयुक्त करने की अपील करते हुए एक बार यह सही ही कहा था—"जैसे अंग्रेज अपनी मातृभाषा अंग्रेजी में ही बोलते हैं और सर्वथा उसे ही व्यवहार में लाते हैं—वैसे ही मैं आपसे प्रार्थना करता हूं कि आप हिन्दी को भारत-माता की एक भाषा बनाने का गौरव प्रदान करें। हिन्दी सब समझते हैं। इसे राष्ट्रभाषा बनाकर हमें अपना कर्तव्य-पालन करना चाहिए।"

यह महर्षि दयानन्द का ही प्रताप है कि आज हिन्दी इस रूप में पल्लवित तथा पुष्पित होकर एक ऐसे विशाल वटवृक्ष का रूप धारण कर गई है कि इसका साहित्य किन्हीं अंशों में भारत ही क्या विश्व की बहुत-सी भाषाओं से आगे बढ़ गया है। महर्षि दयानन्द और उनके द्वारा संस्थापित तथा प्रवर्तित आर्यसमाज के सुधारवादी आन्दोलन के कारण देश के अधिकांश नेताओं, सुधारकों, शिक्षा-शास्त्रियों और साहित्यकारों का ध्यान आर्यभाषा हिन्दी के उन्नयन की ओर आकर्षित हुआ और एक दिन वह भी आया जबकि शासन में प्रचलित उर्दू तथा फारसी लिपि के स्थान पर अदालतों और विद्यालयों आदि में हिन्दी का पठन-पाठन और व्यवहार तेजी से होने लगा। काशी के श्री रामनारायण मिश्र ने हिन्दी के इस मिशन को पूरा करने के लिए अपने दो कर्मठ युवक व साथियों (बाबू श्यामसुन्दरदास तथा ठा० शिवकुमार सिंह) के सहयोग से 16 जुलाई सन् 1893 को वहां "नागरी प्रचारिणी सभा" की स्थापना की और उसके माध्यम से कालान्तर में एक मई सन् 1910 को अखिल भारतीय हिन्दी 'साहित्य सम्मेलन प्रयाग' की संरचना की गई। हमारे पाठकों में से कदाचित् बहुतों को यह मालूम न होगा कि श्री राम-नारायण मिश्र आर्यसमाज तथा महर्षि दयानन्द के पक्के अनुयायी एवं भक्त थे। महर्षि दयानन्द के इस स्वप्न को साकार रूप देने की दिशा में जहाँ "नागरी प्रचारिणी सभा' और 'हिन्दी साहित्य सम्मेलन' उल्लेखनीय योगदान दे रहे थे वहां आर्यसमाज के द्वारा संस्थापित अनेक गुरुकुलों और डी. ए. वी कालेजों की भी अभिनन्द-नीय एवं उल्लेखनीय भूमिका रही थी। नागरी प्रचारिणी सभा और हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने जहाँ समग्र देश में हिन्दी का वातावरण तैयार किया वहां आर्यसमाज और उसकी अन्य संस्थाओं ने अनेक सुधारक, उपदेशक, प्रचारक और साहित्यकार प्रदान किये। महात्मा मुन्शी राम (स्वामी श्रद्धानन्द) तथा स्वामी दर्शनानन्द सरस्वती (पण्डित कृपाराम शर्मा) ने जहाँ "गुरुकुल कांगड़ी विश्व-विद्यालय" और "गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर" जैसी आदर्श शिक्षा-संस्थाओं को जन्म दिया वहाँ महात्मा हंसराज और लाला देवराज ने भी 'डी. ए. वी. कालेज लाहौर' तथा 'कन्या महाविद्यालय जालन्धर' जैसे क्रान्तिकारी शिक्षणालयों की स्थापना करके इस क्षेत्र की समृद्धि एवं अभिवृद्धि में प्रशंसनीय सहयोग दिया। इन सभी संस्थाओं में जहाँ हिन्दी के माध्यम से विभिन्न विषयों की उच्चतम शिक्षा देने का प्रबन्ध किया गया वहां दूसरी ओर संस्कृत-वाङ्मय के विभिन्न अंगों, उपांगों तथा वेदों के विधिवत् अध्ययन की व्यवस्था भी की गई। इसका सुपरिणाम यह हुआ कि जहां गुरुकुलों के द्वारा भारतीय संस्कृति के पारंगत विद्वान् स्नातक दीक्षित हुए वहां डी. ए. वी. कालेजों से वैदिक सिद्धान्तों के विधिवत् अध्ययन का लाभ प्राप्त कर अंग्रेजी भाषा में निष्णात

स नः पर्षद् अतिद्विषः (अथ. 6।34।1)
ईश्वर हमें द्वेषों से पृथक कर दे।

युवक-समुदाय भी कार्यक्षेत्र में अवतरित हुआ। देश को उच्चकोटि के मनीषी, विद्वान् और विचारक देने का कार्य जहाँ उक्त संस्थाओं के द्वारा हुआ वहां आर्यसमाज की सैद्धान्तिक भावनाओं के प्रचार के लिए देश के कोने-कोने में और भी अनेक संस्थाएं स्थापित की गई। ऐसी संस्थाओं में "गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन", "कन्या गुरुकुल देहरादून", "दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय लाहौर", "दयानन्द उपदेशक विद्यालय लाहौर" तथा "आर्य मुसाफिर विद्यालय आगरा" आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन संस्थाओं ने जहां आर्यसमाज को अनेक उच्च कोटि के विद्वान्, वक्ता, प्रचारक, पत्रकार, लेखक और उपदेशक प्रदान किये वहां भारत तथा विदेशों में प्रचलित विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों और मतों के सिद्धान्तों की जानकारी रखने वाले अनेक शास्त्रार्थ-महारथी भी तैयार किये।

शिक्षा के क्षेत्र में नया प्रयोग करने के साथ-साथ अपने सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए आर्यसमाज ने पत्रकारिता के क्षेत्र में जो क्रान्तिकारी कार्य किया उसके द्वारा हिन्दी भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि की दिशा में भी अत्यन्त उल्लेखनीय ऊपलब्धि हुई। इन पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से जहां हिन्दी की लोकप्रियता बढ़ी वहां उसे ऐसे अनेक कुशल सम्पादक भी मिले जिनकी सम्पादन-पटुता और लेखन-शैली का आज भी हिन्दी-साहित्य में अपना सर्वथा विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री रुद्रदत्त शर्मा सम्पादकाचार्य, साहित्याचार्य पद्मसिंह शर्मा और महात्मा मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द) के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। रुद्रदत्त शर्मा ने जहाँ आर्यजगत् के प्रमुख पत्र "आर्य मित्र" का सम्पादन अनेक वर्ष तक सफलतापूर्वक किया था वहाँ पण्डित पद्मसिंह और महात्मा मुंशीराम ने "भारतोदय" तथा "सन्दर्भ प्रचारक" जैसे प्रख्यात पत्रों का सम्पादन किया था। इन दोनों महानुभावों ने 'अखिल भारतीय हिन्दी साहित्य' सम्मेलन के—क्रमशः मुजफ्फरपुर और भागलपुर—अधिवेशनों की अध्यक्षता भी की थी। महात्मा मुन्शीराम की जहाँ हिन्दी में लिखी आत्मकथा "कल्याण मार्ग का पथिक" साहित्य की अमूतपूर्व निधि है वहाँ शर्मा जी को सर्वप्रथम उनके समीक्षा ग्रन्थ "विहारी सततई का संजीवनभाष्य" पर सम्मेलन का "मंगलाप्रसाद पुरुस्कार" भी सर्वप्रथम सन् 1932 में प्रदान किला गया था। मंगलाप्रसाद पुरस्कार प्राप्त करने वाले अन्य आर्य विद्वानों में प्रो. सुधाकर एम. ए., डा. त्रिलोकीनाथ वर्मा, प्रो. सत्यकेतु विद्यालंकार, श्री गंगाप्रसाद उपाध्याय, श्री जयचन्द विद्यालंकार, श्रीमती चन्द्रावती लखनपाल, डा. वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, श्री उदयवीर शास्त्री, तथा यशपाल आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिन्हें क्रमशः उनकी "मनोविज्ञान", "हमारे शरीर की रचना", "मौर्य साम्राज्य का इतिहास", "आस्तिकवाद", "भारतीय इतिहास की रूपरेखा", "शिक्षा मनोविज्ञान", "हर्ष चरित : एक सांस्कृतिक अध्ययन", "समाज शास्त्र के मूल तत्व", "सांख्य दर्शन का इतिहास" तथा "झूठा सच" आदि कृतियों पर यह पुरस्कार प्रदान किया गया था। इनमें से डा. वासुदेवशरण अग्रवाल को जहां उनकी "वेद-विद्या" नामक कृति पर यह पुरस्कार दुबारा मिला था वहां श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सन 1950 में कोटा (राजस्थान) में सम्पन्न हुए 38वें वार्षिक अधिवेशन की अध्यक्षता भी की थी। यहां यह तथ्य भी सर्वथा अवधारणीय है कि सम्मेलन के बम्बई में हुए 35वें अधिवेशन के अध्यक्ष महापंडित राहुल सांकृत्यायन के

समानो अध्वा प्रवता मनुष्यदे। (ऋ. 2।13।2)
अन्यत्र कहा है सबका कल्याण सोचो चाहे शूद्र हो चाहे आर्य।

साहित्यिक जीवन के निर्माण में भी आर्यसमाज का सराहनीय योगदान रहा है। राहुल जी का पहला हिन्दी-लेख सन 1916 में मेरठ के श्री रघुवीरशरण दुबलिश द्वारा सम्पादित "भास्कर" नामक मासिक पत्र में प्रकाशित हुआ था। उन दिनों राहुल जी आगरा के "आर्य मुसाफर विद्यालय" में पढ़ा करते थे और "केदारनाथ विद्यार्थी" के नाम से जाने जाते थे। इस सम्बन्ध में राहुल जी ने अपनी आत्मकथा में एक स्थल पर यह सही ही लिखा है—आर्यसमाज को मैंने गम्भीरता से ग्रहण किया था। वैराग्य-पन्थ की तरह "ग्रामम् गच्छन् तृणन् स्पृशति" के हल्के हृदय से नहीं स्वीकार किया था। इसलिए यथाशक्ति आर्य, सामाजिक विचारों के अनुसार चलने की कोशिश करता था।"

हिन्दी के प्रख्यात पत्रकार श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने जहां "आर्यमित्र" में सहकारी सम्पादक के रूप में अपने पत्रकार-जीवन का प्रारम्भ किया था वहां प्रख्यात समीक्षक डा. सत्येन्द्र और कहानीकार रामचन्द्र श्रीवास्तव "चन्द्र" भी इस पत्र के सहकारी सम्पादक रहे थे। उक्त तीनों ही महानुभावों ने "आर्यमित्र" में उन दिनों तक कार्य किया था जब वह आगरा से प्रकाशित होता था और श्री हरि-शंकर शर्मा उसका सम्पादन किया करते थे। यहां यह भी स्मरणीय है कि श्री शर्मा जी को उनकी काव्य-कृति "घास पात" पर "देव पुरस्कार" से सम्मानित किया गया था। सुप्रसिद्ध हिन्दी लेखक श्री लक्ष्मीधर वाजपेयी ने भी "सर्वानन्द" नाम से "आर्य मित्र" का कई वर्ष तक सम्पादन किया था। आर्यसमाज के व्यापक आन्दोलन से प्रभावित होकर अतीत काल में हिन्दी के जिन अनेक महानुभावों ने हिन्दी-साहित्य में अपना उल्लेखनीय स्थान बनाया उनमें सर्वश्री स्वामी सत्यदेव परिव्राजक, राधामोहन गोकुलजी, मूलचन्द अग्रवाल, रामजीलाल शर्मा, मातासेवक पाठक, द्वारकाप्रसाद सेवक और रामशंकर त्रिपाठी आदि के अतिरिक्त प्रेमचन्द, सुदर्शन और चतुरसेन शास्त्री अग्रगण्य कहे जा सकते हैं। वैदिक वाङ्मय और साहित्य की अन्य अनेक विधाओं की समृद्धि में भी आर्यसमाज के विद्वानों का कम योगदान नहीं है। ऐसे महानुभावों में सर्वश्री तुलसी राम स्वामी, श्री पाद दामोदर सातवलेकर, राजाराम शास्त्री, विश्वबन्धु शास्त्री, भगवद्दत्त बी. ए., गणपति शर्मा, नरदेव शास्त्री वेदतीर्थ, भाई परमानन्द, पण्डित आर्य-मुनि, आत्माराम अमृतसरी, रघुनन्दन शर्मा, आचार्य राम-देव, आचार्य अभयदेव, चन्द्रमणि विद्यालंकार, बुद्धदेव विद्यालंकार, भीमसेन विद्यालंकार, यज्ञदत्त विद्यालंकार, जयदेव विद्यालंकार, धनराज विद्यालंकार, विद्यानन्द विदेह, चन्द्रगुप्त वेदालंकार और रामावतार विद्याभास्कर के नाम वरेण्य हैं। डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने जहाँ अर्थशास्त्र और पुरातत्व के क्षेत्र में अपनी अभूतपूर्व प्रतिभा का परि-चय दिया था वहां साहित्य-समीक्षा की दिशा में डा. धीरेन्द वर्मा, डा. सूर्यकांत शास्त्री और प्रो. विश्वेश्वर सिद्धांत-शिरोमणि की देन भी सर्वथा अनन्य हैं। साहित्य के जिन अन्य अनेक क्षेत्रों में विगत वर्षों में उल्लेखनीय व्यक्तियों ने अपनी विशिष्ट प्रतिमा प्रदर्शित की थी उनमें सर्वश्री महेश-प्रसाद "मौलवी फाजिल", डा. रघुवीर, डा. मंगलदेव शास्त्री, डा. बाबूराम सक्सेना, डा. धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी, जगदीशचन्द माथुर, भवानीदास संन्यासी, अयोध्याप्रसाद बी. ए. रिसर्च स्कालर, द्विजेन्दनाथ सिद्धांतशिरोमणि, वंशीधर विद्यालंकार और वागीश्वर विद्यालंकार आदि के नाम अंगुलिगण्य है। पत्रकारिता के क्षेत्र में तो आर्यसमाज की प्रमुख संस्था गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय का स्थान सर्वोपरि है, जिसके अनेक स्नातकों ने अपनी विशिष्ट

मया पत्या जरदष्टिर्यथासः। अथर्व 14.1.50
हे पत्नि। तू मुझ पति के समान बुढ़ापे तक चलने वाली हो।

प्रतिभा से इस क्षेत्र को सर्वथा नये आयाम प्रदान किये हैं। प्रो. इन्द्र विधावास्पति ने जहाँ "सत्यवादी", "संद्धर्म प्रचारक" और "अर्जुन" के सम्पादन के माध्यम से हिन्दी पत्रकारिता को उल्लेखनीय गौरव प्रदान किया वहां गुरुकुल के दूसरे प्रतिष्ठित स्नातक सर्वश्री सत्यदेव विद्यालंकार, रामगोपाल विद्यालंकार, कृष्णचन्द विद्यालंकार क्षितीश वेदालंकार, डा.प्रशान्त वेदालंकार आदि की सेवाएं भी सर्वथा स्पृहणीय हैं।

आर्यसमाज ने जहां साहित्य की अनेक विधाओं की समृद्धि में अपना महत्वपूर्ण दाय प्रदान किया वहां काव्य के क्षेत्र में भी उसका स्थान सर्वथा विशिष्ट और चर्चनीय है। यह आर्यसमाज के सुधारवादी आंदोलन का ही प्रताप था कि भारतेंदु हरिश्चंद ने भी अपने काव्य का विषय उन्हीं कुरीतियों का बनाया था जिन्हें आर्यसमाज देश में सर्वथा समाप्त करना चाहता था। आर्यसमाज के इस आंदोलन ने राष्ट्रीय एवं सामाजिक जागरण के दिनों में जहां हिन्दी के अनेक प्रमुख लेखकों को प्रभावित किया वहां कवि भी उससे पूर्णतः आप्यायित हुए। हिन्दी साहित्य के आधुनिक युग का समग्र काव्य हमारी इस धारणा की सम्पुष्टि करता है। द्विवेदी युग के सर्वश्री मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध', गयाप्रसाद शुक्ल 'स्नेही', बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' तथा रामनरेश त्रिपाठी प्रभृति कवियों की रचनाएं इसकी साक्षी है। यहां तक की प्रख्यात युगान्तरकारी कवि श्री सूर्यकान्त "निराला" ने "महर्षि दयानन्द और युगान्तर" नामक लेख लिखकर महर्षि दयानन्द और आर्यसमाज के महत्व को स्वीकार किया था। आर्यसमाज के क्षेत्र में जिन कवियों की सेवाएं अविस्मरणीय रही हैं उनमें सर्वश्री नारायणप्रसाद 'बेताब' और नाथूराम शंकर शर्मा के नाम ऐसे हैं, जिन्होंने अपनी प्रतिमा के बल पर हिन्दी साहित्य के इतिहास में अपनी एक विशिष्ट छाप छोड़ी है। श्री 'बेताब' जहां उत्कृष्ट नाटककार तथा अभिनेता थे वहां काव्य-रचना के क्षेत्र में भी उनकी विशिष्ट देन थीं। कदाचित् हमारे बहुत से पाठकों को यह विदित न होगा कि आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों में गाए जाने वाले—

> अजव हैरान हूं भगवन्, तुम्हें क्योंकर रिझाऊं मैं,
> कोई वस्तु नहीं ऐसी, जिसे सेवा में लाऊं मैं,

गीत के लेखक श्री बेताब ही थे। उन्होंने इस गीत के के द्वारा जनता में जहाँ निराकारोपासना की भावनाएं प्रचारित की वहाँ इसमें तर्क एवं शिष्ट व्यग्य कीं झलक भी दृष्टिगत होंती हैं। "शंकर" जी ने अपनी रचनाओं में आर्यसमाज की विभिन्न प्रवृत्तियों का अच्छा विश्लेषण किया है।

आयंसमाज के इस उज्ज्वल अतीत की पावन परम्परा के अमर आलोक को देखकर हम यह निर्विवाद रुप से कह सकते है कि उसने सर्वथा ऐतिहासिक योगदान दिया था वहाँ उसको संवाहिका एवं प्रेरणा-शक्ति हिन्दी की अभिवृद्धि की दिशा में भी उसका कम महत्व नहीं कहा जा सकता। जब-जब भी हिन्दी के अस्तित्व को खतरा हुआ तब तब ही आर्यंसमाज तथा उसके अनुयायियों ने देश को दिशा देकर उसके महत्व को प्रतिष्ठापित करने में अपने कर्तव्य का पालन किया। इसका ज्वलन्त प्रमाण सन् 1957 में आर्यसमाज द्वारा पंजाब में चलाया गया "हिन्दी-सत्याग्रह" है। अब भी हिन्दी का अस्तित्व खतरे में है। आर्यंसमाज को इस दिशा में पहल करके देश को दिशादान देना चाहिए।

येनेद भतूं भुवन भविष्यत्, परिगृहीतममृतेन सर्वम्।
येन यज्ञस्तायते सप्तहोता तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जिस इस एक अमृत पदार्थं ने अतीत, अनागत और वर्तमान, इस सत्य संसार को धारण कर रहा है और जो सात स्तुति–पाटकों वाले जीवनरुपी यज्ञ को विस्तृत कर रहा है—वह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

मया पत्या प्रजावति संजीव शरदः शतम्। अथर्व 14.1.52
हे पत्नि! तू मुझ पति के साथ सौ वर्ष तक जीवित रहे

स्वाधीनता प्राप्ति में आर्यसमाज का योगदान

—डॉ० सरोज दीक्षा विद्यालंकार
7/2 रूपनगर, दिल्ली-7

महर्षि दयानन्द ने स्वराज्य, स्वदेशोन्नति और स्वायत्त-शासन के विषय में सत्यार्थप्रकाश में न केवल कुछ सूत्र लिखे थे वरन् अपने क्रियात्मक जीवन में देश की स्वाधीनता के लिये अथक प्रयत्न भी किया था। उनका उद्देश्य धर्म अथवा धार्मिक वृत्ति के आधार पर देश की उन्नति एवं स्वतन्त्रता ही था।

सन् 1866 में राजस्थान के पोलिटिकल एजेंट कर्नल ब्रुवरन जब सेवा-निवृत्त होकर इंगलैण्ड जाने लगे तो विदाई-सभा में पं० दयानन्द से भी कुछ कहने का अनुरोध किया गया तो बोले—'आप लन्दन पहुंचकर महारानी विक्टोरिया को कह दें—यदि भारतियों के धार्मिक जीवन में शासन इसी तरह हाथ डालता रहा और गाय जो भारत की अर्थव्यवस्था की रीढ़ और सांस्कृतिक जीवन का प्रतीक है, उसका वध जारी रहा तो 1857 की क्रान्ति फिर भी दोहराई जा सकती है। उनकी यह वीर गर्जना इस बात का प्रमाण है कि 1857 की क्रांति में उनका अवश्य योगदान रहा होगा। उन्होंने न केवल इस क्रांति में भाग लिया वरन् झांसी की रानी लक्ष्मीबाई, श्री तांत्या टोपे और अन्य बहादुर राजर्षियों को स्वतन्त्रता संग्राम में कूच करने का मन्त्र भी प्रदान किया।

यह सर्वविदित है कि स्वामी दयानन्द अपने जीवन के अन्तिम काल में राजस्थान की उदयपुर, शाहपुर, जयपुर तथा जोधपुर आदि देशी रियासतों में भ्रमण कर वहां जन-जागरण का शंखनाद कर रहे थे। उनकी हार्दिक इच्छा थी कि उन राज्यों के शासकगण अपने चरित्र तथा आचरण का सुधार करें जिससे वे अपनी प्रजा के प्रति न्याय करते हुए उचित परिवर्तन कर सकें। उनका वास्तविक उद्देश्य विदेशियों को अपने देश से निकालने के लिए उन्हें प्रेरित करना था।

सच तो यह है कि सर्वप्रथम देश को पूर्ण स्वतन्त्र कराने का स्वप्न दयानन्द ने ही लिया था। अपने अमर ग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश में उन्होंने कहा था—'कोई कितना ही करे परन्तु जो स्वदेशी राज्य होता है, वह सर्वोपरि उत्तम होता है।' यही कारण है कि कांग्रेस के इतिहासकार श्री पट्टाभिसीतारमैय्या ने महात्मा गांधी को जहां राष्ट्रपिता कहा वहां दयानन्द को राष्ट्रपितामह घोषित किया।

डॉ० बैले के अनुसार भारत की वर्त्तमान स्वतन्त्रता की आधारशिला दयानन्द ने रखी थी। शेक्यां शैला का कथन है—राष्ट्रीय पुनर्जागरण में जो समय दीख पड़ रहा है, दयानन्द ने प्रबल शक्ति के रूप में कार्य किया। थियोसोफिकल सोसाइटी की मैडम ब्लैवसकी ने कहा था—महर्षि दयानन्द ने ही सर्वप्रथम नारा लगाया था कि भारत भारतीयों का है। सर वैलटाइन सिरौल के अनुसार 'महर्षि दयानन्द के उपदेश हिन्दुओं को सुधारने के लिए न होकर केवल भारत में विदेशी प्रभाव का विरोध करने के लिए हैं।' दादा भाई नौरोजी ने सन् 1904 में कहा—मैंने' स्वराज्य शब्द सर्वप्रथम महर्षि दयानन्द के ग्रन्थों से सीखा।

तपसा चीयते ब्रह्म। मुण्ड. 1।1।8
तप से ही ब्रह्म (ज्ञान) वृद्धि को प्राप्त होता है।

श्रीमती एनी बेसेन्ट ने तो यहाँ तक कहा था—"जब स्वराज्य-मन्दिर बनेगा तो उसमें बड़े-बड़े नेताओं की मूर्तियां होंगी और सबसे ऊंची दयानन्द की होगी।

11 नवम्बर 1950 को ऋषि-निर्वाणोत्सव पर श्रद्धाँजलि देते हुए लौहपुरुष सरदार पटेल ने कहा—"स्वामी दयानन्द ने भारत की स्वाधीनता की वास्तविक नींव डाली थी।"

महान् दार्शनिक डा० राधाकृष्णन का भी यही मत है—'स्वामी जी ने स्वराज्य का जो सबसे पहला सन्देश हमें दिया था, उसकी आज हमें रक्षा करनी है।

दयानन्द द्वारा प्रदीप्त मशाल का ही परिणाम हुआ कि भावी आर्य-पीढ़ी में स्वतन्त्रता के यज्ञ में अपनी आहुति देने का संकल्प जागरित हुआ। स्वामी दयानन्द के शिष्य श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा क्रांतिकारी आन्दोलन के जनक माने जाते हैं। इन्हौंने 1905 में इंगलैंड में इण्डिया हाउस की स्थापना की थी तथा इस संस्था के माध्यम से विदेश-स्थित देशभक्त क्रांतिकारियों को संगठित करना आरम्भ कर दिया। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने स्वामी दयानन्द, महाराणा प्रताप तथा छत्रपति शिवाजी के नाम से देशभक्त छात्रों को छात्रवृत्तियां देकर अध्ययन की सुविधा प्रदान की, वीर सावरकर, लाला हरदयाल, सरदारसिंह राणा तथा भाई बालमुकुन्द आदि क्रांतिकारियों ने श्यामजी वर्मा से ही प्रेरणा ली थी। जब मदनलाल ढींगरा ने कर्जन बायली का बध किया तो श्यामजी का इंगलैंड में रहना कठिन हो गया। फलतः वह फ्रांस चले गए और वहां मैडम कामा के सहयोग से क्रांतिकारियों का संगठन करते रहे। अन्ततः उन्हें फ्रांस छोड़कर स्विटजरलैंड में जाकर रहना पड़ा। श्यामजी कृष्ण वर्मा ने 'इण्डिन सोशियोलोजिस्ट' पत्र निकालकर यूरोप में भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में धुंआधार प्रचार किया। उन्होंने क्रांतिकारी संगठन का जो बीजारोपण किया था वह अन्य युवकों के साथ अनेक आर्य युवकों के त्याग और बलिदान से पल्लवित और पुष्पित होने लगा।

भाई परमानन्द को पंजाब में क्रांतिकारी गतिविधियों के कारण सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा। हार्डिंग बम केस में हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक यशपाल की गिरफ्तारी हुई।

भाई बालमुकुन्द को तो लाहौर षड्यन्त्र केस में फांसी का दण्ड झेलना पड़ा। महात्मा हंसराज के पुत्र बलराज तथा नेशनल कालेज लाहौर में इतिहास के प्राध्यापक पं० जयचन्द विद्यालंकार ने पंजाब में क्रांतिकारी गतिविधियों को प्रोत्साहन दिया।

सन् 1916 में लाला लाजपत राय ने अमरीका जाकर भारत की स्वतन्त्रता के लिए वहां वातावरण उत्पन्न करने की दृष्टि से 'इंडिवन होम रूल' 'लीग' नामक संस्था की स्थापना की। उन्हीं के प्रचार का परिणाम था कि अमरीका की सरकार सदैव भारत की स्वतन्घता का समर्थन करती रही। इनकी बलिदान की कहानी कौन नहीं जानता? साइमन कमीशन का विरोध करते हुए उन्होंने जुलूस का नेतृत्व किया। गोरों ने इन पर लाठियां बरसाईं। लाला जी ने तब भी कहा तुम्हारी एक-एक लाठी का प्रहार ब्रिटिश सरकार के कफन की कील बनेगी।

स्वामी श्रद्धानन्द का भी देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में बहुत योगदान रहा हैं। 1918 में अमृतसर में कांग्रेस के अधिवेशन का सभापतित्व करके उन्होंने कांग्रेस को एक नई दिशा दी। 30 मार्च 1919 का दिन भी उनके जीवन

ऋतस्य पथि वेधा अपायि (ऋ 6।44।8)
सत्य के पथ में परमात्मा रक्षा करते हैं।

का ऐतिहासिक दिन है। रोलेट एक्ट का विरोध करने के लिए यह सार्वजनिक हड़ताल का दिन था। दिल्ली में यह कार्य स्वामीजी के नेतृत्व में सम्पन्न हो रहा था। उन द्वारा सम्बोधित सभा को गोरों ने दो बार सशस्त्र सेना द्वारा घेर लिया। पर स्वामी जी के धैर्य व शान्ति से वे वहां से टल गए। बाद में उनके नेतृत्व में जब जुलूस निकला तो चांदनी चौक के घण्टाघर पर गोरी सेना ने संगीनें तान लीं। स्वामी जी ने कहा गोली चलाओ। पर उस निर्भीक संन्यासी पर किसी को गोली चलाने की हिम्मत न हुई। एक अहिंसक निर्भय व्यक्ति की यह शानदार जीत थी। ब्रिटिश सरकार ने स्वामी जी को जेल में भी रखा।

यहां स्वामी स्वतन्त्रतानन्द जी का नाम भी आदर से स्मरण किया जाना चाहिए। स्वतन्त्रता आन्दोलन में उनकी भी सक्रिय भूमिका रही है।

भगतसिंह तथा उनके साथियों ने लाला लाजपतराय की मृत्यु का बदला लेने के लिए मेजर सांडर्स नामक अंग्रेज का वध कर डाला। भगतसिंह के पितामह सरदार अर्जुनसिंह स्वामी दयानन्द के उपदेश सुनकर ही आर्यसमाजी बने थे। उनके पिता सरदार किशनसिंह यदि मौनभाव से स्वदेश-सेवा में लगे थे तो उनके चाचा सरदार अजीतसिंह ने लाला लाजपतराय के साथ पंजाब के राजनीतिक जागरण में उल्लेखनीय योग दिया था।

उत्तरप्रदेश में क्रांतिकारी चेष्टाओं को तीव्रता प्रदान करने वाले अमर शहीद रामप्रसाद बिस्मिल आर्यसमाजी थे। जब काकोरी षड्यन्त्र केस में उन्हें फांसी की सजा सुनाई गई तो 16 सितम्बर 1927 को फांसी के तख्ते पर चढ़ने के मात्र 13 दिन पूर्व उन्होंने कारावास की कोठरी में बैठकर आत्मकथा लिखी। आत्मकथा में शहीद बिस्मिल ने अपनी मनोकामना व्यक्त करते हुए लिखा—'जब तक भारतवर्ष के नर-नारी पूर्णतया स्वतन्त्र न हो जाएं परमात्मा से मेरी यह प्रार्थना होगी कि वह मुझे इसी देश में जन्म दे ताकि उसकी पवित्र वाणी, 'वेदवाणी', का अनुपम घोष मनुष्यमात्र के कानों में पहुंचाने में समर्थ हो सकूं।'

गाँधी-युग की प्रथम शताब्दी की एक विलक्षण घटना अंग्रेजी न्यायालय का खुला अपमान है। विख्यात आर्य विद्वान् श्री पं०मनसाराम 'वैदिक तोप' सत्याग्रही के रूप में जेल गए। वे आंख पर पट्टी बांधकर न्यायाधीश की ओर पीठ करके बैठ गये। जब न्यायाधीश मिस्टर खाजा ने डांटकर पूछा यह क्या है? तो गरजकर आर्य विद्वान् ने कहा कि चाँदी के कुछ टुकड़ों के लिए देश और धर्म बेचने वाले की मैं शक्ल भी नहीं देखना चाहता। न्यायालय के अपमान का यह प्रथम अभियोग था जो किसी सत्याग्रही पर स्वराज्य-आन्दोलन में चला। 1930 ई० के आन्दोलन में देश भर में सहस्रों आर्यवीर सत्याग्रह करके जेल गए, किस-किस का नाम लें, स्वामी अभेदानन्द, आचार्य नरदेव शास्त्री, चन्द्रभानु गुप्त, चौ० चरणसिंह, चौ० वेदव्रत आदि सज्जन तो कभी पीछे रहे ही नहीं। पं० पूर्णचन्द्र विद्यालंकार, पं० वासुदेव विद्यालंकार,पं०अमरनाथ विद्यालंकार, न जाने कितने आर्य सत्याग्रही बनकर जेलों में गए। 1942 के आन्दोलन में पं० जयदेव वेदालंकार ने जेल की यातनाएं सहीं।

'इत्तिहादुल मुसलमीन' जैसी साम्प्रदायिक संस्था ने हैदराबाद को पाकिस्तान में मिलाने का जो भीषण षड्यन्त्र किया उसे निर्मूल कर, दक्षिण भारत की इस विशालतम रियासत को स्वतन्त्र भारत का अविभाज्य अंग बनाने का श्रेय हैदराबाद के आर्य समाजियों को ही है। विनायकराव विद्यालंकार, भाई वंशीलाल, भाई श्यामलाल तथा पं० नरेन्द्र के अथक प्रयासों के फलस्वरूप हैदराबाद की प्रजा को उसके अधिकार मिले। वीर रामचन्द्र वन्देमातरम् को कौन भूल सकता है, जो पीठ पर कोड़ा पड़ते ही वन्दे-

न स्तेयमद्मि। अथर्व. 14.1.57
हे पत्नी! मैं तुझसे स्तेय कर के कुछ नहीं खाऊंगा।

मातरम्' का उच्चारण करते थे। इसी से उनका नाम भी 'वन्देमातरम्' पड़ गया।

इस लेख में अन्य आर्य स्वतन्त्रता सेनानियों का स्थान के अभाव के कारण में उल्लेख नहीं कर सकी, किन्तु कुछ का नामोल्लेख अनिवार्य है—श्री खुशहालचंद (महात्मा आनन्द स्वामी) श्री गेंदालाल, पं० रोशन लाल, चौ० मुखत्यारसिंह, हरविलास शारदा, महादेव गोविंद रानाड़े, महाशय रतन चंद, पं० इन्द्र विद्यावाचस्पति, श्री रणवीर, महाशय कृष्ण, महात्मा नारायण स्वामी, श्री चांद करण, भाई वंशीलाल, श्री इशानंद, स्वामी गोपालदास गुरु, श्री कृष्णानंद, प्रो० ताराचंद, डा० युद्धवीरसिंह, भीमसेन सच्चर, डा० लहना-सिंह सेठी, चौ० हरिश्चन्द्र, श्री विनायकराव, श्री काशीनाथ घारुर, प्रो० भगवानदास हुतात्मा सालिग्राम, शहीद गणेश शंकर, डा० मुंशीराम आर्य, आचार्य मुक्तिराम, आचार्य रामदेव तथा कुछ प्रवासी भारतीय स्वामी भवानी दयाल, वी. डी. लक्ष्मण, पथिक तथा बहादुरदत्त आदि अनेक आर्य देशभक्तों ने स्वतन्त्रता-संग्राम में स्वयं भी भाग लिया तथा औरों को भी इस बलिदानी कार्य के लिए प्रेरित किया।

सच तो यह है कि भारत की स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए इतिहास का सर्वाधिक प्रमुख अध्याय आर्यसमाजी बलिदानियों का है। स्वतन्त्रता-प्राप्ति का कोई भी आंदोलन ऐसा नहीं था जिसमें आर्य युवकों ने बढ़-चढ़ कर भाग न लिया हो। कांग्रेस की स्थापना से दस वर्ष पूर्व ही आर्य समाज की स्थापना अप्रत्यक्ष रूप से देश की आजादी के लिए हुई थी। हम उन सभी स्वतन्त्रता-सेनानियों को नमन करते हैं तथा उनकी सी बलिदान वृत्ति को धारण करने को उनसे प्रेरणा प्राप्त करते हैं। ओम् शम्। ★

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्.
नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं,
तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥ (यजु 34।1–16)

जो चतुर सारथी की तरह बलवान् घोड़ों के समान मनुष्यों को (मानो) रासों द्वारा लगातार हांकता रहता है, जो हृदय स्थान में रहता है, जो कभी घिसता भी नहीं, और जो वेग में सबके आगे रहता है, वह यह मेरा मन अच्छे संकल्प वाला हो।

भूत्यै जागरणम् अभूत्यै स्वप्नम्। (यजु० 30.17)
जागना ऐश्वर्य प्रद है, सोना (आलस्य) दरिद्रता का मूल है।

मानव-निर्माण और आर्यसमाज

डॉ० प्रशान्त वेदालंकार, दिल्ली-७

आर्यसमाज का उद्देश्य : मानव-निर्माण

मनुष्य परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट कृति है। पर मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने के लिए एक महान् प्रयत्न की आवश्यकता है। ऋग्वेद में मनुर्भव कहकर मनुष्य को मनुष्य बनाने की प्रेरणा दी गयी है। यदि मानव-निर्माण का प्रयत्न न किया जाय तो मनुष्य निरा पशु रह जाय। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने इसी कारण आर्यसमाज का लक्ष्य कृण्वन्तो विश्वमार्यम् (ऋग्वेद) निर्धारित करके विश्व के प्रत्येक मानव को आर्य अर्थात् श्रेष्ठ बनाने का संकल्प किया था। आर्यसमाज के प्रथम अट्ठाईस नियमों में पहला नियम था—सब मनुष्यों के हितार्थ आर्य-समाज का होना आवश्यक है, आर्य-समाज का उद्देश्य सब मनुष्यों का हित करना है। महर्षि दयानन्द मनुष्य का हित उसे धार्मिक बनाकर उसे सच्चा मनुष्य बनाने में ही मानते थे। वर्तमान १० नियमों में छठा नियम है—संसार (मनुष्य मात्र) का उपकार करना (उसे सच्चा मनुष्य बनाना) इस समाज का मुख्य उद्देश्य है, और दयानन्द समाज का उपकार व्यक्ति की शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति में मानते हैं। इतिहास साक्षी है कि महर्षि दयानन्द और उन द्वारा स्थापित संस्था आर्य-समाज ने मनुष्य को सच्चे अर्थों में मनुष्य बनाने का ही प्रयत्न किया। महर्षि दयानन्द के उपर्युक्त विचार पर अपनी टिप्पणी करते हुए डा० विश्वनाथ प्रसाद वर्मा ने लिखा—अर्थात् मनुष्य की यह व्याख्या परोक्ष रूप से सामाजिक तथा राजनीतिक बुराई से लड़ाई की तैयारी है (देखिए माडर्न इण्डियन पुलिटिकल पार्ट, पृ० २६)

मानव-निर्माण के तत्त्व

महर्षि दयानन्द ने अनेक स्थानों पर मानव निर्माण के तत्त्वों पर प्रकाश डाला है। स्वमन्तव्या-मन्तव्य-प्रकाश में उन्होंने लिखा है—मनुष्य उसी को कहना जो मननशील होकर स्वात्मवत् अन्यों के सुख दुःख और हानि-लाभ को समझे, अन्यायकारी बलवान् से भी न डरे और धर्मात्मा निर्बल से भी डरता रहे। इतना ही नहीं किन्तु सर्वसामर्थ्य से धर्मात्माओं को चाहे वे महाअनाथ, निर्बल और गुणरहित क्यों न हो, उनकी रक्षा, उन्नति, प्रियाचरण और अधर्मी चाहे चक्रवर्ती, सनाथ, महाबलवान् और गुणवान् भी है, तथापि उसका नाश, अवनति और अप्रियाचरण सदा किया करें। अर्थात् जहां तक हो सके वहां तक अन्यायकारियों के बल की हानि और न्यायकारियों के बल को उन्नति सर्वथा किया करें। इस काम में चाहे उसको कितना ही दारुण दुःख प्राप्त हो, चाहे प्राण भले ही जायें, परन्तु मनुष्यपन रूप धर्म से पृथक् कभी न होवे। इसमें श्रीमान् महाराजा भर्तृहरि जी आदि ने श्लोक कहे हैं, उनका लिखना उपयुक्त समझकर लिखता हूं—

निन्दन्तु नीतिनिपुणा यदि वा स्तुवन्तु,
लक्ष्मीः समाविशतु गच्छतु वा यथेष्टम्।
अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा,
न्यायात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः॥ (नीतिशतक)

त्वम् आविथ नर्यम्। (ऋ० १।५४।६)
तू नरों का हित करने वाले का संरक्षण करता है।

इस प्रकार मनुष्य को धैर्य धारण कर न्याय-पथ से कभी विचलित नहीं होना चाहिए। साथ ही महर्षि ने काम और लोभ को छोड़कर धर्माचरण करने वाले को मानव कहा है। इसी प्रकार 'सत्यमेव जयते', 'अहिंसापरमो धर्मः 'आदि वचनों को उद्धृत करके महर्षि ने सत्य और अहिंसा को मानव-निर्माण केलिए अनिवार्य ठहराया है।

आर्योद्देश्यरत्नमाला में मनुष्य की परिभाषा करते हुए महर्षि ने लिखा—जो विचार के बिना किसी काम को न करे, उसका नाम मनुष्य है। इसप्रकार मानव-निर्माण के लिए मनुष्य का विचारशील बनना आवश्यक है।

महर्षि दयानन्द साम्प्रदायिक-विद्वेष को भी मानव-निर्माण में एक घातक कारण समझते हैं। उन्होंने सभी सम्प्रदायों की मिथ्या बातों का खण्डन कर उनके सर्वमान्य तत्त्वों का उद्घाटन किया। उन्होंने कहा—

—मनुष्य के जन्म का होना सत्यासत्य के निर्णय करने कराने के लिए है, न कि वाद-विवाद, विरोध करने के लिए······जब तक इस मनुष्य जाति में परस्पर मिथ्यामत मतान्तरों का विरुद्ध वाद न छूटेगा तब तक अन्योन्य का आनन्द न होगा। यदि हम सब मनुष्य और विशेष विद्वज्जन ईर्ष्या-द्वेष छोड़ सत्यासत्य का निर्णय करके सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करना कराना चाहें तो हमारे लिए यह बात असाध्य नहीं है।

— जो बात सबके सामने माननीय है उसको मानता हूं अर्थात् जैसे सत्य बोलना अच्छा और मिथ्या बोलना बुरा है—ऐसे सिद्धान्तों को स्वीकार करता हूं और जो मतमतान्तर के परस्पर विरुद्ध झगड़े हैं, उनको त्यागकर परस्पर प्रीति से बर्तें।

—हम किसी से संसार भर में विरोध करना नहीं चाहते सिवाय उनके कि जो अधर्म अन्ययायुक्त आचरण करें।

—सबसे प्रीतिपूर्वक धर्मानुसार यथायोग्य वर्तना चाहिए (आर्यसमाज का सातवां नियम)।

इस प्रकार महर्षि के अनुसार अन्याय का विरोध, साहस, धैर्य, परोपकार, विचार-शीलता, सत्य, धर्म, पक्षपात रहित बुद्धि, सबसे धर्मानुसार व्यवहार आदि गुण मानवनिर्माण के अनिवार्य तत्त्व हैं। इनके बिना मनुष्य मनुष्य नहीं बनता।

मानव-निर्माण के उपाय

मानव का सर्वांगीण (शारीरिक, बौद्धिक और आत्मिक) विकास करके ही व्यक्ति में उक्त गुण उत्पन्न किये जा सकते हैं। इसके लिए महर्षि ने निम्नलिखित उपाय निर्दिष्ट किये हैं—(क) संस्कार और यज्ञ (ख) आश्रम-व्यवस्था व शिक्षा प्रणाली (ग) वर्ण-व्यवस्था तथा सुदृढ़ राज्य व दण्डनीति। यहां हम इनके द्वारा मानव निर्माण की प्रक्रिया पर प्रकाश डालेंगे।

(क) संस्कार और यज्ञ—मानव जीवन के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कार्य को आरम्भ करने केलिए वैदिक ऋषियों ने १६ संस्कारों की योजना की और महर्षि ने इनके द्वारा मानव-निर्माण का मार्ग प्रशस्त किया है। प्रथम गर्भाधान-संस्कार है, जिसमें गर्भधारण करने का उचित समय व भावी जननी को स्वस्थ रखने के निर्देश हैं। पुंसवन संस्कार में संतान को आरोग्य और गर्भिणी को निर्विघ्न प्रसव के उपाय बताये हैं। वर्षभर

भूरीणि भद्रा नर्येषु बाहुषु। (ऋ० १।१६६।१६)
वीरों के बाहु मानवों का हित करने वाले हैं।

पुरुषों को ब्रह्मचर्य रखना चाहिए, ऐसा भी निर्बन्ध कहा हुआ है। सीमन्तोन्नयन में स्त्रियों को अकाल गर्भ-

पात के भय से रक्षित करने की योजना है। जातकर्म में निर्विघ्न प्रसव होने व प्रसूत और प्रसूता को सुखी रखने का विधान है। नामकरण संस्कार में सुन्दर नाम रखने की विधि है। निष्क्रमण में उचित समय पर बच्चे को बाहर ले जाने तथा अन्नप्राशन में अन्न देने का उल्लेख है। चूड़ाकर्म में स्वास्थ्य के लिए मुण्डन को आवश्यक ठहराया है। उपनयन में बच्चे को गुरु के पास ले जाने, वेदारम्भ विद्या पढ़ने तथा समावर्तन 'सत्यंवद, धर्मंचर' (तैत्तिरीय उपनिषद्) आदि शिक्षा के उद्देश्यों को बताकर दीक्षान्त का विधान है। विवाह संस्कार में ठीक समय पर समान स्तर की कन्या से स्वयंवर तथा गार्हपत्य में गृहस्थी द्वारा पंच महायज्ञों के करने की प्रेरणा है। वानप्रस्थ व संन्यास में मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति करने का निर्देश है। अन्त्येष्टि में उसके आत्मा की सद्गति के लिए प्रार्थना है। इस प्रकार प्रत्येक संस्कार के नाम से भी स्पष्ट है कि ये संस्कार मनुष्य की शारीरिक, बौद्धिक आत्मिक उन्नति की कामना व उसके लिए अनेक निर्देश हैं।

यज्ञ के तीन अर्थ हैं—देवपूजा, संगतिकरण और दान। परमात्मा और विद्वान् की पूजा करना देव-यज्ञ है। विद्वानों का संग ही संगतिकरण है। दान से अभिप्राय विद्यादान से है। ब्रह्मचारी को ब्रह्मयज्ञ एवं देवयज्ञ और गृहस्थी को पितृयज्ञ, अतिथियज्ञ, तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ (पांचों) करने का विधान है। पितृयज्ञ से अपने गुरु (माता-पिता और आचार्य) की अतिथि-यज्ञ से विद्वान् अभ्यागत पुरुष की तथा बलिवैश्वदेव यज्ञ से पशु पक्षियों की सेवा करके व्यक्ति परोपकार में लीन रहता है। इस प्रकार यज्ञ परोपकार की क्रियात्मक शिक्षा है। यज्ञ अथवा हवन करते हुए प्रत्येक वेदमन्त्र के अन्त में 'इदन्नमम्, की आवृत्ति व्यक्ति को त्यागमय जीवन व्यतीत करने की प्रेरणा देती है। 'शत हस्त समाहर सहस्र हस्त संकिट—सौ हाथों से कमा और हजार हाथों से उसका वितरण कर, यह दिव्य संदेश उसके जीवन का ध्येय बनता है। इसी प्रसंग में महर्षि दयानन्द ने यह भी प्रतिपादित किया है कि जड़मूर्ति पूजा के स्थान पर किसी सशरीर पुरुष—विद्वान् गुरु, अतिथि आदि की सेवा में मनुष्य जीवन अधिक सार्थक है। यज्ञाग्नि में घृत एवं सामग्री वायु को स्वास्थ्य-वर्द्धक बनाती है। इस प्रकार यज्ञ वायु तथा जल प्रदूषण से बचने का उपाय है। यज्ञ में जिस प्रकार घृत एवं सामग्री आदि की आहुति पड़कर नष्ट नहीं होती, वरन् अग्नि उस घृत एवं सामग्री की सुगन्धि से सम्पूर्ण वायुमण्डल को स्वास्थ्यवर्द्धक बनाती है, और वह स्वास्थ्यवर्द्धक वायु मनुष्य मात्र—गरीब, अमीर, दलित, ब्राह्मण सभी केलिए समान रूप से उपयोगी सिद्ध होता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अपना जीवन परोपकार में लगा देना चाहिए। यज्ञ केवल धार्मिक कृत्य ही नहीं हैं, वरन् परोपकार का एक उपाय है। जो मनुष्य यज्ञ करके शोषण और निष्ठुर रहते हैं, वे महा-अज्ञानी और पापी हैं।

(ख) आश्रम-व्यवस्था व शिक्षा-प्रणाली—आश्रम-व्यवस्था मानव-निर्माण का अत्यन्त उपादेय उपाय है। आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा संन्यास। ब्रह्मचर्य-आश्रम में ही शिक्षाप्रणाली भी अन्तर्भूत हो जाती है।

मानव-निर्माण की दृष्टि से आश्रमों में ब्रह्मचर्य का महत्त्व सबसे अधिक है क्योंकि इसी काल में व्यक्ति का समग्र-शारीरिक, बौद्धिक व आत्मिक-विकास होता है। महर्षि शिक्षा का आरंभ गर्भावस्था से मानते हैं। गुरु के आश्रम में जाने से पूर्व मां और पिता पर बच्चे को स्वस्थ्य रखने के साथ ज्ञान व व्यवहार की

शिक्षा देनी आवश्यक है। मां पर गर्भस्थ बालक को स्वस्थ रखने व उसमें विनम्रता, धैर्य, शौर्य आदि गुणों के संस्कार डालने का दायित्व है। सन्तान उत्पन्न होने पर उसे स्वस्थ रखने तथा उसके थोडा बड़ा होने पर उसे अक्षराभ्यास व लिपिज्ञान कराने तथा व्यावहारिक विषयों की शिक्षा के लिए विविध सुभाषित स्मरण कराने का दायित्व भी मां पर है। बच्चे को अंधविश्वास से बचाने के लिए विविध संस्कार बचपन में ही डालने उचित समझ कर मां को निर्देश दिया है कि वह उसे भूतप्रेत आदि काल्पनिक व चमत्कारपूर्ण मिथ्या बातों से सावधान रखे। महर्षि की यह धारणा है कि केवल विज्ञान सम्मत व तर्क संगत बातों को ही सत्य मानना चाहिए। ५-८ वर्ष की आयु तक बच्चे के विकास का दायित्व पिता पर है।

जब बच्चे ८ वर्ष के हों तभी लड़कों को तथा लड़कियों को शाला में भेज देवें। जो अध्यापक पुरुष व स्त्री दुष्टाचारी हों उनसे शिक्षा न दिलावें, किन्तु जो पूर्ण विद्यायुक्त धार्मिक हों वे ही पढ़ाने और शिक्षा देने योग्य हैं। इसके लिए महर्षि ने गुरुकुल अथवा आश्रम-प्रणाली को पुनरुज्जीवित करने का परामर्श दिया है। उनके मत में बालक को ८ वर्ष की आयु से २५-२६ (हो सके तो ३६ या ४८) वर्षों की आयु तक अपने घर से दूर किसी पर्वत की उपत्यका में या नदी के तट स्थित आश्रम में भेज दिया जाय, जहां के स्वच्छ व सात्विक वातावरण में रखकर वह अपना सर्वांगीण विकास कर सके। नगर के दूषित वातावरण में इसका विकास असम्भव है।

वर्तमान शिक्षा प्रणाली में विद्यार्थी का अपने गुरु व शिक्षा संस्था से कुछ ही घण्टों का सम्पर्क रहता है। शेष समय में वह अपनी पारिवारिक समस्याओं व समाज के दूषित (अश्लील व उच्छृंखल) वातावरण में सांस लेता है। परिणामतः उसका पूर्ण विकास नहीं हो पाता। आश्रम-व्यवस्था में वह एक छोटे परिवार से निकल कर बड़े परिवार में आ जाता है। जहां सहपाठी उसके बन्धु और अन्य कर्मचारी उसके सम्बन्धी होते हैं। गुरु पिता तथा शिक्षा-संस्था उसकी माता होती है —

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्त:
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवा: (अथर्व० ११।५।३)

आचार्य द्वारा शिष्य को अपने गर्भ में रखने का यह रूपक सचमुच आश्रम प्रणाली के महत्त्व को अद्भुत रूप में प्रकट कर देता है।

आचार्य का शिष्य को यह कथन कितना मार्मिक है—
मम व्रते हृदयं ते दधामि, ममचित्तमनुचित्तं ते अस्तु।
ममवाचमेकमना जुषस्व बृहस्पतिष्ट्वा नियुनक्तु मह्यम्। पार गृ० सू० का० २ सू०१६

वस्तुतः शिष्य गुरु का पुत्र है—अंगादंगात् सम्भवसि हृदयादधि जायसे आत्मा वै पुत्र नामासि।

आश्रम प्रणाली में 'ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत' (अथर्व० ११।५।१९) तथा 'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति' (अथर्व ११।५।१७) आदि वचनों द्वारा तप पर बल दिया गया है। शरीर-विज्ञान के अनुसार सात्त्विक वातावरण में २५-२६ वर्षों की आयु तक व्यक्ति संयम से रह सकता है आज का विद्यार्थी आरम्भ से ही उत्तेजक वातावरण में रहता है, जो कि उसके शरीर वृद्धि के लिए घातक सिद्ध होता है। वह कच्ची आयु में ही भोगों में लिप्त हो जाता है। परिणामतः गृहस्थाश्रम में उसे भोगों से पूर्ण सुख प्राप्त नहीं होता।

नृणां नर्यो नृतमः। (ऋ० १०।२९।१)
मानव में श्रेष्ठ मनुष्य मानवों का हित करता है।

महर्षि दयानन्द का मत है कि आश्रम में सबको तुल्य वस्त्र, खान-पान, आसन दिये जाएं, चाहे वह राजकुमार व राजकुमारी हो, चाहे दरिद्र की सन्तान हो। पर आज की शिक्षा-पद्धति में ऐसा नहीं है। असमान वातावरण में पले बालक बड़े होकर भी परस्पर असमानता व द्वेष का व्यवहार करते हैं। जब एक निर्धन छात्र किसी धनी की सन्तान को नये वस्त्र पहनकर कार पर बैठकर किसी भव्य इमारत में चल रहे पब्लिक स्कूल में जाते देखता है तो उसके मन में अपने स्कूल एवं अपने वस्त्रों के प्रति और अन्ततः अपनी स्थिति के प्रति घृणा जागरित हो जाती है। परिणामतः उसका मन अध्ययन में नहीं लग पाता। वह हीन-भावना से ग्रस्त हो जाता है। दूसरी ओर तथाकथित उच्चवर्ग के छात्र में अहंकार का उदय होता है। इस प्रकार घृणा की खाई व अहंकार के पर्वत से दोनों वर्गों की दूरी और अधिक हो जाती है। महर्षि ने आर्यसमाज के नवम नियम में यह कहकर कि प्रत्येक को अपनी ही उन्नति से सन्तुष्ट न रहना चाहिए अपितु सबकी उन्नति में अपनी उन्नति समझनी चाहिए—सबको उन्नति का समान अवसर देने पर बल दिया है।

ब्रह्मचर्यकाल में समग्र-ज्ञान विज्ञान को प्राप्त करना छात्र का मुख्य उद्देश्य है। महर्षि के मत में जिससे ईश्वर से ले के पृथ्वी पर्यन्त पदार्थों का सत्य-विज्ञान होकर उनसे यथायोग्य उपकार लेना होता है, इसका नाम विद्या है। जो विद्या विपरीत है, भ्रम, अन्धकार और अज्ञान रूप है। इसलिए इसको अविद्या कहते हैं। महर्षि दयानन्द आध्यात्मिक और भौतिक दोनों प्रकार के ज्ञान को विद्या मानते हैं, और इन दोनों ही ज्ञानों से व्यक्ति को निष्णात बना मानव के वास्तविक निर्माण के इच्छुक हैं। आज भौतिक ज्ञानों के शिक्षण पर बल दिया जाता है। उसी की अभिवृद्धि आज के जगत् का लक्ष्य है। किन्तु कोरा भौतिक ज्ञान जड़ता, भोग व दुःख का जनक है। भौतिक और आध्यात्मिक दोनों के समन्वित ज्ञान में ही व्यक्ति सुख और शान्ति उपलब्ध कर सकता है। इन दोनों प्रकार के ज्ञानों को प्राप्त करने का एक अर्थ यह भी है कि व्यक्ति शरीर से पुष्ट और आत्मा से उदार बने, तभी मानव-निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

महर्षि ने शिक्षा की परिभाषा में अज्ञान को दग्ध करने के साथ उपलब्ध ज्ञान के अनुसार आचरण करने पर बल दिया है। जिससे विद्या, सभ्यता, धर्मात्मा, जितेन्द्रियता की बढ़ती होवे और अविद्यादि दोष छूटें। उसी को शिक्षा कहते हैं। साथ ही उन्होंने व्यावहारिक शिक्षा पर भी बल दिया है। आचार्य को कहा है कि वह भोजन, छादन, बैठने, उठने, बोलने-चालने, बड़े छोटे से यथायोग्य व्यवहार करने का उपदेश करे। उनका कहना है कि बड़े बड़े पाठान्तर करने से ही केवल विद्या उत्पन्न नहीं होती। ज्ञान और कर्म के समन्वय के लिए उन्होंने 'विद्यांचाविद्यां च, यजु० ४०।१४) मन्त्र उद्धृत किया है। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में महर्षि लिखते हैं कि विद्वानों के दो मार्ग होते है—एक देवयान और दूसरा पितृयान अर्थात् जो विद्या-मार्ग है वह देवयान और जो कर्मोपासना मार्ग है वह पितृयान कहता है। सब लोग इन दोनों प्रकार के पुरुषार्थकर्म को सदा करते रहें।

महर्षि ने 'आचारः परमो धर्मः' (मनु) आदि की व्याख्या में स्पष्ट कहा है कि कहने, सुनने, सुनाने, पढ़ने, पढ़ाने का फल यही है कि जो वेद और वेदानुकूल स्मृतियों में प्रतिपादित धर्म का आचरण करना, इसलिए धर्माचार में सदा युक्त रहे। क्योंकि जो धर्माचरण से रहित है वह वेद प्रतिपादित धर्मजन्य सुखरूप फल को प्राप्त नहीं हो सकता। और जो विद्या पढ़ के धर्माचरण करता है यही सम्पूर्ण सुख को प्राप्त हो सकता है।

आचारः परमोधर्मः श्रुत्युक्तः स्मार्त एव च ।
तस्मादस्मिन्सदा युक्तो नित्यं स्वादात्मवान् द्विजः ।
आचाराद्विच्युतो विप्रो न वेदफलमश्नुते
आचारेण तु संयुक्तः सम्पूर्णफलभाग्भवेत् ।। मनु० १।१०८०१०९

सदाचार केलिए महर्षि ने यम-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा नियम-शौच, संतोष तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्राणिधान—इन दोनों का सेवन करने का उपदेश दिया है। इनमें धर्म के प्रायः सभी लक्षण समाविष्ट हो जाते हैं। इसी प्रसग में महर्षि ने इन्द्रिय संयम पर विशेष बल दिया है।

इन्द्रियाणां प्रसङ्गेन दोषमृच्छन्त्यसंशयम् ।
सन्नियम्य तु तान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।। मनु० २।९३

अर्थात् जीवात्मा इन्द्रियों के वश होके बड़े-बड़े दोषों को प्राप्त होता है और जब इन्द्रियों को अपने वश कर लेता है तभी सिद्धि को प्राप्त होता है।

आचरण विषयक तत्त्वों को शिक्षा का अंग मानकर इनको जीवन में सिद्ध करने के लिए महर्षि आचार्य को कहते हैं कि गायत्री, संध्योपासन, स्नान प्राणायाम आदि सिखलावें। देह, मन, आत्मा और बुद्धि सभी की पवित्रता व विकास के लिए उन्होंने मनु का निम्नलिखित श्लोक उद्धृत किया है—

अद्भिर्गात्राणि शुध्यन्ति मनः सत्येन शुध्यति ।
विद्यातपोभ्यां भूतात्मा बुद्धिर्ज्ञानेन शुध्यति ।। मनु० ५।१०९

जल से शरीर के बाहर के अवयव, सत्याचरण से मन, विद्या और तप अर्थात् सब प्रकार के कष्ट भी सह के धर्म ही के अनुष्ठान करने से जीवात्मा, ज्ञान, अर्थात् पृथ्वी से ले के परमेश्वर पर्यन्त पदार्थों के विवेक से बुद्धि दृढ़ निश्चय व पवित्र होती है। प्राणायाम के सम्बन्ध में महर्षि लिखते हैं—प्राणायामादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्याते: (योगसूत्र) अर्थात् जब मनुष्य प्राणायाम करता है तब प्रतिक्षण उत्तरोत्तर काल में अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश हो जाता है।

इस प्रकार महर्षि द्वारा प्रतिपादित शिक्षाप्रणाली (ब्रह्मचर्याश्रम) में मनुष्य का शरीर पुष्ट, मस्तिष्क उर्वर तथा आत्मा विशाल बनाता है।

शिक्षा की समाप्ति पर गुरु अपने शिष्यों की रुचि और योग्यता के आधार पर उनका वर्ण नियत करते हैं। व्यक्ति ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य बनकर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते हैं। किसी भी समाज अथवा राष्ट्र का आधार ज्ञान, शक्ति और सम्पत्ति होती है। उक्त वर्ण राष्ट्र में इन तीनों का पूर्ण विकास करते हैं। साथ ही वे इस काल में आदर्श सन्तान की उत्पत्ति व उनका समुचित पालन पोषण करते हैं। गृहस्थाश्रम में प्रवेश करते समय हमारे देश में अनेक प्रकार की कुरीतियां (बाल, वृद्ध-विवाह आदि) उत्पन्न हुई हैं। जिसका कारण मनुष्य-जीवन पशुवत् रहा है। महर्षि ने उन सभी कुरीतियों पर कठोर प्रहार किये। उन्होंने स्त्री-शिक्षा के साथ युवक युवतियों को स्वयंवर का अधिकार देना, बाल-अनमेल-वृद्ध और बहु-विवाह, दहेज आदि का विरोध तथा विधवा-विवाह का समर्थन आदि सामाजिक कार्यों से व्यक्ति निर्माण में ही योग किया।

इन्द्राय नरे नयंयि नृतमाय नृशावृ। (ऋ० ४।२५।४)
यह नेता इन्द्र लोगों को सन्मार्ग से ले जाता है।

आश्रम व्यवस्था का आर्थिक पहलू भी महत्वपूर्ण है। अधिकांश राष्ट्र आर्थिक विपदा के शिकार हैं और नवयुवक बेकारी का दण्ड भोग रहे हैं। इसका कारण धन अर्जित करने व उसके भोग पर किसी समय की सीमा का अभाव है। वर्तमान युग में व्यक्ति १८-२० वर्षों की आयु से कई तो इससे भी पूर्व धनार्जन में प्रवृत्त हो जाते हैं. और जब तक अशक्त नहीं हो जाते तब तक धन कमाते रहते हैं। पर आश्रम-व्यवस्था में व्यक्ति गृहस्थी होने पर ही अर्थात् २५-२६ वर्षों की आयु से ५०-६० वर्ष की आयु तक ही धन कमाते हैं। फिर वानप्रस्थ ले लेते हैं। उच्च पदों पर आसीन व राज्याधिकारी भी इसी समय तक पद या सत्ता का उपभोग कर सकते हैं। आज का व्यक्ति वार्द्धक्य में भी भोगों में लिप्त रहता है। आश्रम-व्यवस्था उसकी इस भोग वृत्ति पर भी अंकुश लगाती है। अर्थ की चिन्ताओं व भोगों में विरक्त व्यक्ति अपने शारीरिक, बौद्धिक व आत्मिक विकास में लग जाता है। सभी दृष्टियों से अशक्त हो जाता है। इसके विपरीत आश्रम व्यवस्था में वह सांसारिकताओं से मुक्त होकर अपना सर्वांगीण विकास करता है। आज का व्यक्ति वृद्धत्व को अभिशाप मानता है, पर आश्रम-व्यवस्था के अनुसार वे वानप्रस्थी बनकर अपने ज्ञान का विस्तार करते हैं तथा शिक्षा के प्रसार में योग देते हैं। यहां तक कि ७५ वर्ष की आयु में संन्यासाश्रम में प्रवेश करके भी लोकोपकारी कार्य करने में वे सक्रिय रहते हैं।

इसप्रकार आश्रम प्रणाली में व्यक्ति के जीवन में भोग और त्याग का अद्भुत विधान है। व्यक्ति ब्रह्मचर्य काल में धर्म (जिसका एक अंग विद्या है) गृहस्थ में अर्थ और काम तथा वानप्रस्थ और संन्यास में मोक्ष के लिये प्रवृत्त होता है। तभी मानव-निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण होती है।

(ग) वर्ण-व्यवस्था तथा सुदृढ़ राज्य व दण्डनीति—महर्षि ने वर्ण-व्यवस्था को जन्मानुसार न मान गुणकर्मानुसार मानकर उस पर लगे आरोपों को नष्ट किया है। महर्षि द्वारा प्रतिपादित वर्ण-व्यवस्था में यह अनिवार्य है कि सभी बच्चों को शिक्षा आदि की सुविधाएं समान मिलें, वे लगभग २० वर्षों तक शिक्षा-संस्थाओं में रहकर अपना विकास करें। और तब उन्हे अपनी अपनी योग्यता के अनुसार वर्णों के चयन का अधिकार हो। इस पद्धति से शूद्र-सन्तान भी उच्च वर्णस्थ हो जाती है। ब्राह्मण राष्ट्र में अज्ञान को, क्षत्रिय अन्याय को तथा वैश्य आर्थिक अभाव को नष्ट करने का व्रत लेते हैं। शिक्षा प्राप्त करने के समान अवसर मिलने पर भी जो पढ़ न सके वही शूद्र होता है। महर्षि के अनुसार शूद्र की संतान शूद्र नहीं, वरन् जो विद्या-हीन, जिसको पढ़ने से भी विद्या न आ सके, शरीर से पुष्ट सेवा में कुशल है. वह शूद्र है (संस्कार विधि) पढ़ाई का अवसर मिलने पर भी जो पढ़ न सके, ऐसे लोग निश्चय ही कम होगें। ये शूद्र भी समाज के लिए उपयोगी हैं। अन्य वर्णों की भोजन-निर्माण आदि कार्यों में सहायता कर ये भी प्रकारान्तर से ज्ञान, न्याय व अर्थ की वृद्धि करते हैं। महर्षि के अनुसार इनके साथ सामाजिक व्यवहार में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए।

वर्णव्यवस्था में जो वर्ण अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता, यदि ब्राह्मण विद्यादान, क्षत्रिय प्रजा की रक्षा और वैश्य धनोत्पादन कर उसका राष्ट्र के लिए उपयोग नहीं करता राजा उसे दण्ड देता है और उससे उसका कर्त्तव्य करवाता है।

प्रजातन्त्र पर आधारित सुदृढ़ राज्य व दण्डनीति भी मानव-निर्माण के लिए आवश्यक है। शिक्षा व चरित्र के लिए विद्यार्य, रक्षा व अर्थ केलिए राजार्य तथा न्याय और समाजोन्नति के लिए धर्मार्य सभा बना

कर सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया है। ग्रामराज्य व पंचायत व्यवस्था का भी उन्होंने परामर्श दिया। 'दण्ड: शास्ति प्रजा: सर्वा:' (मनु) सिद्धान्त के अनुसार दण्डव्यवस्था से व्यक्ति को कर्त्तव्यों के प्रति सजग किया है पर दण्ड तभी फलदायी होता है, जब व्यक्ति को मालूम हो कि शासक हमारे पिता के समान हितैषी है। उन्होंने सुदृढ़ रक्षा व न्याय व्यवस्था से प्रत्येक मानव के मनोबल को ऊंचा उठाया है।

मानव-निर्माण केलिए आर्यसमाज द्वारा किये गये प्रयत्न

आर्य-समाज का सम्पूर्ण प्रयत्न मनुष्यों के सुधार तथा श्रेष्ठ मानवों का निर्माण करना रहा है। गत सौ वर्षों में आर्यसमाज ने मानव निर्माण के लिए जो प्रयत्न किये हैं, उनका यहां सिंहावलोकन आवश्यक है—

(क) शिक्षा द्वारा मानव निर्माण का प्रयत्न—हम प्रतिपादित कर चुके हैं। शिक्षा मानव निर्माण का आधार है। पहले महर्षि के अभिप्राय को समझकर महात्मा हंसराज और स्वामी श्रद्धानन्द ने और फिर उनके अनुकरण पर अनेक आर्य-पुरुषों ने शिक्षा द्वारा मानव निर्माण का कार्य किया।

इस समय ६० से अधिक लड़के और लड़कियों के गुरुकुल हैं, जहां सबको समान रूप से शिक्षा देने की व्यवस्था हैं। ३०० के लगभग संस्कृत विद्यालय तथा ४०० के लगभग दलित जातियों की उन्नति के लिए पाठशालाएं हैं। ६०० के लगभग महाविद्यालय और माध्यमिक विद्यालय हैं, ३००० प्राथमिक और निम्न माध्यमिक विद्यालय हैं, जो व्यक्ति के अज्ञान को दूर कर उनका बौद्धिक विकास कर रही हैं। १२ से अधिक तकनीकी संस्थाएं देश में शिल्प की शिक्षा का प्रसार कर रही हैं। इन सब शिक्षा संस्थाओं में ५ लाख से अधिक विद्यार्थी शिक्षा प्राप्त कर रहे हैं, जिन पर प्रति वर्ष २० करोड़ रुपये व्यय होते हैं। शिक्षा के प्रसार का जितना कार्य अकेले आर्यसमाज ने किया है, उतना कोई संस्था नहीं कर सकी।

(ख) कन्याओं व स्त्रियों की उन्नति का प्रयत्न—कन्याओं के लिए स्थापित शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त २०० के लगभग वनिताश्रम, दीनहीन नारियों को सम्मान पूर्वक जीवन व्यतीत करने में संलग्न है।

(ग) अन्य प्रयत्न—इस समय ५००० आर्यसमाज हैं, जिनमें से ५०० के लगभग विदेशों में हैं, २०० प्रान्तीय व जिला उपसभाएं हैं, ५०० आर्यवीरदल की शाखाएं हैं, २०० आर्यकुमार सभाएं हैं अनेक अनाथाश्रम, ३०० छोटी बड़ी पत्र-पत्रिकाएं—'आर्यसमाज के लक्ष्य सबको श्रेष्ठ बनाओ'—को पूरा करने के प्रयत्न में लगी हैं।

आर्यसमाज के प्रयत्नों का ही यह परिणाम है कि श्यामजी कृष्ण वर्मा, गुरुदत्त विद्यार्थी, महात्मा हंसराज, स्वामी श्रद्धानन्द, लेखराम आर्य मुसाफिर, पूज्य नारायण स्वामी, स्वामी दर्शनानन्द, लाला लाजपतराय, आचार्य रामदेव, प० इन्द्र विद्यावाचस्पति जैसे महापुरुषों तथा भाई परमानन्द, सरदार अजीतसिंह, श्री मदनलाल ढींगरा, रामप्रसाद बिस्मिल, सरदार भगतसिंह, श्री हरविलास शारदा आदि क्रान्तिकारी नेताओं का निर्माण किया। वस्तुत: यह सूची और भी लम्बी है।

मानव-निर्माण के लिए अब आर्यसमाज क्या करे

निस्सन्देह मानव निर्माण के लिए किये गये प्रयत्न आर्यसमाज के लिए गौरव की बात है। किन्तु यह स्वीकार करने में हमें थोड़ी भी दुविधा नहीं कि हमारे इन प्रयत्नों से जिस प्रकार के मनुष्यों का जितनी

परि अग्ने दुश्चरिताद्। (यजु० ४।२८)
मुझे दुश्चरित्र से पृथक् करो।

मात्रा में निर्माण होना चाहिए था वह नहीं हो सका है। उसका कारण यह है कि आज समग्र विश्व में भौतिकता और नास्तिकता की आंधी उड़ रही है, उसमें आर्यसमाज के सिद्धान्त तो अडिग हैं, पर उसके व्यावहारिक रूप में कुछ कठिनाइयां उत्पन्न हुई हैं और उस कारण जहां हमारे प्रयत्नों में कुछ शिथिलता आई है, वहां ईमानदारी से किये प्रयत्न भी पूर्णतः सफल नहीं रहे। अतः हमें इस दिशा में अपने संकल्प और प्रयत्न और अधिक तीव्र करने होंगे। जब तक देश में एक भी व्यक्ति अज्ञान, अभाव और रोग से ग्रस्त है, तब तक आर्यसमाज को प्रयत्न करना होगा। ऐतरेय ब्राह्मण के परिमितं वैभूतं अपरिमितं भव्यम्—वाक्य के अनुसार अभी हमें बहुत कुछ करना है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रयत्न अपेक्षित है :-

(क) जब तक जंगलों और नदी के तटों पर आश्रम प्रणाली का पूर्ण विकास नहीं हो जाता तब तक जितने भी आर्यसमाज मन्दिर हैं, उन सब में निर्धन छात्रों की शिक्षा की व्यवस्था करनी चाहिए। अभी तक आर्यसमाजों का उपयोग कुछ ही लोगों—वे भी वानप्रस्थाश्रम की आयु के साप्ताहिक सत्संग के लिए होता है। शेष सम्पूर्ण समय में भवन खाली पड़े रहते हैं। उनका उपयोग होना चाहिए। अन्यथा इन पर भी वही आरोप आएगा जो महर्षि ने अन्य मन्दिरों व मठों पर लगाया था। प्रत्येक आर्यसमाज में जितना स्थान हो, उसके हिसाब से वहां कुछ छात्र वानप्रस्थी विद्वानों के संरक्षण में स्थायी रूप से निवास करें। विशेष रूप से वहाँ हमें बालकों को संस्कारित करने की योजना बनानी चाहिए। वर्ण-व्यवस्था गुणकर्मानुसार तभी होगी जब सभी हरिजन बच्चों को शुद्ध वातावरण में शिक्षा के पूर्ण अवसर मिलेंगे।

(ख) आज विश्व में ५००० आर्यसमाज हैं। यदि प्रत्येक आर्यसमाजें औसत रूप में १० बालकों को महर्षि के सिद्धान्तों के अनुसार निर्माण करना आरम्भ कर दे तो आगामी १५-१६ वर्षों में ५० हजार आर्य-युवक-युवतियों का एक दल तैयार हो जाएगा। इसप्रकार आर्यसमाज नई पीढ़ी को आकृष्ट कर सकेगी। शिक्षा-संस्था स्थापित न भी कर सके तो इन्हे छात्रावासों के रूप में संचालित कर छात्र की शारीरिक व आत्मिक उन्नति पर बल दें। छात्रावास के रूप में भी आर्यसमाज का उपयोग करने में असमथ हों तो व्यायामशालाएं आदि खोलकर युवकों की मांसपेशियां सुदृढ़ करनी चाहिएं। इस प्रकार उन्हें सम्पर्क में लाकर उन्हे संस्कारित भी करना चाहिए।

(ग) हम अपने को महर्षि का अनुयायी कहते अवश्य हैं, पर महर्षि के आदेशों का पालन करते नहीं हैं। न जाने कितने अनेक सेवानिवृत्त आर्यसमाजी अभी तक घर का मोह नहीं छोड़ सके। कुछ वानप्रस्थी होकर भी घर नहीं छोड़ सके। उन्हे घर छोड़कर किसी आश्रम की स्थापना करके आत्मविकास के साथ शिक्षा के विकास का कार्य करना चाहिए। जो वानप्रस्थाश्रम खुले हुए हैं, वहां वानप्रस्थी परस्पर कलह करते हैं। वहां भी नेतृत्व का प्रश्न उठ खड़ा होता है। वस्तुतः एक ही विद्वान वानप्रस्थी के अधीन सबको आत्म-विकास तथा साथ ही शिक्षा के विकास का कार्य करना चाहिए। जो उनकी अधीनता में कार्य कर सके वे पृथक् आश्रम की स्थापना करके शिक्षा-विकास का कार्य करें। महर्षि के मत में वानप्रस्थाश्रम वृद्धगृहों के समकक्ष नहीं हैं।

आज हमारे देश में जो गुरुकुल हैं, उन्होंने कुछ वर्षों तक सफलतापूर्वक कार्य किया। पर उसके बाद अधिकांश में कुछ दोष उत्पन्न हो गये। दोषों के उत्पन्न होने का एक कारण यह है कि वहां आचार्य के रूप में वानप्रस्थियों के स्थान पर गृहस्थियों को नियुक्त किया गया है। हमारा यह सुझाव है कि प्रत्येक आर्यसमाज को नगर से कुछ दूरी पर गुरुकुल के संचालन का दायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए। वहां दूर स्थानों से कुछ शिक्षा का कार्य करने के लिए विद्वान् वानप्रस्थी बुलाकर आचार्य बनें। इन शिक्षा संस्थाओं में निःशुल्क शिक्षा हो और छात्र व अध्यापक मिलकर उत्पादन में भाग लें। कृषि व वस्त्र निर्माण करें। शिक्षा संस्था आत्मनिर्भर हो।

मा सुचरिते भज।। (यजु० ४।१८)
मुझे सदाचार का भागी बनाओ।

(घ) आज धर्म-निरपेक्षता का अर्थ धर्म-विरोध करके सबको धर्म से विमुख किया जा रहा है। हमें आर्यसमाज से सम्बद्ध शिक्षा-संस्थाओं में ईमानदारी से धर्मशिक्षा आरम्भ करनी चाहिए। साथ ही व्यापक स्तर पर देश की सभी शिक्षा संस्थाओं में भी धर्म के उन तत्त्वों को पाठ्यक्रम का अंग बनाने पर बल देना होगा जिनमें किसी भी सम्प्रदाय का विरोध नहीं है। धर्मों की पूर्ण जानकारी न होने के कारण अपने धर्म की दार्शनिक गहराई को न समझकर व्यक्ति केवल उसके कर्मकाण्ड परक रूप को ही जान पाता है। उसका यह अधकचरा ज्ञान उसमें साम्प्रदायिक विद्वेष को बढ़ाता है। उच्च स्तर पर सभी धर्मों (सम्प्रदायों) के अध्ययन की व्यवस्था भी होनी चाहिए। इसके लिए हमें व्यापक स्तर पर प्रचार करना होगा।

(ङ) भौतिकता व नास्तिकता की तीव्र आंधी का मुकाबला करने के लिए हमें विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों—सनातन धर्म, सिख, बौद्ध, जैन आदि को मिलाकर कुछ कार्यक्रम लेने होंगे। आर्यसमाज सर्व-धर्म सम्मेलन करता रहा है। उनमें धर्म के सर्वमान्य तत्त्वों पर विचार होता रहा है। आज आवश्यकता इस बात की है कि उन समान तत्त्वों के प्रचार की कोई सीधी योजना क्रियान्वित करनी होगी। इसकी पहल आर्य-समाज ही कर सकता। उसका मंच उदार है।

(च) मनुष्य में अनेक अनुदारवृत्तियां हैं। जिस कारण दहेज, विधवा, बाल विवाह, जाति भेद आदि समस्याए संपूर्ण समाज को दानव बना रही हैं। आज भी स्त्री पर अनेक अत्याचार हो रहे हैं। इन सबसे विरोध के लिए हमें क्रान्ति की मशाल जलानी होगी। आर्यसमाज को इन सबके विरुद्ध अपने आन्दोलन तीव्र करने होंगे। शुद्ध घी और दूध की समस्या के कारण अधिकांश लोग अस्वस्थ हैं। आर्यसमाज गोशाला एवं औषधालय आदि खोलकर मानव जाति की जीवन की भी आवश्यकता है कि शरीर-निर्माण में योगदान दे सकते हैं। इस प्रकार के अन्य कार्यों की योजना प्रत्येक आर्यसमाज अपने विवेक से कर सकता है।

इन सब कार्यों के लिए अनेक कार्यकर्त्ता व प्रचारक खड़े करने होंगे। इसके लिए हमें कुछ व्यावहारिक कदम उठाने होंगे। आज हमें आर्यसमाज में प्रतिभा सम्पन्न कर्मठ प्रचारकों की कमी खटकती है। उसका एक कारण यह है कि पुरोहितों का जो सम्मान व प्रतिष्ठा होनी चाहिए वह उनको यहां अनुपलब्ध है यदि हमें गृहस्थी प्रचारक रखने हैं तो उन्हें अच्छा वेतन देना होगा। घूमने फिरने का काम युवा-व्यक्ति ही कर सकते हैं, वानप्रस्थियों से उसकी आशा न करनी चाहिए। गृहस्थी प्रचारक व पुरोहित को आत्मनिर्भरता के लिए उसे प्रत्येक प्रकार की सुविधा देना आर्यसमाज की शिरोमणि सभा सार्वदेशिक तथा आर्यसमाज प्रतिनिधि सभाओं का कर्त्तव्य है। कुछ समर्थ आर्यसमाजें भी इस दिशा में स्वतन्त्र रूप से कार्य कर सकती हैं।

भारत में इस समय विदेशी मिशनरियों व पेट्रोडालर के कारण महर्षि दयानन्द अथवा वैदिक विचारधारा के अनुसार सच्चे मानव का निर्माण कठिन सिद्ध हो रहा है। आर्य को इस चुनौती को स्वीकार करके एक व्यापक योजना तैयार करनी होगी।

हमारे देश में वनवासी, गिरिजन व हरिजन के नाम से जो कलंक है, उसे मिटाने का दायित्व आर्यसमाज का ही है। जब तक इस देश में अशिक्षा, व्याधि व भूख, आदि रोग व्याप्त हैं, तब तक आर्यसमाज को अपने काम में सक्रिय रहने की आवश्यकता है।

हमें विश्वास है कि आर्यसमाज अपने मानव-निर्माण के वास्तविक उद्देश्य की पूर्ति में सतत सक्रिय रहेगा। ✱

को हि मनुष्यस्य श्वो वेद। (शत०ब्रा० २।१।३९)
मनुष्य का कल कौन जानता है?

श्री आर्य का जीवन आर्यसमाज को समर्पित था। आर्यसमाज व उसके विकास के कुछ चित्र

सिलीगुड़ी आर्यसमाज, जिसके निर्माण में श्री जवाहरलाल आर्य व उनके साथियों ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी
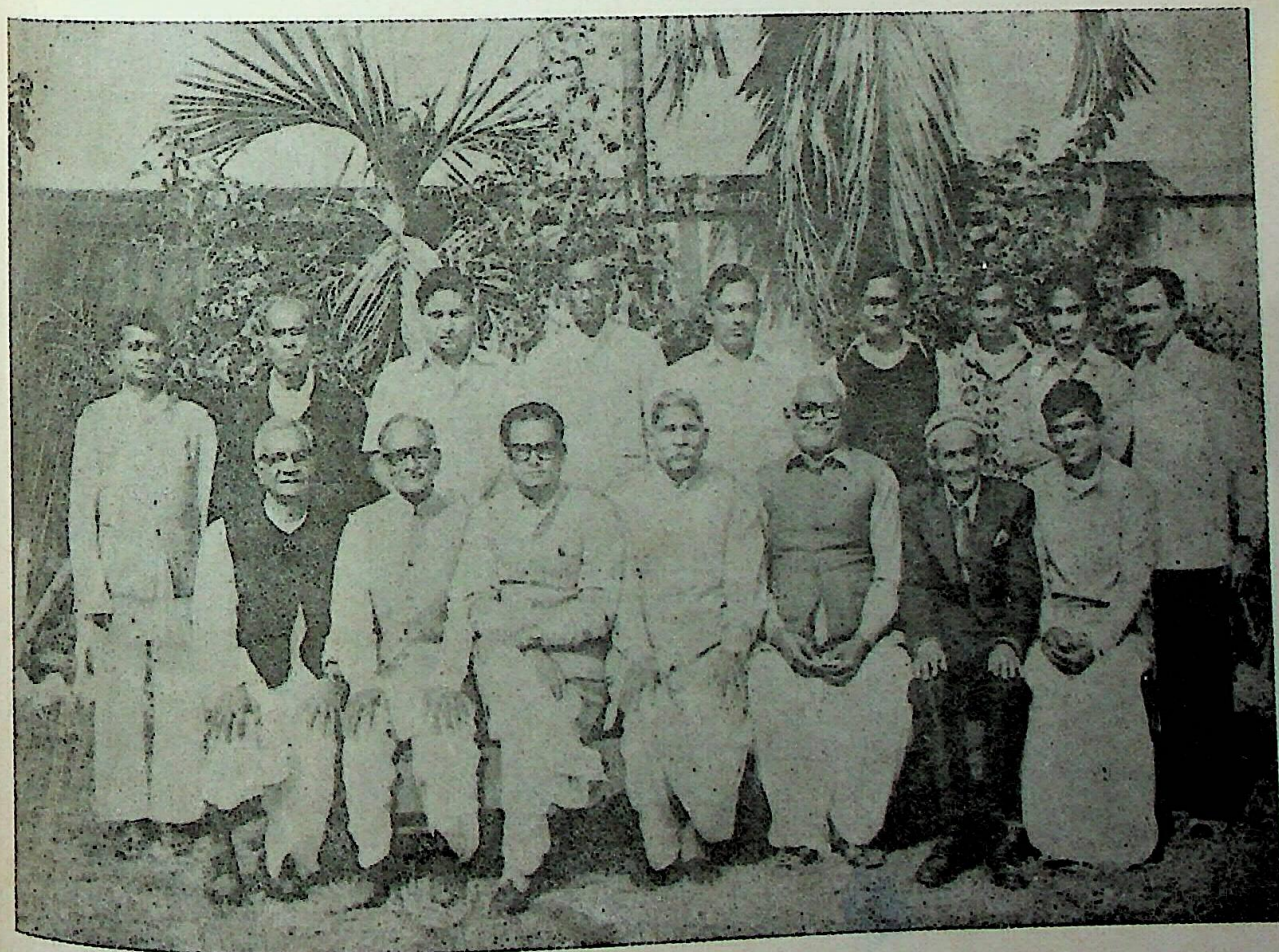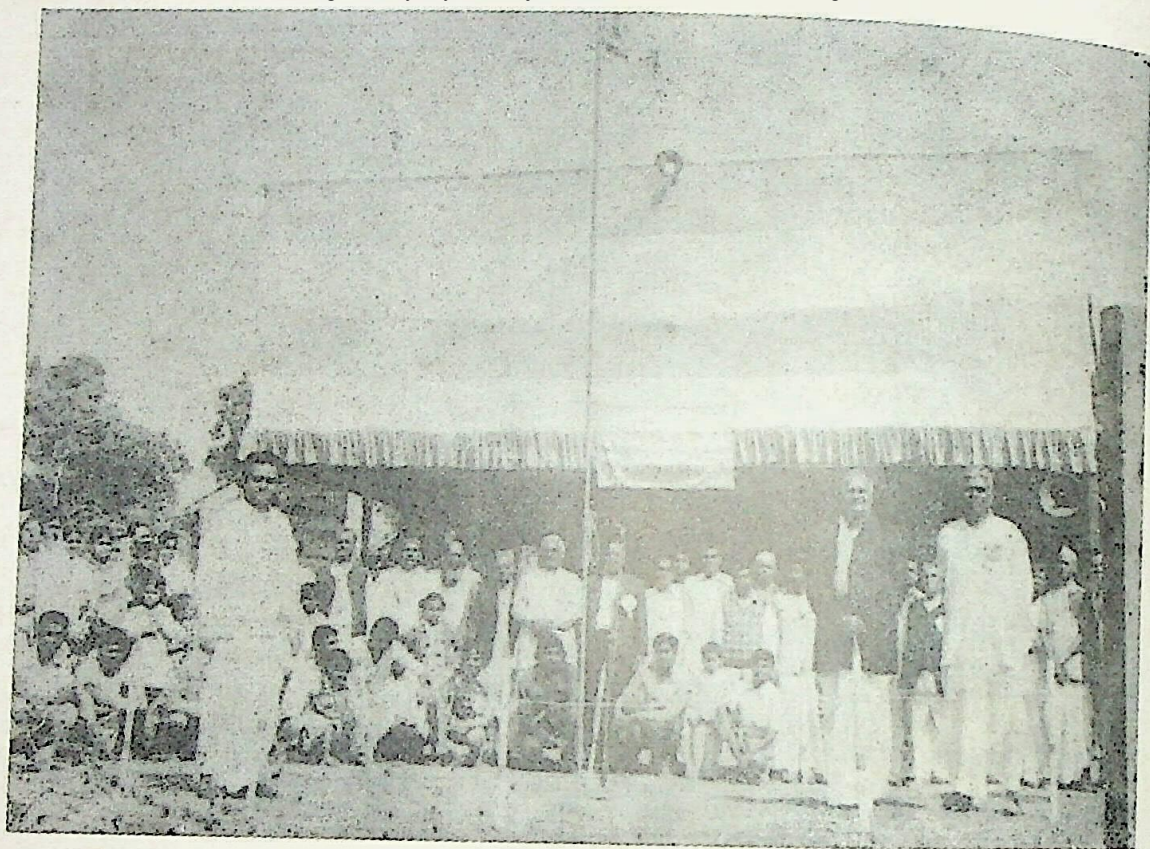
आर्यसमाज सिलीगुड़ी के उत्सव के अवसर पर झण्डाभिवादन के समय के दो चित्र

आर्यसमाज सिलीगुड़ी की कार्यकारिणी के सदस्यों के साथ
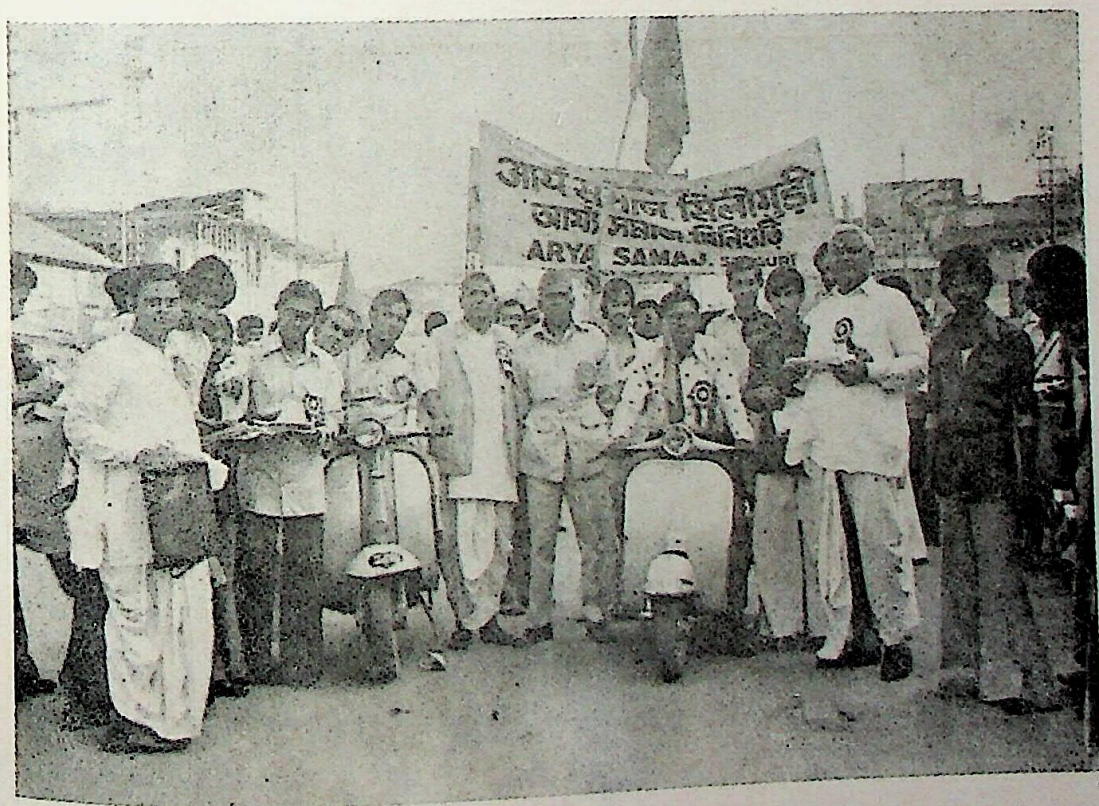
अपने साथियों के साथ उत्तरपूर्वी क्षेत्र में आर्यसमाज का प्रचार करने के लिए जाते हुए श्री आर्य जी

समाजसेवी और यज्ञप्रिय श्री जवाहरलाल आर्य

आर्यसमाज के वार्षिकोत्सव पर यजमान बनकर यज्ञ करते हुए
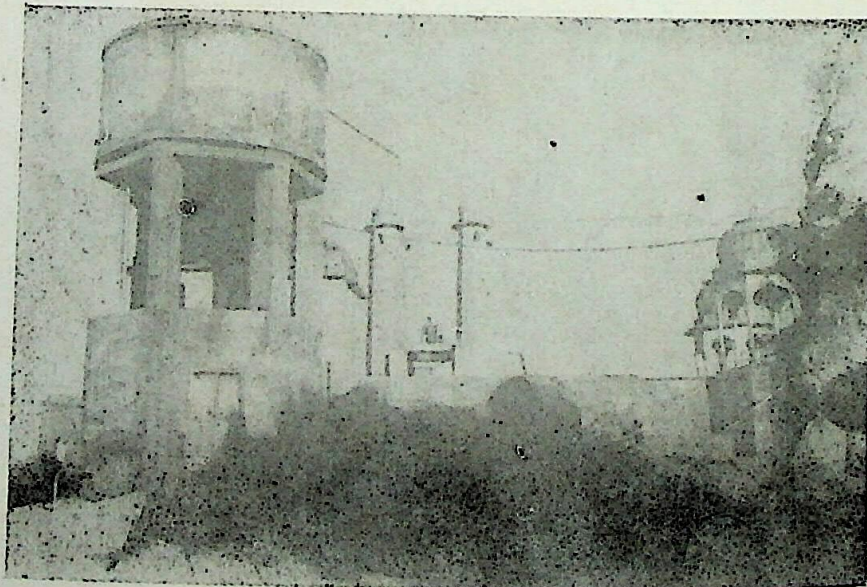
अपने गांव देवराला में कुएं पर टंकी बनवाकर गांव वालों को पानी सुलभ कराया

आर्यसमाज सिलीगुड़ी के निर्माण में स्व० श्री जवाहरलाल आर्य की भूमिका

सर्वेश्वर झा
मंत्री, आर्यसमाज, सिलीगुड़ी

स्व० जवाहरलाल आर्य का स्मृति अंक उनके पुत्रों के सत्यप्रयास से प्रकाशित हो रहा है। सम्पादन का भार आर्य जगत् के प्रसिद्ध शिक्षाविद् श्री प्रशान्त वेदालंकार, प्रो० दिल्ली विश्वविद्यालय पर है। आदरणीय वेदालंकार जी ने जनवरी 1987 के अपने सिलीगुड़ी प्रवास में मुझ से कहा था, सर्वेश्वर जी ! स्व० जवाहरलाल आर्य का, आर्यसमाज सिलीगुड़ी से कितना क्या सम्बन्ध रहा है, लिखकर दें तो उत्तम होगा। मैंने तत्काल उत्तर दिया था, वेदालंकार जी ! स्व० जवाहरलाल आर्य ने ही हरियाणा से आर्यसमाज का बीज लाए थे और श्री रतीराम शर्मा के सहयोग से सिलीगुड़ी की उर्वरा भूमि पर उस बीज को डाला था। श्री वेदालंकार जी ने हंसते हुए इन सब बातों को लिपिवद्ध करने को कहा था और मैंने सहजता से स्वीकार कर लिया। लेकिन जब मैं लिखने बैठा तो असहज स्थिति पैदा हो गई। मैं ऊहापोह में पड़ गया— क्या लिखूं, कैसे लिखूं की जकड़न पैदा हो गयी। कारण आर्यसमाज सिलीगुड़ी का कोई लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं है। मेरा सम्बन्ध आर्यसमाज सिलीगुड़ी से मात्र पन्द्रह वर्षों का है। दस वर्षों से लगातार मन्त्री पद पर हूं। इधर दस वर्षों का लिखित इतिहास उपलब्ध नहीं था। 1977 में प्रथम बार प्रकाशित स्मारिका में थोड़ी सी सामग्री मिली। में आश्वस्त हुआ। आगे श्री रतीराम शर्मा ने काफी सहायता दी। आर्यसमाज सिलीगुड़ी के वर्तमान प्रधान श्री रतीराम शर्मा स्थापना दिवस से ही जुड़े हैं। बीज को स्थापित करने में दोनों की हिस्सेदारी समान-भाव से है। दोनों एक ही गाँव के निवासी आपस में भाईचारे का सम्बन्ध और अटूट पारिवारिक रिश्ता परम्परागत ढंग से चल रहा है।

प्रथम स्व० जवाहरलाल आर्य सिलीगुड़ी आये थे। लेकिन वे अपने को अकेला महसूस करते थे। बाद में श्री रतीराम शर्मा के आ जाने पर स्व० प्रधान जी की बांहें खिल उठीं। मन में पल रही परिकल्पना को मूर्त रूप देने के लिए बेचैन हो उठे। अपनी पूजापद्धति के मूलभूत सिद्धान्त को जनमानस में स्थापित करने के लिए प्रतिवद्ध हो गये। अपनी असली पहचान की स्थापना केलिए दिनांक 14-3-65 को प्रथम साप्ताहिक सत्संग का आयोजन किया। भाड़े का एक कमरा (नया बाजार में) लेकर उसे विधिवत् आर्यसमाज मन्दिर का रूप दिया। सार्वदेशिक आर्यप्रतिनिधि सभा के नियम-उपनियमानुसार एक अन्तरंग सभा का गठन हो, इसकी प्रक्रिया पूरी करने के लिए समर्पित भावना से क्रियाशील हो गये। आर्यसमाज क्या है, क्या चाहता है, क्या अपेक्षाएं हैं इस तरह की वस्तुनिष्ठ, सापेक्ष व हेतुपरक परिचर्चाएं प्रत्येक के सामने निरपेक्ष भाव से रखने लगे। श्री रतीराम शर्मा के सहयोग से यह अकेला जीवन व्यक्ति आर्यसमाज की अस्मिता, जनमानस के ग्रहीतव्य के क्रम में अपने को पूर्ण रूपेण लगा दिया। नियमतः साप्ताहिक सत्संग का संचालन करते हुए समय समय पर बाहर से विद्वानों को बुला कर प्रचार कार्य को द्रुत गति से आगे बढ़ाया। दिनांक 13-6-65 को श्री तोलाराम गीदड़ा की अध्यक्षता में एक सादे समारोह का आयोजन कर नियमित रूप से आर्यसमाज

ऋतस्य पन्थां न तरन्ति दुष्कृतः (ऋ. 9।73।6)
सत्य के मार्ग को दुष्कर्मी पार नहीं कर पाते।

की स्थापना दिवस के 5 दिन पूर्व से श्री मुरारीलाल शास्त्री (हिसार) के पौरोहित्य में यज्ञ एवं वेद कथा का आयोजन कराया, साथ ही एक अन्तरंग सभा का भी गठन हुआ। जिस में निम्नलिखित व्यक्ति अधिकारी एवं सदस्य निर्वाचित हुए। प्रधान श्री जगन्नाथ भिण्डा, उप-प्रधान श्री आनन्द पाल जी, मन्त्री श्री देवप्रिय शर्मा, प्रचार मन्त्री श्री राम किशन गोपाल, कोषाध्यक्ष श्री जवाहरलाल आर्य, लेखा-परीक्षक श्री मामन चन्द गुप्ता, पुस्तकाध्यक्ष श्री राजकुमार शर्मा, संयुक्त मन्त्री श्री रतीराम शर्मा। प्रतिष्ठित सदस्यों में श्री तोलाराम गीदड़ा, श्री गजानन्द भिण्डा, श्री कृष्ण प्रधान, एवं श्री रंजीत राय भिण्डा लिए गये। उपर्युक्त मान्य सदस्यों के सहयोग से आर्यसमाज का संचालन दृढ़ता और तत्परता से स्व० प्रधान जी ने किया था।

उस समय का जनमानस पूर्वाग्रह से ग्रसित और आर्यसमाजियों के प्रति शंकालु थी। वैसी संवेदनशील स्थिति में संस्थापक स्व० जवाहरलाल आर्य ने अपनी चुस्ती और मुस्तैदी से आर्यसमाज को गति प्रदान की थी। स्वच्छ और स्वस्थ छवि प्रदान करने में रचनात्मक और असरदार योगदान दिया था। सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा और प्रांत प्रतिनिधि सभा से सम्बंध स्थापित कर आर्यसमाज के हर छोटे-बड़े कार्यक्रमों को सार्वजनिक परिप्रेक्ष्य में सफलतापूर्वक प्रस्तुत किया था। सामाजिक और धार्मिक परंपरागत कुरीतियों का शालीनता से विरोध किया फलतः लोगों में आर्यसमाज के प्रति नयी उत्कंठा और उत्सुकता पनपी।

6 एवं 8 सितम्बर 1973 को आर्यसमाज का प्रथम वार्षिकोत्सव सम्पन्न हुआ। जिस में श्री रामानंद शास्त्री (पटना) श्री शिवाकान्त उपाध्याय (कलकत्ता) एवं श्री प्रियदर्शन जी सिद्धांत-भूषण (कलकता) एवं कुंवर महीपाल सिह ने आकर अंकुरित पौधे को सिंचित किया था। इसी वर्ष खालपाड़ा में श्रद्धानन्द दातव्य औषधालय का उद्घाटन स्वामी ध्रुवानन्द सरस्वती (साहुडांगी) के कर कमलों द्वारा हुआ। मार्च 15, 16, एवं 16, 1975 को द्वितीय वार्षिकोत्सव सम्पन्न हुआ। उक्त अवसर पर आर्य जगत् के प्रसिद्ध विद्वान् सांसद श्री प्रकाशवीर शास्त्री (दिल्ली) श्री राम स्वरूप शर्मा (एटा) एवं श्री इन्द्रमोहन सिंह (उ०प्र०) ने आकर यहां के जनता को एक नई दिशा का बोध कराया था। जिससे स्थानीय जनता की मानसिकता पूर्वाग्रह की कुण्ठाओं से मुक्त प्रतीत हुई थी। लिहाजा समाज के कार्य कलापों के प्रति जनता की रूझान जगने लगी। सन 1976 में श्री रंजीत सिंह पहलवान की सहायता से गुरुंग बस्ती में समाजमंदिर के लिए जमीन लेकर चारदीवारी और एक कमरे का निर्माण कराया गया। उक्त कमरे में दिनांक 21-12-76 को स्वामी श्रद्धानन्द बलिदान दिवस पर एक और औषधालय का उद्घाटन तत्कालीन फौर सभाध्यक्ष श्री आलू चौधरी से कराया गया। साथ ही मुख्य मंदिर यज्ञशाला, अतिथि कक्ष, पाकशाला, स्नान-गृह, शौचालय और अन्य कमरों का निर्माण भी आरम्भ हुआ। उपर्युक्त योजनाओं की पूर्णता का दायित्व प्रधान जी ने स्वयं अपने जिम्मे लिया था। इस मुहिम को बड़ी संजीदगी से कम ही समय में पूरा किया था प्रधान जी ने। निर्माण कार्य के पूर्णता के पश्चात् मन्दिर परिसर में ही एक समारोह का आयोजन किया गया। प्रधान जी की प्रेरणा से श्री गजानंद आर्य (कलकत्ता) एवं प्रो० उमाकान्त उपाध्याय को सादर आमंत्रित किया गया था। प्रधान जी के द्वारा ही उन आगन्तुक सज्जनों का सम्मान हुआ। उस के पश्चात् आर्यसमाज के अनुरूप नए-नए सामाजिक और धार्मिक कार्यक्रमों का दौर चल पड़ा था। पर्वतीय क्षेत्रों एवं डुआर्स में नये समाजों की स्थापना, बनवासियों और हरिजनों के बीच स्नेह सत्संग तथा सहभोज के अलावा और अनेक सुधारात्मक कार्यों के क्रियान्वित में अपने को

ऋतस्य शृङ्गमुर्विया वि पप्रथे (ऋ. 8।86।5)
ऋत के सींग संपूर्ण पृथ्वी पर फैले हुए हैं।

आहूत कर दिया था। 1983 के अजमेर शताब्दी समारोह में 55 व्यक्तियों की टोली जवाहरलाल जी के नेतृत्व में ही गयी थी। समारोह के पश्चात् भारत के और अनेक एतिहासिक एवं धार्मिक स्थलों का भ्रमण कर टोली सकुशल वापस लौट आयी। 1984 के वार्षिकोत्सव पर श्री जवाहरलाल आर्य की अध्यक्षता में माउन्ट ऐवरेस्ट विजेता श्री पेनजिंग नार्गे का सम्मान आर्यसमाज सिलीगुड़ी के मंच पर हुआ था। सम्मान प्रो० शेरसिंह भूतपूर्व राज्य रक्षामन्त्री भारत सरकार ने किया था स्वयं के तिरोहित होने की अवधि तक आर्य समाज का बहुआयामी कार्यक्रम स्तर पर क्रियान्वित कराया। हर वार्षिक सम्मेलन वेदसप्ताह धार्मिक अनुष्ठान, प्रचार व प्रसार और सामाजिक कार्यो को सूक्ष्मता और बारीकी से सम्पन्न कराते रहे। 1978 से 1985 तक की अवधि में सर्वाधिक काल तक श्री जवाहरलाल आर्य ने ही प्रधान पद को सुशोभित किया। आर्यसमाज के संदर्भ में अगर इतिहास लिखने बैठूं तो प्रधान जी का इतिहास सही माने में एक लम्बा और विस्तृत इतिहास होगा। ऐसा नहीं कर संक्षेप में प्रासंगिक विषय वस्तु रखी गई है। आर्यसमाज सिलीगुड़ी के इन बीस वर्षों का इतिहास निर्माणकाल का ही रहा है। इस निर्माण काल में ही शिल्पी का अपहरण हो गया है। आर्य समाज सिलीगुड़ी के इस संक्षिप्त परिचय के आकलन से आपको ज्ञात होगा कि प्रधान जी ने अपनी अभिव्यक्ति को पूर्णरूपेण परिभाषित भी नहीं कर पाये थे कि उन्होंने जीवन के अनिवार्य सत्य को अंगीकार कर लिया। अब इस अविकसित पौधे को पल्लवित और पुष्पित करना ही उनके प्रति सच्ची श्रद्धांजलि होगी। उतना निर्विवाद है कि उन्होंने जो हमारी आकांक्षाओं को स्वर दिया है वह भविष्य में आवश्यक उपलब्धि प्राप्त करेगा। अन्यथा हमारा चरित्र एक मिथक बन कर रह जाएगा।

श्री जवाहरलाल आर्य : आर्यसमाज के पदाधिकारी के रूप में

(सिलीगुड़ी आर्यसमाज की स्थापना: सन् 1965 में)

1. सन् 1965—1976 : कोषाध्यक्ष
2. ,, 1976—1977 : उपप्रधान
3. ,, 1977—1978 : प्रधान
4. ,, 1978—1979 : प्रधान
5. ,, 1979—1980 : प्रधान
6. ,, 1980—1981 : प्रधान
7. ,, 1981—1982 : संरक्षक
8. ,, 1982—1983 : संरक्षक
9. ,, 1983—1984 : प्रधान
10. ,, 1984—1985 : प्रधान
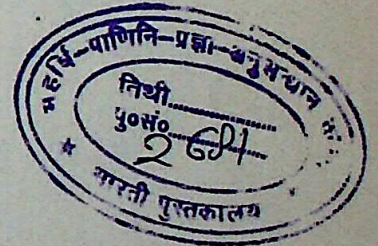
अमेध्यो वै पुरुषो यदनृतं वदति (शत० ब्रा० 2।1।2।10)
अपवित्र है वह मनुष्य जो असत्य भाषण करता है।

श्रीं जवाहरलाल श्रार्य का कार्यक्षेत्र केवल दिल्ली तक ही सीमित नहीं था । उन्होने सिलीगुड़ी के अतिरिक्त दार्जिलिंग जिला तथा नेपाल में भी श्रार्यसमाज की दृष्टि में सक्रिय कार्य किया । इस दृष्टि में उनका नाम आर्य समाज के इतिहास में अमर रहेगा । वे देश भर में जहाँ भी श्रार्यसमाज का सम्मेलन सम्पन्न हुआ, वहाँ पहुच गये, इस प्रकार वे महर्षि के प्रति श्रद्धांजलि तथा श्रार्यसमाज के प्रति श्रास्था व्यक्त करते थे । उन्होंने निम्नलिखित श्रार्यसमाज के महान् उत्सवों में भाग लिया ।

(1) महर्षि दीक्षा शताब्दी (मथुरा) 1960

(2) श्रार्यसमाज स्थापना शताब्दी (दिल्ली) 1975

(3) महर्षि दयानन्द निर्वाण शताब्दी (अजमेर) 1983 तथा

(4) आर्य महासम्मेलन (कलकत्ता)

वस्तुतः श्री जवाहरलाल जी का श्रार्यसमाज के क्षेत्र में योगदान श्रविस्मरणीय है। श्राइये, हम भी उनसे प्रेरणा प्राप्त कर श्रार्यसमाज के क्षेत्र में सक्रिय होकर उनके प्रति अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करें।
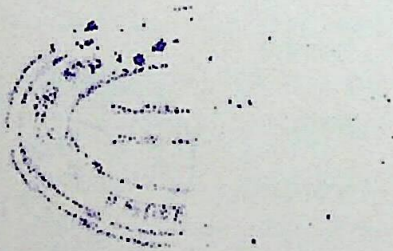
सत्यं तातान सूर्यः (ऋ 1।105।12)
सूर्य सत्य को ही विस्तृत करता है ।
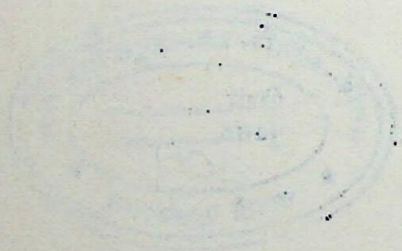
आर्यसमाज सिलीगुड़ी के वार्षिकोत्सव पर मंच पर आसीन श्री० आर्य जी
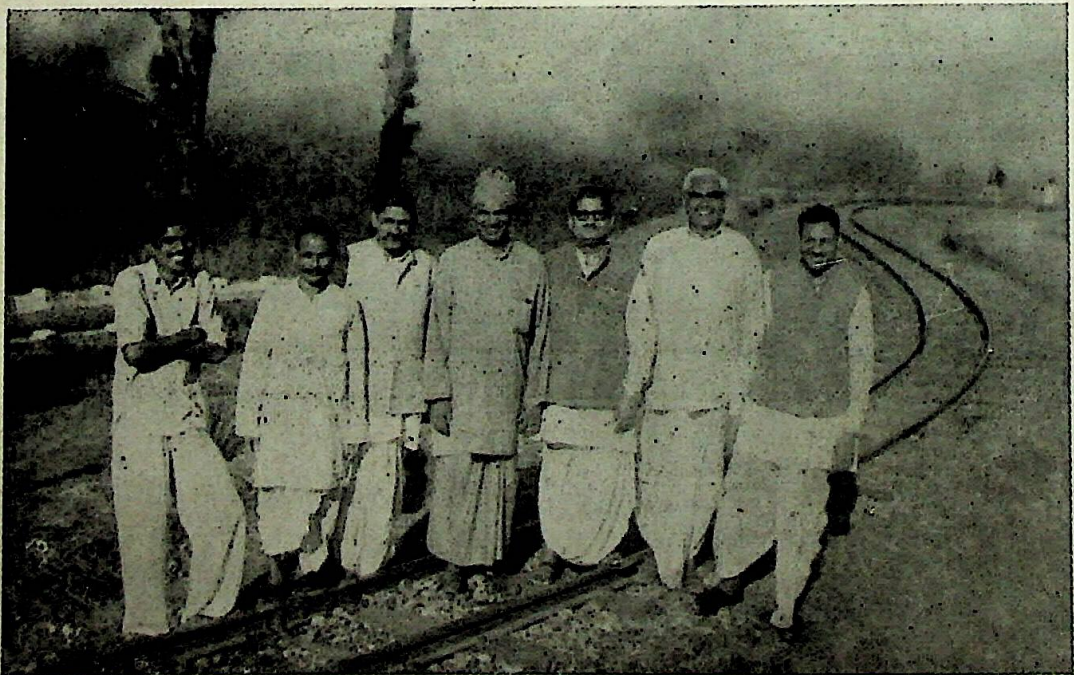
पहाड़ों और चायवागानों में आर्यसमाज के प्रचार के लिए बढ़ते कदम